गुरुकुल–पत्रिका

1995-97

गुरुकुल-पत्रिका

शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

1995 - 97

सम्पादक :
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल पत्रिका

शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य एम. ए, पी-एच.डी.
प्रोफेसर—वेद विभाग
एवं
निदेशक- श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन केन्द्र

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

पौष, माघ, फाल्गुन	वर्ष-४७	संयुक्तांक दिस० १९९५ जन० फर० १९९६

मूल्य— २५ रुपये मात्र

सम्पादक मण्डल :

प्रकाशक : डॉ० जयदेव वेदालंकार
कुलसचिव
गु० कां० वि०वि०, हरिद्वार

मूल्य : २५ रुपये (वार्षिक)

मुद्रक:– किरण प्रिंटिंग प्रैस, कनखल हरिद्वार ☎ : 425975

वैदिक वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार

राष्ट्रीय विद्वद्-गोष्ठी

(अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ (देहली) के आर्थिक सौजन्य से)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति **डॉ. धर्मपाल जी** की प्रेरणा से अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ के अध्यक्ष **प्रो० शेर सिंह** ने उक्त संगोष्ठी के आयोजन हेतु विश्वविद्यालय को पन्द्रह हजार रुपये की राशि सहृदय भाव से प्रदान की। वेदपीठ के अधिकारी गोष्ठी में निरन्तर उपस्थित रहे। इस गोष्ठी में विश्वविद्यालय के कुलाधिपति **प० सूर्यदेव जी** तथा परिद्रष्टा जस्टिस **महावीर सिंह जी** की उपस्थिति से संगोष्ठी और भी निखर उठी। भारतवर्ष के लगभग 12 विश्वविद्यालयों से विद्वान अतिथियों ने संगोष्ठी को सफल करने में स्मरणीय योगदान दिया। उस समय जिन विद्वानों के लेख लिपिबद्ध रूप में प्राप्त हुए उसको प्रस्तुत पत्रिका में प्रकाशित किया जा रहा है, उक्त संगोष्ठी के संयोजक प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री थे।

समस्त दानी महानुभावों व विद्वानों तथा महापुरुषों के प्रति हम आभार प्रकट करते हैं।

सम्पादक :—

प्रो० भारत भूषण विद्यालंकार

विषय सूची :-

श्रुति सुधा

अयमग्निगृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ॥ यजु. ३८.३ ॥

ऋषि–आसुरिः देवता–अग्निः छन्द–भूरिग्बृहती

हे (गृहपते) घरों के पालन करने वाले (अग्ने) परमेश्वर ! जो (अयम्) यह (गृहपतिः) स्थान विशेषों के पालन हेतु (गार्हपत्यः) घर के पालन करने वालों के साथ संयुक्त (प्रजाया वसुवित्तमः) प्रजा के लिए सब प्रकार धन प्राप्त कराने वाले (अग्निः) प्रकाश स्वरुप हैं, सो आप (द्युम्नम्) सुख और प्रकाश से युक्त धन को (अभ्यायच्छस्व) अच्छी प्रकार दीजिये, तथा (सहः) उत्तम बल पराक्रम (अभि) अच्छी प्रकार दीजिये ।

(महर्षि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य)

सम्पादकीय

अग्ने मेधाविनं कुरु

गुरुकुल पत्रिका का वर्तमान अंक पाठकों के सम्मुख प्रमुख करते हुए प्रसन्नता हो रही है। किसी भी पत्रिका का अपना विशेष स्वरुप होता है। भारतीय सभ्यता-संस्कृति व प्राच्य विद्याओं से सम्बन्धित अध्ययनों को प्रोत्साहित करना व उनके सम्बन्ध में विचारणीय विषयों को प्रस्तुत करना पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है परन्तु इसका तात्पर्य वैज्ञानिक भव्य अध्ययनों की उपेक्षा नहीं है। समाज के सम्मुख उपस्थित समस्याओं व उनके समाधान से विमुख होना कायरता है। इसके लिए तो एक ही संकल्प लेना होगा "अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैयं न पलायनम्"।

वर्तमान में सर्वत्र मनु एवं वर्ण व्यवस्था समाज को बहुत अधिक विचलित कर रही है। उस पर विभिन्न विद्वानों को अपने भाव अभिव्यक्त करने के लिए गोष्ठी के रुप में आमन्त्रित किया गया और उनके विचारों को, सामान्य जन तक पहुंचाने का प्रयास, पत्रिका के रुप में उपलब्ध है। विभिन्न विद्वानों ने वर्ण के साथ जाति पर भी विचार किया है। प्राय: ही विद्वानों ने वैदिक वर्ण व्यवस्था को जन्मगत व्यवस्था से पृथक् माना है और उसे जाति के रुप में प्रतिपादित किया है। अनेकों वक्ताओं ने जो प्रमाण प्रस्तुत किये वे बार-बार उल्लेखित होते रहे, प्रकाशन के समय पुनरुक्ति दोष से बचने तथा कलेवर की सीमा को देखते हुए बहुत कुछ कांट—छांट भी करनी पड़ी है। कुछ लेखों को स्थान नहीं भी दिया जा सका।

गत अंक में भी दर्शन की समस्याओं उनके समाधान तथा दार्शनिक विषयों को उठाया गया था परन्तु कलेवर की दृष्टि से उनके संक्षप्ति रुप ही दिये जा सके थे। पाठकों एवं शोध-कर्त्ताओं को एक विषय पर सम्पूर्ण सामग्री एकत्र मिल सके ताकि शोध की दृष्टि से पत्रिका संग्रहणीय बन सके।

वर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित इस गोष्ठी को संयोजित किया श्री वेदप्रकाश शास्त्री, डीन प्राच्य विद्यासंकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, ने श्री शास्त्री जी एवं उनके सभी सहयोगियों तथा लेखकों व उन मनीषियों के, जिनको स्थान-स्थान पर उद्धृत किया गया है, आभारी हैं।

सम्पादक :
भारतभूषण विद्यालंकार

वर्णव्यवस्था का वैदिक स्वरूप

—डा० रामनाथ वेदालंकार

भारतीय संस्कृति में समाज को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शुद्र इन चार वर्णों में तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों में विभाजित किया गया है। इसका मूल वैदिक सहिताएं ही है। परवर्ती ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् सूत्रग्रन्थ, व्याकरण शास्त्र, स्मृतिग्रन्थ रामायण महाभारत महाकाव्य रुपक गद्यकाव्य, पुराण आदि समग्र संस्कृत साहित्य में यह वर्णाश्रम व्यवस्था माला में सूत्र के समान अनुस्यूत है। यहां हम केवल वैदिक वर्णव्यवस्था पर विचार करेंगे।

वेदों में चारों वर्णों के नाम

ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त तथा यजुर्वेदीय पुरुषमेधाध्याय का निम्नलिखित मन्त्र बहुचर्चित है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
ऋ० १०,९०,१२, वा० य० ३१, ११

निरवयव परम पुरुष परमेश्वर की उपासना के समय उसके अंगों की कल्पना के प्रसंग में पठित यह मन्त्र समाज के ब्राह्मणादि चारों वर्णो के कर्तव्यों पर भी उत्तम प्रकाश डालता हैं। अथर्ववेद में यह मन्त्र (बाहू राजन्योऽभवत्। मध्यं तदस्य यद् वैश्यः अ० १९.६.६), इस पाठभेद के साथ आया है। भाव यह है कि समाज में ब्राह्मण मुख है, राजन्य अर्थात् क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य ऊरु या देह का मध्यभाग है शूद्र पैर हैं। मुख का कार्य भाषण करना होता है, ऐसे ही समाज में ब्राह्मण भी भाषण करता है अर्थात् अध्यापन करता या उपदेश देता है। मुख चेहरे को भी कहते हैं। चेहरे में ही ज्ञान की साधनभूत सब ज्ञानेन्द्रिया संनिविष्ट हैं। जैसे चेहरा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान का साधन होता है, वैसे ही ब्राह्मण भी अध्यापन द्वारा शिष्यों को ज्ञान प्रदान करता है। जैसे बाहुएं रक्षा करती हैं, वैसे ही क्षत्रिय भी रक्षा करता है।

वैश्य ऊरु या देह का मध्यभाग इस हेतु से हैं कि जैसे ऊरु स्तम्भ बनकर देह को धारण करते हैं, ऐसे ही आर्थिक दृष्टि से वैश्य सबको धारण करता है, अथवा जैसे शरीर का मध्यभाग अर्थात् उदर भोजन को संचित करके पोषक तत्त्व को सारे शरीर में पहुंचा देता है, वैसे ही वैश्य अर्थ संचित करके उसे शेष तीनों वर्णों में पहुंचाता है। शूद्र पैर स्थानीय इस कारण है कि पैर जैसे सारे देह की सेवा करता है, वैसे ही शूद्र शेष सब वर्णो का सेवक होता है।

वेदों में तीन मन्त्र और हैं, जिनमें समाज के इन चारों वर्णो का एक साथ उल्लेख हुआ है—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥य० १८.४८

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रिय राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ अ० १९.६२.१

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां
शूद्राय चार्याय च। अ० १९. ३२ ८

आर्य और दास वर्ण

वेदों में ब्राह्मणादि वर्णो के साथ स्पष्टः वर्ण शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्वेद में दो वर्णो का उल्लेख मिलता है— एक आर्य वर्ण और दूसरा दास या दस्यु वर्ण। आर्य वर्ण में द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आते है। अथर्ववेद में **'यश्च शूद्र उतार्यः' 'उत शूद्रमुतार्यम्'** (अ० ४. २०. ४, ८) कह कर शूद्र को आर्य से पृथक् माना गया है। वस्तुतः वर्ण तीन ही हैं, जिनका वरण किया जाता है। शूद्र को तत्सहचारी होने से लाक्षणिक रुप से वर्ण मान लिया गया। दास या दस्यु वर्ण के वे लोग होते हैं, जो ब्राह्मणत्व आदि किसी भी मर्यादा का पालन न करते हुए समाज में हिंसा–उपद्रव

मचाते हैं (दसु उपक्षये)। राजा को चाहिए कि दस्युओं का विनाश करके आर्य वर्ण की रक्षा करे– **हत्वी दस्यून् आर्य वर्णमावत्** (ऋ० ३. ३४. ६)। वह दास वर्ण को कैद करके निचली गुफा या तहखाने में डाल दे– **यो दासं वर्णमधरं गुहाकः** (ऋ. २. १२. ४)। दास का सिर शस्त्र से चकनाचूर कर दे– **शिरो दासस्य सं पिणक् वधेन** (ऋ० ४. १८. ६)। **शिरो दासस्य नमुचेर्मदायन्** (ऋ० ५. ३०. ८) प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या शूद्र की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य नहीं है, जो केवल आर्य वर्ण की रक्षा के लिए कहा गया है। इसका उत्तर यह है कि शूद्र क्योंकि आर्यों का सेवक है, अतः आर्यों का नाम लेने से उसका स्वतः ग्रहण हो जाता है।

कतिपय विद्वानों की यह स्थापना है कि दस्यु तो हिंसक उपद्रवी मनुष्य का वाचक है, किन्तु दास से शूद्र अभिप्रेत है। परन्तु यदि दास शूद्र है तो शूद्र ने क्या बिगाड़ा है कि उसे नष्ट करने का विधान किया जाये ! वेद तो यह कहता है कि शूद्र के प्रति यदि हमसे कोई अपराध हो जाता है, तो उसका प्रायश्चित करें– **यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं तस्यावयजनमसि** (य० २०. १७)। इसके अतिरिक्त निम्न मन्त्र में दास और दस्यु दोनों को एक माना गया है, उनकी परिभाषा भी दी गयी है तथा उनके प्रति क्या व्यवहार होना चाहिए, यह भी बताया गया है।

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय ॥ ऋ० १०. २२. ८

दस्यु या दास वह है जो निकम्मा है, नास्तिक है, विपरीत कर्म हिंसा आदि करने वाला है, मनुष्यों की श्रेणी में आने योग्य नहीं है। अमित्रहन्ता राजा का कर्त्तव्य है कि उसके शस्त्र को या उससे होने वाले वध को विनष्ट कर दें।

ब्राह्मण के कर्म

वेदों में ब्राह्मण अर्थ को द्योतित करने के लिए ब्रह्मन् ब्राह्मण, ग्रावन्, देव, कण्व विपश्चित्, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति वाचस्पति आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ब्राह्मण शब्द वेद में एक आद्युदात्त उपलब्ध होता है, जो नपुंसक लिंग में है तथा ब्रह्मज्ञान का वाचक है दूसरा अन्तोदात्त मिलता है जो ब्रह्मज्ञानी या ब्राह्मण मनुष्य अर्थ को देता है।

ब्राह्मण के प्रमुख वेदोक्त कर्त्तव्य हैं— अध्यापन करना, उपदेश देना, राजा को परामर्श देना, चिकित्सा करना, पौरोहित्य करना और दान लेना। अथर्व ५.२४ में पुरोधा, प्रतिष्ठा, चित्ति, आकूति, आशी: और देवहूति ब्रह्मकर्म कहे गये हैं। यहां 'पुरोधा, से पौरोहित्य, 'प्रतिष्ठा' राष्ट्र का यश, 'चित्ति' से ज्ञान देना, 'आकूति' से मनोबल उत्पन्न करना 'आशी:' से आशीर्वाद देना और 'देवहूति' से स्वयं यज्ञ करना अभिप्रेत है।

ब्राह्मण का प्रथम कर्म - अध्यापन

शिक्षक ब्राह्मण को कैसा विद्वान् और शिक्षापटु होना चाहिए इस विषय में वेद का कथन है—

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसाऽनुशासति।
य एवेदमिति ब्रवत्॥ ऋ० ६.५४.१

प्रजा पूषा अर्थात् पुष्टिप्रद राजा से कह रही है कि आप हमें ऐसा विद्वान गुरु प्राप्त कराइये जो जटिल से जटिल विषय को भी जल्दी और इस प्रकार पढ़ाये कि पाठ्य विषय हस्तामलकवत् स्पष्ट होता चले।

अध्यापन के विषय में अथर्ववेद प्रथम काण्ड का प्रथम सूक्त विशेष रुप से अवलोकनीय है, जिसमें आचार्य को वाचस्पति और वसोष्पति नामों से स्मरण किया गया है। वाचस्पति से यह सूचित होता है कि शिक्षक का वाणी पर अधिकार होना चाहिए और 'वसोष्पति' उसके विद्याधन के स्वामित्व को व्यक्त करता है।

ये त्रिषप्ता: परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत:।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥१॥

जो सत्व, रजस्, तमस् इन तीन में समवेत (त्रिषु सप्तत: षप समवाये) महत्, अहंकार, पंचतन्मात्र आदि तत्व विविध प्राणी सूर्य, चन्द्र, तारागण वृक्ष वनस्पति आदि विभिन्न रुपों को धारण किये हुए चारों ओर विद्यमान है, उनके स्वरुप को वाचस्पति ब्राह्मण आचार्य हमें हृदयंगम कराये।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥

हे वाचस्पति आचार्य, आप दिव्य मन के साथ पुनः पुनः हमारे मध्य आइये । हे विद्याधन के अधिपति, आप हमें ऐसी रमण-पद्धति से पढ़ाइये कि श्रवण किया हुआ शास्त्र सदा हमारे अन्दर बना रहे ।

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

जैसे प्रत्यञ्चा से दोनों धनुष्कोटियों को तान देते हैं ऐसे ही वाचस्पति ब्राह्मण विद्या के दोनों सिरों (आरम्भ और अन्त) को हमारे अन्दर तान दे, जिससे सुना हुआ शास्त्रोंपदेश कभी विस्मृत न हो ।

इस सूक्त से आचार्य के गुण, अध्यापन पद्धति गुरुशिष्य के पारस्परिक संबन्ध आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

ब्राह्मण गुरु का कार्य विद्या पढ़ाने तक ही सीमित नहीं है अपितु शिष्य के मन्, वाणी आदि में कोई दोष है, तो उन्हें भी वह दूर करता है—

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः संदधातु बृहस्पतिः ॥ अ० १९.४०.१

ब्रह्मचारी कह रहा है कि मेरे मन, वाणी आदि में यदि कोई छिद्र हैं, जिससे सरस्वती मुझसे क्रुद्ध हो गयी है, तो सब अन्य गुरुजनों के साथ मिल कर ब्राह्मण आचार्य उस छिद्र को भर देवे ।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में कहा है कि ब्राह्मण की दो गुह्य निधियां होती है, एक अपरा विद्या, दूसरी परा विद्या । ब्रह्मचारी ब्राह्मण गुरु से अध्ययन करके तप से उनकी रक्षा करता है—

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधीनिहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी ।। अ० ११५.१०

ब्राह्मण का द्वितीय कर्म–उपदेश देना

संन्यास लेने का अधिकार ब्राह्मण को ही है । ब्राह्मण संन्यासी, बनकर या संन्यास से पूर्व भी जनता को उपदेश करता है । वैदिक 'ग्रावा' शब्द का सामाजिक अर्थ उपदेशक विद्वान् ब्राह्मण होता है– 'गृणन्ति, उपदिशन्ति इति ग्रावाणः गुरवो विद्वांसः' । 'विद्वांसो हि ग्रावाणः', श० ब्रा० ३.६ ३.१४ । उन्हें सम्बोधन करके वेद कहता है—

ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत दुर्मतिम् ।
उस्राः कर्तन भेषजम् ।। ऋ० १०.१७५.२

हे उपदेशक ब्राह्मणों, तुम समाज से दुर्गति को और दुर्मति को दूर करो । हे दुराचार छुड़ाने वालो, तुम विकृत समाज की उपदेश द्वारा चिकित्सा करो । उत्सारयन्ति पापदुराचारादिकं ये ते उस्राः) ।

ब्राह्मण का तृतीय कर्म–राजा को परामर्श देना

क्षत्रिय राजा को परामर्श देना भी ब्राह्मण का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है । राजनीतिज्ञ विद्वान ब्राह्मणों को राजा अपनी सभा और समिति का सदस्य बनाना है और उनसे वर्चस्विता तथा विज्ञान ग्रहण करता है—

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ।
एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमाददे । अ० ७ १ २३

वेद कहता है—

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ।। अ० ५.१८.१

हे राजन् दिव्य प्रजाओं ने तुम्हें ब्राह्मण की वाणी रुप गाय दी है, वह खाने अर्थात् उपेक्षा करने के लिए नहीं दी । अतः उसकी उपेक्षा मत कर ।

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।

सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्धे उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ अ० ५.१८.५

जो राजा धनसंग्रह में ही लगा रहता हैं और नासमझी से ब्राह्मण को मृदु मान कर उसकी उपेक्षा करता है, उसके हृदय में आग भभक उठती है अर्थात् स्वयं वह पश्चाताप की आग में जलता है और दोनों लोक अर्थात् नर-नारी उससे द्वेष करने लगते हैं ।

तद् वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।

ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ अ० ५.१९.८

ब्राह्मण की वाणी का अनादर उस राष्ट्र को जर्जर कर देता है, जैसे फूटी नौका को नदी का पानी । ब्राह्मण की जहां हिंसा अर्थात् उपेक्षा होती है उस राष्ट्र को दुर्गति विनष्ट कर देती है ।

इससे विपरीत जहां ब्रह्म और क्षत्र परस्पर मिलकर चलते हैं, वह राष्ट्र भाग्यशाली होता है—

यत्र ब्रह्म च क्षात्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।

तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषम् ॥ य० २०. २५

ब्राह्मण का चतुर्थ कर्म–चिकित्सा

वेद के अनुसार ब्राह्मण का एक कार्य रोगियों की चिकित्सा करना भी है । ऋग्वेद के औषधीसूक्त में भिषक् का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।

विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः ॥ ऋ० १० ९७.६

अर्थात् वह ब्राह्मण भिषक् कहलाता है, जिसके पास जैसे राजा लोग अपनी अपनी स्थिति के अनुसार यथास्थान समिति में बैठते है ऐसे ही ओषधियां गुणधर्मानुसार व्यवस्थित रुप से रखी रहती हैं, और जो रोग कृमि रुप राक्षसों को नष्ट करने वाला तथा रोगों को समूल उन्मूलित करने वाला होता है ।

इसी सूक्त में ओषधियों का अपने राजा सोम के साथ आलंकारिक संवाद वर्णित है। वे राजा सोम को कहती है कि जिस रोगी पर ब्राह्मण वैद्य हमारा प्रयोग करता है उसे हम रोग से पार लगा देती हैं—

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥ मन्त्र २२

अथर्ववेद में अपामार्ग ओषधि को संबोधन करके कहा गया है कि हे ओषधि, तू मेधावी ब्राह्मण वैद्य के द्वारा प्रयुक्त होकर तेजस्विनी सेना के समान रोगी के पास पहुंचती है, जिससे उसका रोगभय समाप्त हो जाता है—

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ अ० ४.१९.२

परन्तु चिकित्सा एक मात्र ब्राह्मण का ही कर्तव्य नहीं है, उसे वैश्य भी कर सकता है । ऋग्वेद में एक वैश्य गृहपति अपने परिवार के कार्यों का परिचय देता हुआ कह रहा हैं कि मैं स्वयं शिल्पी हूं, मेरा पुत्र वैद्य है, मेरी माता भाड़ में अनाज भूनती है या चक्की चलाती है । हम धन कमाने के लिए भिन्न-भिन्न व्यवसाय करते है ।

कारूरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवः ॥ ऋ.११२.३

ब्राह्मण और वैश्य के द्वारा किये जाने वाले चिकित्सा कार्य में अन्तर यह है कि ब्राह्मण का संयुक्त आर्थिक दृष्टिकोण नहीं होता, परन्तु वैश्य धन कमाने के लिए चिकित्सा करता हैं ।

ब्राह्मण का पाँचवा कर्म— पौरोहित्य

देवों में अग्नि का एक आधि भौतिक अर्थ ब्राह्मण है। इसीलिए अग्नि को वेद में 'विप्र', 'द्विजन्मा' 'यज्ञस्य विद्वान्', 'पुरोहित' आदि कहा गया है। अग्नि नाम से ब्राह्मण के पौरोहित्य कर्म का वर्णन वेद में पर्याप्त मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही कहा है— "अग्नि का मैं सत्कार करता हूं, जो यज्ञ का पुरोहित है, 'देव' अर्थात् ब्राह्मण है, 'ऋत्विज् है' 'होता' है, दक्षिणा में रत्न ग्रहण करने वाला है"—

अग्निमीड़े पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋ० १.१.१

इसी अग्नि नाम से ब्राह्मण को कहा गया है— "हे ब्राह्मण, तू होता, पोता, नेष्टा, आनीत्, प्रशास्ता और ब्रह्म नामके ऋत्विजों का कर्म करता है, तू 'अध्वर' यज्ञ करनें की इच्छा रखता है।

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायत: ।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्द वरीयसि ब्रह्म चरसि मृहपतिश्च नो दमे ॥ ऋ० २.१.२

यज्ञकुशल सुयोग्य ब्राह्मण को पाकर यजमान कह रहा है— जिसे हम मन से चाहते थे वह आ गया है, जो यज्ञ का विद्वान् है, यज्ञ के प्रत्येक अंग को जानने वाला है— **यमैच्छाम मनसा सोऽयमागाद् यज्ञस्य विद्वान् पुरुषश्चिकित्वान्** ऋ० १०.५३.१ ।

इसी अग्निशब्दवाच्य ब्राह्मण के सम्बन्ध में अन्यत्र कहा है, ब्राह्मण यज्ञ का विद्वान् है, वह हमारे यज्ञ को सम्पन्न करे— **अग्निर्विद्वान् यज्ञ नः कल्पयाति** (ऋ० १०.५२.४)। ब्राह्मण यज्ञ को सिद्ध करने वाला है— **विप्रो यज्ञस्य साधनः** (ऋ० ३.२७.८)। इसी ब्राह्मण के संबन्ध में यजमान लोग कहते हैं— "हम हाथ जोड़ कर, नमस्कारपूर्वक आपको पूर्ण आदर देते हैं। यज्ञ में निपुण 'विप्र' आप त्रुटिरहित विधियों एवं वेदमन्त्रों से मनोयोगपूर्वक हमारा यज्ञ कराइये—

वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य ।
यजिष्ठो मनसा यस्ति देवानस्त्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने ।। ऋ० ३.१४.५

ऋग्वेद में कहा है कि जागरुक ऋत्विज लोग अनेक प्रकार से विधिविधान एवं मन्त्रपाठ करते हुए जो यज्ञ का संचालन करते हैं, उसमें यजमान की विशेष प्रज्ञा नहीं होती, अपितु जो अनूचान ब्राह्मण ऋत्विज् नियुक्त होता है, उसी की होती है—

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति ।
यो अनूचानो ब्राह्मणों युक्त आसीत् का स्वित् तत्र यजमानस्य संवित् ।।ऋ ८.५८ १

ब्राह्मण का षष्ठ कर्म–दान लेना

दान लेना केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है, किसी अन्य वर्ण का नहीं । अथर्ववेद में ब्राह्मणों को बैल, गाय, चांदी, सोना आदि देने का सुफल बताया गया है । ब्राह्मणों को दुधारु गाय का दान करने से दाता सब लोकों को अर्थात् सब उच्च स्थितियों को पा लेता है । गाय में सत्य, ज्ञान और तप अर्पित होता है अतः गाय के दान से दाता को इनकी प्राप्ति हो जाती है—

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वाल्लोकान्त्समश्नुते ।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ।। अ० १०.१०.३३

कोई गृहपति कह रहा है कि मेरे पास ज्योति और अमृत रूप हिरण्य है खेत का पका हुआ अन्न है, यह मेरी कामधेनु है । यह धन मैं ब्राह्मणों को दान दे रहा हुं । इससे पितृजनों के लिए स्वर्ग अर्थात् सुख का मार्ग सिद्ध होगा—

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ।। अ० ११.१.२८

द्वितीय वर्ण क्षत्रिय

क्षत्रियों के संबन्ध में वेद में क्षत्र एवं क्षत्रिय शब्दो के अतिरिक्त राजन्, राजन्य, इन्द्र, मरुतः आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । क्षत्र शब्द उणादिकार ने क्षद् धातु से

त्र प्रत्यय करके सिद्ध किया है (उ० ४/१६८)। उणादि की दयानन्दवृति के अनुसार 'क्षदति रक्षतीति क्षत्रम्'। कालिदास ने क्षत पूर्वक त्रैङ् पालने से क्षत्र की सिद्धि मानी है– क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः (रघुवंश २/५३)। 'क्षत्रिय' शब्द पाणिनि के मत में क्षत्र शब्द से अपत्य अर्थ में घ प्रत्यय करके निष्पन्न होता है (पा० ४.१.१३८)। पाणिनि राजन्य, क्षत्रिय राजा की क्षत्रिय सन्तान को मानते हैं (पा० ४.१.१३७)। 'इन्द्र' का आधि भौतिक अर्थप्रसंगानुसार क्षत्रिय राजा या सेनाध्यक्ष होता है। 'मरुतः' क्षत्रिय योद्धाओं के लिए आता है, जो मरने मारने को तैयार रहते हैं (मृङ् प्राणत्यागे)। क्षत्रियों को वेद में कई वर्गों में बांटा गया है— १. क्षत्रिय राजा २. सेनाध्यक्ष, ३. सैनिक योद्धा ४. क्षत्रिय राजकर्मचारी।

१. क्षत्रिय राजा

वैदिक विधान एवं परम्परा के अनुसार राजा क्षत्रिय ही होता है— **इममिन्द्र वर्धय क्षत्रिय म इम विशामेकवृषं कृणु त्वम्** (अ० ४.२२.१)। वह प्रजाओं में से चुना जाता है– **त्वाँ विशो वृणतां राज्याय** (अ. ३.४.२)। राज्य का संचालन त्रुटिपूर्ण होने पर वह पदच्युत किया जा सकता है। पुरोहित निर्वाचित राजा का अभिषेक करता हुआ कह रहा है—

आत्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत्॥ अ. १०.१७३.१

"मैं तुझे प्रजा के बीच से चुनकर लाया हूं, तू राजा बनकर भी प्रजा के मध्य में रह। स्थिर होकर बैठ, विचलित न हो। सब प्रजाएं तुझे चाहती रहें। ऐसा अवसर न आये कि राष्ट्र तुझसे छीना जाये।"

आत्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशांपतिरेकराट् त्वं विराज।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु पसद्यो नमस्यो भवेह॥ अ० ३.४.१

तुझे राष्ट्र प्राप्त हुआ है, तू अपने प्रताप के साथ उदित हो। प्रगति कर, प्रजाओं का पति एवं एकच्छत्र राजा के रूप में शोभित हो। हे राजन्, सब प्रदिशाएं तुझे अपने बीच बुलायें। तू उनके समीप पहुंचने वाला होकर उनका नमस्करणीय बना रह।

राजा के कार्य

राजा के प्रमुखतः द्विविध कार्य हैं— १. राज्य की पुष्टि २. शत्रुओं को वश में करना— **यः सग्रामान्नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि** (अ० ४.२४.७)। राज्य की पुष्टि में शिक्षा के सुप्रबन्ध द्वारा ज्ञान विज्ञान की उन्नति करना, चिकित्सा की सुव्यवस्था करना, विभिन्न आविष्कारो द्वारा कृषि कल-कारखानों, यातायात आदि को उन्नत करना, प्रजा पर यथोचित कर लगाकर लोकोपयोगी कार्य करना आदि आते हैं, जिनका वेदों में वर्णन मिलता है। यदि राष्ट्र के अन्दर तस्कर, डाकू, लुटेरे, रिश्वतखोर, आंतकवादी आदि उत्पन्न हो गये हैं, तो उनका यथोचित दण्ड आदि द्वारा सुधार करना राजा का कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त यदि राष्ट्र के कोई बाह्य शत्रु उत्पन्न हो गये हैं तो उन्हें साम, दान, भेद द्वारा शान्ति की राह पर लाना और शान्ति के मार्ग पर नहीं आते, तो उनसे युद्ध करके उन्हें पराजित या नष्ट करना भी राजा के वेदोक्त कर्तव्यों में आता हैं। वेदों में अनेक मन्त्र ऐसे आते हैं, जिनमें शान्ति एवं सौहार्द की कामना की गयी है। परन्तु जिसने अशान्ति एवं आतंक के पथ पर चलने का प्रण ही ठाना हुआ है, उसके लिए राजा को उद्बोधन देते हुए वेद का कथन है—

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामाभरा भोजनानि ॥
सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽववाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ अ० ४ ३२ ६ ७

हे राजन्, तू उन्नत हो, आक्रान्ता और जो तेरे मुकाबले के शत्रु हैं, वे नीचे हों जाएं। अद्वितीय वीर, सेनानी रूप सखा से युक्त और विजेता तू शत्रुता करने वालों का भोजन छीन ले। सिंह बन कर तू सब उपद्रवियों को हड़प ले, बाघ बन कर तू शत्रुओं को गिरा दे।

२. क्षत्रिय सेनापति

सेनापति में प्रधान सेनाध्यक्ष, स्थलसेनाध्यक्ष, जलसेनाध्यक्ष, वायुसेनाध्यक्ष और अलग-अलग दलों के छोटे सेनाध्यक्ष सब आ जाते है। वेद का सेनापति अपनी ओजस्विनी वाणी में कह रहा है—

मेरा ज्ञान अतितीक्ष्ण है, पराक्रम और बल अतितीक्ष्ण है। मेरे उन सैनिकों का क्षात्रबल भी अतितीक्ष्ण हो, जिनका विजयशील मैं सेनानायक हूं—

संशितं म इदं ब्रह्म संक्षितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥अ० ३.१९.१

मैं शत्रुओं के राष्ट्र को विच्छिन्न कर दूंगा, उनके ओज वीर्य और बल को विच्छिन्न कर दूंगा। इस आक्रमण रुप हवि द्वारा में वैरियों की भुजाएं काट दूंगा—

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ अ० ३.१९ २

एक अरब सैनिकों के सेनापति अर्बुदि को उत्साहित करते हुए वेद कहता है—
'हे देवजन अर्बुदि, अपनी सेना के साथ तू उठ खड़ा हो, सन्नद्ध हो जा। रिपुओं की सेना को भग्न करता हुआ तू उसके सैनिकों को पाशों से बांध ले—

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परिवारय॥ अ० ११.९ ५

यहां सेनापति को देवजन कहा गया है, क्योंकि उसका उद्देश्य हिंसा करना नहीं है। वह शान्ति का इच्छुक है, युद्ध तो विवक्षता में कर रहा है।

३. क्षत्रिय सैनिक या योद्धा

क्षत्रिय सैनिको को वेद में वीराः, देवाः, नरः, मर्याः मरुतः कह कर पुकारा गया है। वे शत्रुओं को विशेष रुप से प्रकम्पित करने के कारण या विक्रम दिखाने के कारण वीर (वि–ईर गतौ कम्पने च, वीर विक्रान्तौ) रणक्रीडा करने के कारण देव (दिवु

क्रीडादी), बहादुर होने के कारण 'नरः' और मरने-मारने के लिए तैयार रहने के कारण 'भर्मः' और 'मरुतः' (मृङ प्राणत्यागे) कहलाते हैं। वेद में सेनापति अपने वीर सैनिकों का परिचय देता हुआ कह रहा है –

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥ अ० ३.१६-४

मैं जिनका अग्रनेता हूं वे मेरे वीर परशु से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, इन्द्र के वज्र से भी अधिक तीक्ष्ण हैं।

अपने वीर सैनिकों को उत्साहित करता हुआ वह कहता है—

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना मित्राननु धावत॥ अ० ११.१०.१

उठ खड़े हो, सन्नद्ध हो जाओ, हे वीरो, अपने राष्ट्रध्वजों के साथ। जो सांप हैं, सांप के समान डसने वाले हैं, अभद्रजन हैं, पराये हैं, अमित्र हैं, राक्षस हैं, उनके पीछे दौड़ पड़ो।

वेद में वीर सैनिकों की युद्धोचित वेशभूषा का वर्णन भी बड़ा सजीव है–

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथेशुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥

हे वीरो, तुम्हारे कन्धो पर बन्दूके (ऋष्टियां) हैं, पैरों में फौजी बूट हैं, छाती पर सुनहरी बैज हैं, युद्धरथ पर बैठे, तुम शोभित हो रहे हो हे अग्नितुल्य तेजस्वी सैनिकों, तुम्हारे हाथों में विद्युतशस्त्र हैं, सिरों पर सुनहरे शिरस्माण हैं।

इनके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों पर रक्षार्थ नियुक्त राज कर्मचारी, पुलिस के सिपाही, पुलिस-विभाग के अध्यक्ष, पहरेदार आदि भी क्षत्रियों में आते हैं, जिनका वर्णन वेदों में मिलता हैं।

तृतीय वर्ण वैश्य

वेदों में वैश्य के वाचक शब्द वैश्य के अतिरिक्त आद्युदात्त 'विश्य' और आद्युदात्त 'अर्य' प्रयुक्त हुए हैं। स्वरितान्त 'विश्य' शब्द 'विशि भवः' आदि अर्थों में और अन्तोदात्त 'अर्य' शब्द स्वामी के अर्थ में आता है। क्वचित् प्रकरणानुसार प्रजावाची 'विशः' शब्द भी वैश्यों के लिए आया है। वैश्य का कार्य कृषि, पशुपालन वाणिज्य, एवं विभिन्न व्यवसाय करना है। वेदों में किसान के लिए कृषि, कृषीवन् कृष्ट वधि और कीनाश शब्द, 'पशुपालक के लिए पशुप पशुपाः पशुपति, पशुरक्षि, गोपति, गोपाल, अजपाल, अविपाल, हस्तिप, अश्वप शब्द एवं व्यापारी के लिए वणिक् शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

कृषि

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में भावयव्य की दानस्तुति के प्रसंग में एक ऋचा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

सुबन्धवो ये विश्या इव व्राः
अनस्वन्तः श्रव ऐषन्त पज्राः ॥ ऋ० १२६–५

अर्थात् शकर वाले सुबन्धु जन ऐसे ही भावयव्य से अन्न के दान की इच्छा करते हैं, जैसे शकटों के स्वामी वैश्य लोग कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करना चाहते हैं। इससे वैश्यों के कृषि रूप कर्त्तव्य पर प्रकाश पड़ता है।

पशुपालन

पशुपालन के कई सूक्ष्म वेदों में आये हैं। पशुओं के सम्बन्ध में कहा गया है—

इमं गोष्ठं पशवः संस्रवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नियच्छ ॥ अ० २. २६.२

इस गोशाला में पशु प्रवाह के साथ एक-एक करके आयें। गृहपति इन्हें पहचानता हुआ अन्दर लाये। अन्न की स्वामिनी गृहपत्नी इनके सम्मुख घास-चारा

आदि डाले। हे पशुओं के प्रति अनुकूल प्रति रखने वाली गृहपत्नी, आये हुए इन पशुओं को तू बांध।

मुझ गोपाल के पास गौएं स्थिर रूप से रहती हैं।

वाणिज्य

वाणिज्य के सम्बन्ध में अथर्ववेद काण्ड ३ का १५ वां सूक्त विशेष रूप से अवलोकनीय है। प्रजाजन कहते हैं– धनवान् वाणिक् को हम प्रेरित करते हैं। वह आये, हमारा अग्रनेता बने। व्यापार में प्रतिबन्धक शत्रु को तिरस्कृत करके वह हमारे लिए धनदाता बने–

इन्द्रमहं वणिजं प्रेरयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥१॥

इसके उत्तर में वणिक् कहता है–

द्यावापृथिवी के मध्य में स्थित अन्तरिक्ष में जो व्यापारियों के जाने–आने के बहुत से मार्ग हैं, वे दूध–घी से मेरी सेवा करें जिससे विदेश में क्रय–विक्रय करके मैं बहुत धन लाऊं।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी सं चरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥

व्यापार में धन लगाकार धन की वृद्धि का इच्छुक मैं जिस मूलधन से क्रय-विक्रय करता हूं, वह मेरे पास बहुत है, कम नहीं। हे राजन् मूल पूंजी को भी गवां बैठने वाले अकुशल व्यापारियों को आप अपने आदेश के द्वारा व्यापार करने से रोको–

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥५॥

उद्योग धन्धे

व्यापार के अतिरिक्त वैश्य द्वारा करणीय उद्योग–धन्धे या व्यवसाय वेदों में बहुत से वर्णित हुए हैं। यजुर्वेद १६ वें अध्याय में ही कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार), हिरण्यकार (सुनार), मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, रज्जुसर्ज (रस्सी बंटने वाला) सुराकार (आसव बनाने वाला), दार्वाहार (जंगल से लकड़ियां लाने वाला), चर्मघ्न (चमड़े का काम करने वाला) आदि विभिन्न उद्योग-धन्धे करने वाले पुरुषों के तथा विदलकारी (बांस चीरने वाली या दाल-दलिया आदि दलने वाली), कण्टकीकारी (कंघी बनाने वाली), पेशस्कारी (वार्निश आदि करके वस्तुओं को रुप देने वाली), वासःपल्पूली [वस्त्र धोने वाली], रजयित्री [वस्त्र रंगने वाली], अञ्जनी-कारी [अंजन बनाने वाली], कोशकारी [तलवार की म्यान या सन्दूक, थैले आदि बनाने वाली] इत्यादि स्त्रियों के नाम आये हैं, जिनसे विभिन्न उद्योग-धन्धों पर प्रकाश पड़ता है।

चतुर्थ वर्ण शूद्र

शूद्र शब्द वेदों में कुल १४ बार आया है। इनमें ५ पूर्वोक्त स्थल वे हैं, जिसमें चारों वर्णो के नाम दिये गये हैं। दो स्थानों पर स्त्रीलिंग 'शूद्रा' का प्रयोग है, और एक स्थल में 'शूद्रकृता' ऐसा समस्त पद है। एक मन्त्र में 'चाण्डाल' शब्द आया है (य० ३०-२१) जो शूद्र का ही एक भेद है। शूद्र के विषय में वेदों में अधिक नहीं कहा गया है। इतना ही विधान है कि सेवारुप तप के लिए शूद्र को नियुक्त करों–तपसे शूद्रम् (य० ३०.५)।

यह वैदिक वर्णव्यवस्था का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया गया है। मन्त्र आदि द्वारा निर्दिष्ट वर्णव्यवस्था का आधार वेद ही हैं। मनु ने ब्राह्मण के कार्य अध्ययन–अध्यापन यजन–याजन, दान देना और दान लेना वर्णित किये हैं (मनु १.८८)। भगवद्गीता में ब्राह्मण के कर्म शम, दम, तप शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान-विज्ञान और अस्तिकता बताये गये हैं (गीता १८.४३)। मनु ने क्षत्रिय के कर्म कहे है—

प्रजाओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयों में लिप्त न होना (मनु १.८६)। भगवद्गीता के अनुसार क्षत्रिय के कर्म हैं शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से मुंह न मोडना दान देना और राजा बनकर सबके साथ यथायोग्य बर्तना (गीता १८.४३)। मनु स्मृति में वैश्य के कर्म हैं– पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना व्यापार करना, ब्याज पर ऋण देना और कृषि करना (मनु १.९०) गीता में कृषि, गोरक्षा वाणिज्य वैश्य के कर्म बताये गये हैं (गीता १८.४४)। मनु के अनुसार प्रभु ने शूद्र का एक ही कर्म समादिष्ट किया है कि मन में निन्दा आदि का भाव न रखते हुए तीनों वर्णों की सेवा करना (मनु १.९१)। गीता में भी परिचर्या ही शूद्र का कर्तव्य माना गाया है (गीता १८.४४)।

वैदिक वर्णव्यवस्था जन्ममूलक या गुणकर्ममूलक ?

उक्त वैदिक वर्णव्यवस्था जन्ममूलक न होकर गुणकर्मभूलक है यह अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त से स्पष्ट है। वेद की दृष्टि में आचार्य जब बालक का उपनयन संस्कार करता है तब उसे गर्भ में धारण करता है— **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्तः** (अ० ११.५.३)। जब स्नातक बनाता है, तब बालक का दूसरा जन्म होता है। स्नातक बनाते समय आचार्य योग्यता के अनुसार उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वर्ण प्रदान करता है। जिसमें पढ़ने की योग्यता नहीं होती वह शूद्र कहलाता है। पहला जन्म माता–पिता से होता, उसके वर्ण स्थायी नहीं रहते। प्रथम जन्म का ब्राह्मण भी द्वितीय जन्म में क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बन सकता है। इसी प्रकार प्रथम जन्म का शूद्र भी द्वितीय जन्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में ही काण्ड १२, सूक्त ४ में ब्राह्मणों को गोदान करने का महत्त्व बताते हुए यह कहा गया है कि अविद्वान सौ ब्राह्मण भी गाय मांगें तो गोपति उन्हें गाय न दे, विद्वान ब्राह्मण को ही दे—

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्।
अथैनं देवा अब्रुवन्नेवं विदुशो वशा ॥ मन्त्र २२

इससे भी विदित होता है कि भले ही कोई जन्म से ब्राह्मण हो, किन्तु विद्वान् न हो तो वह ब्राह्मण नहीं है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के वर्षकामेष्टि सूक्त (१०.९८) की निरुक्तकार यास्क की व्याख्या के अनुसार उस सूक्त के पात्र देवापि और शन्तनु दोनों क्षत्रिय राजपुत्र हैं। परन्तु देवापि यज्ञविद्या का पाण्डित्य प्राप्त करके शन्तनु के वृष्टियज्ञ में पुरोहित बनता है। इससे भी वर्णव्यवस्था की गुणकर्ममूलकता पुष्ट होती है।

वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक आधार

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर मन-मस्तिष्क, शारीरिक बल-वीर्य, ग्रहणशक्ति आदि भिन्न-२ होते हैं। अतः स्वभावतः प्रत्येक मनुष्य न प्रत्येक विषय का पण्डित हो सकता है, न प्रत्येक कार्य कर सकता है। कुछ के अन्दर ज्ञान-विज्ञान में पारंगत होने की शक्ति और रूचि होती है। कुछ ऐसे होते हैं, जो शारीरिक बल का अपने अन्दर विकास करके दूसरों की रक्षा के निमित्त समर्पित हो सकें। कुछ लोगों की शक्ति और रूचि कृषि, पशुपालन आदि व्यवसायों में होती है। कुछ ऐसे भी होते है जिनमें पढ़ने की योग्यता सर्वदा नहीं होती और वे सेवा के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकते। प्रत्येक देश की प्रजा में ये चारों प्रकार के लोग होते हैं और वे इन कार्यों को करते हैं, भले ही वह देश इन्हें ब्राह्मण आदि नामों से न पुकारता हो। यह ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग सर्वदा स्वाभाविक है और मनुष्य की शक्ति एवं योग्यता पर आधारित है। प्रत्येक देश अपने विद्वानों द्वारा ज्ञान-विज्ञान की उन्नति कराता है, प्रत्येक देश अपनी सैन्यशक्ति बढ़ाता है, प्रत्येक देश कृषि पशु-पालन, एवं विविध उद्योग-धन्धों का विकास करता है। एवं वस्तुतः वैदिक वर्ण-व्यवस्था प्रत्येक देश में प्रचलित है। यह मनुष्यों की शक्ति, योग्यता और रूचि पर आधृत होने से सर्वथा वैज्ञानिक, स्वाभाविक एवं अनिवार्य है।

वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था एक विश्लेषण

—डा० विभा गौड़

अध्यक्ष दर्शन विभाग हे०न०ब०ग०वि०वि० श्रीनगर गढ़वाल

प्राय: प्रत्येक समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था आवश्यक रुप से पायी जाती है। जहां तक स्तरीकरण के स्वरुप का प्रश्न है, यह प्रत्येक समाज में वहां की परम्पराओं सामूहिक मूल्यों, राजनीतिक नीतियों और आवश्यकताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। किसी-किसी समाज में यह स्तरीकरण स्थायी रुप ले लेता है जिस में हजारों वर्षो तक कोई परिवर्तन कठिनता से हो पाता है। इस का ज्वलन्त उदाहरण भारत में देखा जा सकता है। यूरोप में अधिकतर समाजों में स्तरीकरण में तीव्र गतिशीलता पायी जाती है।

सर्व प्रथम, वर्तमान युग में स्तरीकरण के सब से प्रमुख दो आधारों जाति तथा वर्ण की प्रकृति को समझ लेना चाहिये। जाति की उत्पत्ति को जात: शब्द से माना जाता है जिस का अर्थ जन्म से लिया जाता है। जाति एक बिल्कुल भिन्न सामाजिक व्यवस्था का वह स्वरूप है जिस में कुछ नियन्त्रणों के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। जाति व्यवस्था के ही कारण जन्म से व्यक्ति को एक विशेष सामाजिक स्थिति प्रदान की जाती है। इस सामाजिक स्थिति में आजीवन कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस के अतिरिक्त विभिन्न जातियों को एक दूसरे से अलग करने के लिये धार्मिक अनुष्ठान, सम्पर्क, रीतिरिवाज, विवाह एवं खान-पान आदि के लिये कुछ नियन्त्रण होते हैं जिसके फलस्वरूप विभिन्न जातियां एक दूसरे के प्रति कुछ सामाजिक दूरी का अनुभव करती है। कुछ जातियों का समाज में उच्च स्थान होता है एवं कुछ का निम्न। व्यक्तिगत योग्यता एवं कुशलता का जाति व्यवस्था में कुछ महत्त्व नहीं होता है। यही कारण है कि जाति से सम्बन्धित लगभग समस्त विचार 'जन्म' और 'सामाजिक दूरी' को आधार बनाते हुए प्रस्तुत किये गये हैं।

वर्ण शब्द संस्कृत भाषा के 'वृ' धातु से बना है। 'वृ' का अर्थ है वरण करना। इस प्रकार वर्ण का अर्थ है जिसे मानव अपने कर्म एवं स्वभाव से वरण या चुनाव

करता है। ऋग्वेद में वर्ण का प्रयोग रंग के लिये हुआ है। गौर वर्ण आर्यो एवं कृष्ण वर्ण दासों के लिये प्रयुक्त होता था। बाद में वर्ण शब्द का प्रयोग ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र आदि चार सामाजिक वर्गो के लिए किया जाने लगा। आज के युग में वर्ण का सामान्य और प्रचलित अर्थ 'जाति' है।

जाति और वर्ण में अन्तर है। शाब्दिक अर्थ में भी वर्ण का अर्थ वरण करना और जाति का अर्थ जन्म (जन् धातु से उत्पत्ति) लेना हैं। दूसरे शब्दों में जाति जन्म से एवं वर्ण कर्म से निर्धारित होता है क्योंकि एक व्यक्ति जाति से ब्राह्मण और-कर्म से क्षत्रिय हो सकता है जैसे परशुराम ! कोई अन्य व्यक्ति जाति से क्षत्रिय और कर्म से ब्राह्मण हो सकता है जैसे राजा जनक (संख्या की दृष्टि से भी वर्ण केवल चार हैं परन्तु जाति की संख्या वर्तमान काल में चार हजार के आस-पास।

समाज में शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था का लक्ष्य बहुत उच्च था। समाज के गठन के पश्चात् सामाजिक कार्यो को भली-भांति पूर्ण करने के लिये यह आवश्यक था कि कार्यो का विभाजन व्यक्ति की स्वाभाविक प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार हो। प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न प्रकार के कार्यो को स्वयं ही सम्पादित नहीं कर सकता है। यह वर्ण व्यवस्था मनोवैज्ञानिक आधार पर हुई समाज की दृष्टि में समस्त वर्ण समान थे।

वैदिक काल में जाति जैसै किसी शब्द का उल्लेख नही मिलता। हिन्दू समाज में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सम्बन्ध परम्परागत धारा से है। याज्ञवलक्य के मत में ब्रह्म ने पहले ववताओं के चार वर्ण बनाये। वृहदारण्यक उपनिषद में यह माना गया कि पहले केवल ब्राह्मण के अतिरिक्त कौर कोई वर्ण नहीं था। परन्तु ब्राह्मण स्वयं अपनी समृद्धि नहीं कर सकता था। इसौलिए क्षत्रिय की उत्पत्ति हुई। यह वर्ण इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र यम इत्यादि देवों से मिलकर बना। गुण कर्म के अनुसार ब्राह्मण का कार्य वेदा-ध्ययन माना गया क्योंकि उसमें सतो गुण की प्रधानता है। सतों गुण ज्ञान का प्रतीक माना जाता है, वेद का अध्ययन वास्तविक सत्ता के स्वरूप का ज्ञान प्रदान करता है। अतः ईश्वर के स्वरुप का ज्ञान प्राप्त करके चिन्तन करना ही ब्राह्मण का धर्म है।

क्षत्रिय का कार्य देश की रक्षा करना, प्रजा पर शासन करना है। मनुष्य की त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति में रजोगुण की प्रधानता होने पर व्यक्ति अधिक क्रियाशील एवं शक्तिशाली बनता है और क्षत्रिय कहलाता है। तीसरा वर्ण वसु रुद्र, आदित्य, विश्वदेव आदि के रूप में वैश्य की उत्पत्ति हुई। वैश्य में भी रजोगुण की प्रधानता मिलती है जिसके कारण आसक्ति वश वह धर्म अर्थ को धारण करता है। वैश्य वर्ण में तमोगुण का निवास होने के कारण वह अधिक शक्ति के कार्यो को न कर के व्यापार में लग जाते है वैश्य के पश्चात् भी जब वर्ण व्यवस्था पूर्ण न लगी तो पूषन देव के रूप में शूद्र की उत्पत्ति हुई। पूषन देव पोषण करता है अर्थात् सेवक ! शूद्रों में तमोगुण की प्रधानता को माना गया है। अतः सत् रज् और तम् गुणों की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है। वर्ण व्यवस्था वास्तविक रूप में समाज का कर्मिक एवं चारित्रिक मूल्यांकन है।

प्रत्येक वर्ण के लोग आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार के लाभ के लिये अपने व्यवसाय का त्याग नही करते थे। प्रत्येक व्यवसाय का अपना एक अलग संघ होता था। इस संघ का कर्त्तव्य उस व्यवसाय के समस्त लोगों का भरण पोषण करना होता था। इस प्रकार दीर्घकाल तक यह व्यवस्था निर्बाध गति से चलती रही क्योंकि लोगों में परस्पर सहयोग की भावना कायम थी। समाज में स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के लिये कोई स्थान नहीं था। समाज का वैश्य वर्ण अन्य वर्णों को आर्थिक मदद दिया करता था शूद्र वर्ण, जिस का कर्त्तव्य लोगों की सेवा करना था, को वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण समय समय पर सहायता देते रहते थे।

वर्ण व्यवस्था से समाज का आर्थिक ढांचा सुदृढ़ होता था। बेरोजगारी जैसी कोई समस्या नहीं थी क्योकि वंशानुगत उद्यम को अपनाया जाता था जिसके कारण समाज में दक्ष एवं कुशल व्यक्तियों का आधिक्य होता था। व्यवसाय को सामाजिक कर्त्तव्य समझ कर किया जाता था। वर्ग वैमनस्य के लिये समाज में कोई स्थान नहीं था क्योंकि व्यवसाय को धन संग्रह का साधन नहीं समझा जाता था।

ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्र वर्णो में समाज के वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य जन्म तथा वशानुगत उद्यम के आधार पर अलग-अलग वर्णो में पार्थक्य की स्थिति उत्पन्न

करना नहीं था अपितु सहकारी जीवन की ऐसी पद्धति का तर्कसंगत विकास करना है जिस से प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी अभिरुचियों, ज्ञान तथा क्षमताओं के अनुरूप व्यक्ति के योगदान तथा गुणों पर आधारित श्रम विभाजन के माध्यम से समाज को सुदृढ़ तथा सम्पन्न बनाया जा सके एवं समाज की सुरक्षा का आवश्यक प्रबन्ध किया जा सके ! अतः सिद्ध है कि व्यक्ति की अन्तर्निहित प्रकृति ही उस के कर्त्तव्य को निर्धारित किया करती है ।

भारत के पतन के साथ-साथ कालान्तर में वर्ण व्यवस्था का पतन भी प्रारम्भ हुआ । ऊंच-नीच के भाव के कारण ब्राह्मण को उच्च कोटि का और शूद्र को निम्न कोटि का माना जाने लगा । लोगों ने वर्ण व्यवस्था के अर्थ को बदल डाला वर्ण व्यवस्था ने कठोर जाति प्रथा का रूप ले लिया । यह प्रथा बर्तमान काल में एक अभिशाप बन गयी है । उत्तर वैदिक काल के आरम्भ में विभिन्न वर्णों में जब पृथकता की भावना बढ़ने लगी तब जैन एवं बौद्ध धर्मों का विकास हुआ जिस में जन्म को महत्त्व न देकर कर्म को महत्त्व दिया जाता था । इस से ब्राह्मणों की स्थिति में ह्रास हुआ । परन्तु शीघ्र ही इन धर्मों के पतन होने पर वर्ण व्यवस्था की उदार नीति पुनः जाति व्यवस्था की संकीर्णता में बदलने लगी । वर्ण व्यवस्था के स्थान पर जाति व्यवस्था का रूप धर्मशास्त्र युग में एक दम स्पष्ट हो गया । धर्म का महत्व अत्यधिक बढ़ जाने से जाति के नियमों का तनिक सा भी उल्लंघन हो जाने पर व्यक्ति का जाति से बहिष्कार कर दिया जाता था । फल स्वरूप अनेक उपज ातियों का निर्माण हुआ । ग्यारहवीं शताब्दी से मध्यकालीन युग का प्रारम्भ होता हैं । यह जाति प्रथा के इतिहास में अत्यधिक कलुषित समय रहा । भारत में मुसलमानों के प्रभाव के बढने के कारण रोज नये-नये प्रतिबन्धों के द्वारा विभिन्न जातियों को एक दूसरे से अलग कर दिया गया । सामाजिक समस्यायें अपनी चरम सीमा में पहुंच गयी । लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में ही स्वामी दयानन्द तथा राजा राममोहन राय महात्मा गान्धी इत्यादि प्रगतिवादी व्यक्तियों ने इस जाति प्रथा के विरोध में आवाज उठायी जिससे जाति व्यवस्था की कठोरता में कुछ कमी होने लगी ।

प्राचीन काल में व्यक्ति की आवश्यकतायें बहुत कम हुआ करती थी। ऐसे समाज के लिये वर्णव्यवस्था अति उत्तम एवं सफल थी। लेकिन आज के मानव की आवश्यकतायें अप्रत्याशित रूप से बढ़ रही हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मानव को अन्य उद्यमों की तलाश करनी होती है। पहले व्यक्ति का जीवन अत्यधिक सादा होता था। धन संग्रह की समस्या उसके सामने नहीं थी! व्यक्ति का जीवन विषमताओं से मुक्त था! परन्तु आज का युग भौतिकवाद का युग है। आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम सुख सुविधा की ओर भाग रहा है। सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था इतनी अधिक जटिल हो गयी है कि व्यक्ति ऐसे व्यवसाय की ओर दौड़ रहा है जिस से वह कम से कम मेहनत एवं समय में अधिक से अधिक धन प्राप्त कर सके। यही कारण है कि वर्ण व्यवस्था वर्तमान समाज में लुप्त प्रायः है।

जैसा की मैं पहले भी कह चुकी हूं कि वर्तमान युग में 'वर्ण' का सामान्य और प्रचलित अर्थ 'जाति' है! इसी को दृष्टि में रखते हुये मैं कहना चाहती हूं कि वर्तमान काल में अस्पृश्यता उन्मूलन, स्वतन्त्र सामाजिक सम्पर्क और व्यावसायिक स्वतन्त्रता के वातावरण में जाति व्यवस्था के बन्धन स्थायी नहीं रह सकते हैं। परन्तु जाति के आधार पर अपने राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों को पूरा करने की मनोवृत्ति में यदि कमी नहीं आयी तो जातिगत नियन्त्रणों से पूर्ण छुटकारा पाने की सम्भावना बिल्कुल सोची भी नहीं जा सकती है। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के विचार में 'दुर्भाग्यवश वही जाति प्रथा जिस का विकास सामाजिक संगठन की रक्षा के एक साधन के रूप में किया गया था, आज उसी समाज की उन्नति में बाधक बन रही है।"

जातिप्रथा का जो रूप हमारे सामने हैं उस से प्रतीत होता है जाति प्रथा का भविष्य सुरक्षित नहीं है। इस में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब जाति प्रथा का बिल्कुल ही अन्त हो जाएगा। कुछ विद्वानों का यह मत हो सकता है कि सामाजिक व्यवस्थाओं को एकाएक समाप्त न कर के यदि उनमें निहित कमियों को दूर कर दिया जाए तो वे पहले से कहीं अधिक उपयोगी और सार्थक सिद्ध हो हो सकती है जैसा कि डॉ० मजूमदार ने कहा है कि एक जाति का

दूसरी जाति के द्वारा शोषण और इसी प्रकार की सहयोगी प्रथाओं को नष्ट कर देना चाहिए न कि समुचिति व्यवस्था को; क्यों कि विषपूर्ण अंगुली को ही काटना उचित होगा न कि सम्पूर्ण हाथ को।" मजूमदार का यह तर्क उचित अवश्य है परन्तु जाति प्रथा ने समाज में शोषण और घृणा को बढ़ावा देकर समाज को इतना विषाक्त कर दिया है कि इसमें कोई सुधार की आशा करना असम्भव एवं व्यर्थ सा प्रतीत होता है।

निष्कर्ष रुप में मैं दो-तीन मुख्य बाते आप लोगों के सम्मुख रखती हूं :—

जहां तक वैदिक वर्ण व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार पर प्रश्न है, यह रुपेण वैज्ञानिक है क्योंकि किसी भी व्यवस्थित ज्ञान (systematic knowledle) को ही विज्ञान कहा जाता है। वर्ण चूंकि उपाधियां है अतः इन उपाधियों का अर्जन क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ज्ञान द्वारा ही होता है। कतिपय विद्वान मेरे इस कथन पर सन्देह कर सकते हैं लेकिन यह क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ज्ञान गणितीय जैसे २ + २ = ४ या ज्यामितीय या भौतिक शास्त्रों के सम्भाव्य (Probable) या निश्चित ज्ञान से भिन्न प्रकार का हो सकता है।

प्रस्तुत लेख में वैदिक वर्ण व्यवस्था तथा आधुनिक जाति व्यवस्था का उल्लेख किया है। परन्तु मेरी निजी सम्मति में वर्ण तथा जाति में स्पष्ट भेद है। वर्ण जैसे ब्राह्मण एक उपादि है जब कि जाति सार्वभौम एवं नित्य है। जैसे 'मनुष्यत्व' वृक्षत्व स्पष्ट है कि मेरे विचार में वर्ण जन्मना: नहीं हो सकते जब कि जाति जन्मना: ही होती है जैसे मनुष्यत्व'। पुन: उपाधि अर्थात् वर्ण आश्रित रुप हैं जब कि जाति और जन्म साथ-साथ ही अस्तित्व में आते हैं। उपाधियां परिवर्तन शील होती है जैसे एक डाक्टर कलाकार हो सकता है आदि-आदि शायद यही कारण रहा है कि वेद, कर्म एवं स्वभाव के अनुसार ही वर्णोत्पत्ति बताते हैं। आजकल वर्ण को ही चूंकि जाति समझ लिया गया हैं, इसलिये वर्ण व्यवस्था या तो विकृति का शिकार हो चुकी है या नष्टप्राय:।

समस्त प्रकार के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक वर्ण व्यवस्था आज भी विद्यमान है। हां, विचारणीय यह है कि राष्ट्रीय एकता के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जैसी उपाधि नामों में यदि परिवर्तन की अपेक्षा हो तो देश के बिद्वानों को इस पर अवश्य विचार कर लेना चाहिये। क्योंकि हमारा मूल उद्देश्य तो व्यक्ति देश तथा समस्त समाज का कल्याण है। हमें अपने कर्तव्य मात्र का ही पालन करना चाहिये क्योंकि हमारे कर्त्तव्य ही तो हमारे अधिकारों की जननी हैं।

वर्ण व्यवस्थाः ब्रह्माण्ड व्यवस्था का वैज्ञानिक वर्गीकरण सिद्धान्त

वर्ण का सामान्य अर्थ यद्यपि मात्र रंग या रुप ही प्रारम्भ में रहा है लेकिन व्यवस्था एक समूची सामाजिक संस्था का बोध कराती है जिसमें अर्थ और राजनीति, विधि और व्यवस्था कर्तव्य और अधिकार सहित मनुष्यों के समस्त सामाजिक सम्बन्ध समाविष्ट होते हैं। इसलिए प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण भले ही बाह्य प्रकृति का सूचक रहा हो लेकिन व्यवस्था से जुड़कर वह एक विराट् अर्थवत्ता एवं प्रभुसता का संवाहक बन जाता है। वैदिक वर्ण व्यवस्था से अभिप्राय न केवल यह है कि यह व्यवस्था वेद विहित है और न यह ही कि इस व्यवस्था के पुरस्कर्ता वे आर्य है जिनके पवित्र ग्रन्थ वेद थे। वस्तुतः वेद के साक्षात् कृत धर्मो ऋषियों ने ब्रह्माण्ड के अन्य तत्वों की भांति इस सामाजिक व्यवस्था का भी साक्षात्कार किया था। ब्रह्माण्ड की प्रकृति के आधार पर समाज की प्रकृति की पहचान मनोवैज्ञानिकों और दर्शन-शास्त्रियों के लिए सदैव ही चिन्तन का विषय रही है। साक्षात्कार का अभिप्राय यदि पदार्थ के धर्मों या सार तक पहुंचना हैं तो व्यवस्था के साक्षात्कार के लिए इसका अर्थ होगा समाज की समष्टि के स्वभाव-धर्मों का सूक्ष्म अकिलन।

वर्गीकरण मानव की विचार यात्रा की आधार भूमि है। विचार, प्रत्यक्षण, क्रिया और भाज्ज का प्राथमिक प्रतिफलन वर्गीकरण ही है। कोई भी बौद्धिक व्यापार वर्गीकृत रुप में हीं साकार हो सकता है। तार्किक विश्लेषण वर्ग विशिष्ट बोध के रूप में ही फलोतमुख है वर्गीकरण की योग्यता बृद्धि का विशिष्ट गुण है। उस योग्यता को अर्जित किए बिना हमारी जीवन यात्रा चल ही नहीं सकती। भौतिक जगत, सामाजिक–व्यवस्था, बौद्धिक चिन्तन सभी वर्गीकृत रूप में ही अपने अस्तित्व का बोध कराते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा की दिशायें वर्गीकरण का विधियों में ही प्रशस्त हो सकती है। इसी को निरुक्तकार ने :'बिल्म ग्रहणाय" कहा है वैशेषिक दर्शन वर्गीकरण की इसी विशेषता के कारण अपने नाम को सार्थक करता है। कणाद ने इसी वर्गीकरण की वैज्ञानिकता को परख कर सूक्ष्मतम परमाणुओं में भी "विशेष" का साक्षात्कार किया। वर्णव्यवस्था इसी वर्गीकरण की विशेषता की

तार्किक परिणति है। सृष्टि में निहित नियमों अर्थात् व्यवस्था के घटकों के सादृश्य और समनुरूपता के आधार पर एक आदर्श एवं विकासोन्मुख सामाजिक संस्था के संगठन के लिए यह आवश्यक था कि उसके नागरिकों की क्षमताओं और योग्यताओं के अनुरूप दायित्वों की व्यवस्था की जाय। क्षमताओं की सम्भावनाओं के आकलन को जो सहायता आज वैज्ञानिक यन्त्र देते हैं उसके लिए उस आरम्भिक काल में यज्ञ-संस्थाओं की स्थापना की गई थी। वेदविद्या अधियज्ञ, अध्यात्म और अधिदेवता में तादात्म्य का साक्षात्कार करती है। इसीलिए ब्रह्माण्ड विद्या देवविद्या और समाज विद्या या समाज शास्त्र परस्पर अनुस्भूत है ब्राह्मण का ब्रह्माण्ड में पृथ्वी के देव वर्ग में अग्नि के साथ अपृथक् तादात्म्य है। प्रसिद्ध समाज शास्त्री मारशल का कहना है कि—

Society was not simply a model which classificatory thought followed; it was its own divisons which served as divis ons for the system of classification. The first logical categories were social categories; the first classes of things were classes of men, in to which there things were integrated. It was because men were grouped, and thought of them selves in the form of groups, that in their ideas they grouped other things, and in the beginning the two modes of grouping were merged to the point of being indirtinct.

यह वर्गीकरण आज की समाज शास्त्रीय सम्भावनाओं की तरह न किसी कुलीन तंत्र पर आधारित था न मानसिक और शारीरिक श्रम पर नहीं कि इस विभाजन के मूल में आर्थिक संसाधनों की पृष्ठ भूमि थी। न वर्ग विशेष के लिए किसी विशेषाधिकार की व्याख्या थी। वस्तुतः वर्ण का साक्षात्कार संभहाराओं ने मानवीय चरित्रों में ही नहीं अपितु ब्रह्माण्ड की समस्त चर-अचर ईकाइयों में किया था। विश्व की ब्रह्माण्ड में जो वृद्ध भी अस्तित्वमान् विद्यमान है वह वर्ण-हीन नहीं है, उसका कोई न कोई वर्ण अवश्य है। वस्तुतः वह वर्ण के ही कारण विद्यमान

और गतिमान् है। प्राकृतिक विश्व ही नहीं अतिप्राकृतिक विश्वातीत तत्वों में भी वर्णों की व्यवस्था है, भौतिक सृष्टि की भांति देवसृष्टि के भी अपने-अपने वर्ण हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वर्णों के रूप में ही वर्गीकृत है। जैसे कि प्रसिद्ध तर्कशास्त्री विरगिन् स्टाइन ने कहा है—

All components of the universe can be understood as bearing one or another of a limited number of 'famly sesemblances;

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय व्यवस्था को वर्णो के आधार पर विशेषीकृत रूप में प्रमेय बनाने वाला यह विश्व का प्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण सिद्धान्त है जिसने सर्वप्रथम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक इकाई मानकर कुछ चारित्र्यिक विशेषताओं के आधार पर त्रिविध वर्गीकरण का सिद्धान्त आविष्कृत किया। इसी सिद्धान्त के आधार पर त्रिवर्ग, त्रिदोष, त्रैगुण्य, त्रिकाल, त्रिकाय, त्रिधातु के आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिष शास्त्र, रसायन शास्त्र जैसे पश्चाद्‌वर्ती शास्त्रीय सिद्धान्तों का विकास हुआ।

सृष्टि की प्रत्येक वस्तु जो यज्ञ की प्राथमिक आवश्यकता है जो शान्त, स्थिर, धीर गम्भीर मृदुल और कोमल है, ब्राह्मण है। जिसमें शारीरिक बल, सैन्य संघटन, नेतृत्व कौशल है और जो ऊर्जा का स्रोत है वह क्षत्रिय है। जिसमें दया, विनियमता, उत्पादकता शक्ति और करण-कौशल हैं वह वैश्य है। इन्हीं वर्णो की चारित्र्यिक विशेषताओं के अनुसंधान से आरम्भ होता है वैदिक-धर्म-दर्शन। सामाजिक सम्बन्धों और दायित्वों के परिणाम स्वरूप कर्मवाद का जन्म होता है और फिर होती है कार्य-कारण शृंखला की शुरूवात, जो दर्शन का प्रस्थान विन्दु है।

चारों वर्णो के साकार होने से पूर्व हम इस वर्गीकरण की प्रक्रिया को वैदिक साहित्य में विभिन्न रूपों और प्रकारों में विवेचित होते देखते हैं। ब्राह्मण का आविर्भाव जहां पृथ्वी के अवतरण और यज्ञाग्नि के उद्दीपन के साथ होता है वहां क्षत्रिय का आगमन यज्ञ रक्षा के लिए क्षात्र तेज के रूप में रथ और वाण के साथ होता दिखाई देता है। लेकिन वैश्य की उत्पत्ति के साथ हमें त्रिविध वर्गीकरण का एक व्यवस्थित सिद्धान्त प्राप्त होता है—

यहां हम वर्गीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालना चाहेंगे—

१–	सामाजिक दर्जा	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य
२–	मौलिक गुण	ब्रह्मन्	क्षात्र	विश्
३–	अन्तः शक्ति	महत्	ओजस्वी	यशस्
४–	सत्तामूलक कइाई	आत्मन्	मनुष्य	पशु
५–	देवना	अग्नि	इन्द्र	सूर्य/विश्वदेव
६–	विश्वब्रह्माण्ड	भू.	भुवः	स्व
७–	प्राकृतिकतत्व	अग्नि	वायु	सूर्य
८–	कालभाग	प्रातः	मध्याह्न	उत्तराह्न
९–	वेद	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद
१०–	छन्द	गायत्री	त्रिण्टुप्	जगती
११–	ऋत्विग्	होता	अवयर्यु	उद्गाता

	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
पशु	अजा	अश्व	गाय	भेड–अवि
छ:न्द	गायत्री	त्रिण्टुप्	जगती	अनुण्टुप्
Chant गान	रथान्तर	वृहत्	वामदेव्य	वैराज

पेटर और फेरलुजी जैसे समाज-दर्शन के गम्भीर अध्येताओं ने इस व्यवस्था को polythetic पोलीथेटिक Tasconomical principel टेक्सोनोमिकल प्रिन्सीपल यानें बहु आयामी और बहु प्रायोजनिक वैज्ञानिक वर्गीकरण के सिद्धान्तों के आधार पर परखा है। वर्गीकरण का यह सिद्धान्त यद्यपि सार्वभौम है तथापि इसके निर्धारण की विधियां कठोर और निरपवाद नहीं है। उदाहरण की दृष्टि से यदि गाय यज्ञ के उपयोग की दृष्टि से ब्राह्मण वर्ग की सदस्या है तो आहार सामग्री उत्पादन के रुप में उसका वर्ण वैश्य भी है। वर्णो के विभाजन में सामाजिक उपयोग और प्रयोग की महत्वपूर्ण भूमिका है। विश्व ब्रह्माण्ड की प्रत्येक प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक वस्तु की समाज के लिए योगदान की भूमिका के विशेषीकृत वर्गीकरण विज्ञान का नाम है— वर्ण। यह ब्रह्माण्ड व्यवस्था का प्राथमिक वर्गीकरण सिद्धान्त है जिसका समाज सस्था के अध्ययन अनुसंधाताओं के लिए आज एक महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

"वैदिक वर्ण व्यवस्था"

–डा० वीनेश अग्रवाल

संस्कृत प्राध्यापिका, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हरिद्वार

यह कथन अतिप्रसिद्ध है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" वह एकाकी नहीं रह सकता। उसे अन्य साथियों सहयोगियों की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि वह ग्राम, कस्बा या नगर बसा कर रहता है। परस्पर सहयोग विचार विमर्श से रहने में उसे सुख की अनुभूति होती है। इसी को समाज कहा जाता है।

"समम जन्ति जना; यस्मिन् स समाज:"।

भगवती श्रुति ने सृष्टि के प्रारम्भ में मानव मात्र के कल्याण के लिए जो पवित्र ज्ञान गंगा प्रवाहित की, उसमें आध्यात्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक सभी प्रकार के उत्तमोत्तम उपदेश दिये गये हैं। मानव समाज को सुव्यवस्थित चलाने के लिए कहा गया है कि हे मनुष्यों तुम्हारी सम्पूर्ण चेष्टाएं एक समान होनी चाहिए। तुम्हारी गतिविधि एवं परस्पर व्यवहार में समानता हो, तुम्हारी वाणी में समानता हो। तुम सब एक स्वर में बोलने वाले बनो, तुम्हारी विचारधाराओं में भी समानता हो। मंत्रणा के लिए बनाई जाने वाली समितियां समानता का भाव लेकर ही बनें। तुम्हारे मन व चित्त आदि में समानता, हो सभी एक समान विचार धारा को लेकर उस पर विचार विमर्श करने वाले बनो। मैं सबको समान ज्ञान देता हूं। अतः तुम समानता के आधार पर भोग्य पदार्थों का उपभोग करते हुए सदाचारी बने रहो। तुम सबके संकल्प तथा हृदयों में ऐसी समानता हो कि कभी परस्पर विरोध की भावना ही पैदा न हो। तुम्हारे मनो में ऐसा प्रेम हो, जिससे राष्ट्र में शांति रहे और सदैव सुख सम्पदा की वृद्धि होती रहे—

संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।
ऋग्वेद, १०/१९१/२-४

वेद के इन मन्त्रों के आधार पर दुनिया के सभी मानव समान हैं। उनमें कोई उच्च या निम्न नही है। अब प्रश्न उठता है कि वेद में वर्णभेद या वर्ण व्यवस्था का निर्देश क्यों किया गया है ?

वेद ने मानवता की दृष्टि से यद्यपि सबको समदृष्टि से देखा है, परन्तु कार्यक्षमता की दृष्टि से एक व्यक्ति में दूसरे की अपेक्षा जो विशेषता या भिन्नता होती है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी—२ कार्यक्षमता और बुद्धि के आधार पर भिन्न रूप में दिखाई देता है। जैसे कोई अध्यापक है तो कोई इंजीनियर कोई डाक्टर है तो कोई कुशल प्रशासक। कोई सेनापति है तो कोई कुशल व्यापारी कोई कृषक है तो कोई श्रमिक। इस बात को वेद ने स्वयं स्वीकार किया है।—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनो जवेष्वसमा बभूवुः ।

अर्थात् समान नेत्रों कर्णो वाले सखा, मानव मन की गतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। सबकी बुद्धि, प्रतिभा, शारीरिक बल भिन्न-२ प्रकार की होती है यह भिन्नता ही वैदिक वर्णव्यवस्था का मूलाधार है। समाज को ठीक प्रकार से चलाने के लिए भिन्न-२ प्रकार की योग्यता वाले मानवों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती है। इस आवश्यकता ने ही वर्णव्यवस्था कोजन्म दिया। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से इस वर्णव्यवस्था का निर्देश किया गया है। एक मंत्र में कहा गया है— हे परमात्मन आप हमारा ब्राह्मणों में प्रेम कीजिए, क्षत्रियों में प्रेम कीजिए, वैश्यों में पमा प्रेम कीजिए आप प्रेम से मेरे अन्दर प्रेम उत्पन्न कीजिए—

रूचं नोधेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसु नस्कृधि ।
रूचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रूचा रूचम् ।। यजु० १८-४८

किसी भी राष्ट्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए सामान्य रूप से चार प्रकार के व्यक्तियों की आश्यकता होती हैं।—

१- **बुद्धि जीवी वर्ग**— यह वर्ग वह है जो अपनी विशिष्ट बुद्धि के द्वारा राष्ट्र का सही मार्ग दर्शन या कार्य कर्ता है जैसे- शिक्षक, डाक्टर, इंजीनियर आदि।

२- **रक्षक वर्ग**— सेना तथा पुलिस आदि में कार्य करने वाला यह वर्ग विशेष है जो देश की बाहर और भीतर से रक्षा करता है।

३- **व्यापारी वर्ग**— यह वर्ग राष्ट्र की उपभोग्य आवश्यकताओं को अपनी व्यापारिक क्रियाओ द्वारा पूर्ण करने में सहयोग देता है।

श्रमिक वर्ग — जो अपने परिश्रम के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने कंधों पर वहन करता है वही यह वर्ग है।

इन चार प्रकार के नगरिकों को चार वर्गो में बांटा गया है। यह वर्गीकरण जन्म के आधार पर न होकर गुण कर्म स्वभाव के आधार पर माना गया है योगेश्वर कृष्ण ने गीता में कहा है— "चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागश:।"
अर्थात् चारों वर्णो को मैंने गुण कर्म स्वभाव के आधार पर बनाया है। मनु महाराज ने ठीक ही कहा है— "जन्मना जायते शूद्र: सस्कारात् द्विज उच्यते" अर्थात् प्रत्येक मानव जन्म से शूद्र होता है। तत्पश्चात् शिक्षा ग्रहण करने पर जिसमें जिसमें जिस प्रकार की कार्यक्षमता होती है वह तदनुसार ही वर्ण या वर्ग में समाविष्ट हो जाता है।

वर्ण विभाग का आधार — वैदिक वर्णव्यवस्था में मुखवत् ज्ञानी, तपस्वी और त्यागी को ब्राह्मण कहा गया। जिस प्रकार मुख तपस्वी है, कठोर से कठोर सर्दी के दिनों में भी, जबकि हम सारे शरीर को वस्त्रों से ढ़क लेते हैं हमारा मुख नग्न ही रहता है। उसी प्रकार ब्राह्मण को भी मुख के समान तपस्वी होना चाहिए। आँख, नाक, कान रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां मुख में एकत्र रहती हैं और ज्ञान प्राप्त कराती रहती हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण को ज्ञानवान् होना चाहिए। और जैसे हम मुख से औरों को उपदेश देते हैं। ब्राह्मण को सदैव सत्य ज्ञान का उपदेष्टा बनना चाहिए।

क्षत्रिय समाज की भुजा है भुजा में बल होता है, जब शरीर पर कहीं से किसी प्रकार का प्रहार होता है तो भुजाऐं आगे बढ़ कर उस प्रहार से रक्षा करती हैं और यह प्रयत्न करती है कि शत्रु के प्रहार से स्वयं लहु लुहान हो जाय किंतु अन्य अगों को आहत न होके दें। सच्चा क्षत्रिय वही है जो अपना सर्वस्व लुटाकर भी समाज और राष्ट्र की रक्षा करता है।

ऊरु और उदर के समान जो सबका आधार है उसे वैश्य माना गया है। जैसे खाया हुआ अन्न पेट में पहुंचता है पेट उस अन्न को पचा कर रस बना देता है और फिर उस रस को रक्त बना कर सम्पूर्ण शरीर को देता है उसी प्रकार जो वर्ण समाज के सभी अंगों को भोजन आदि प्रदान करे वह वैश्य है। इसी प्रकार जघाओं का काम चलना फिरना है, जो जंघाओं की तरह चले फिरेगा देश-देशान्तर में जाकर व्यापार व्यवसाय करेगा, वह आदर्श वैश्य होगा।

शूद्र को वैश्य के समान माना गया है। जैसे पैर सारे शरीर को अपने ऊपर उठाये रखता है और सम्पूर्ण शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। इसी प्रकार शूद्र और वर्णों की सेवा में संलग्न रहता है। और राष्ट्र को सुदृढ़ बनाता है।

इस वर्ण विभाजन का आधार घृणा नहीं था अपितु यह विभाजन अपनी शक्तियों द्वारा समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकने के भाव पर अवलम्बित था, जैसे शरीर के मुख, भुजा आदि अंग एक दूसरे से घृणा नहीं करते, वे दूसरे के सुख दुख: को अपना सुख दुख समझते हैं उसी प्रकार का भाव इन सभी वर्णों में होना चाहिये। उन्हें परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिये। शूद्र के कष्ट और विपत्ति ब्राह्मण को अपना कष्ट और विपत्ति समझने चाहिए। और ब्राह्मण के कष्ट और विपत्ति शूद्र को अपना कष्ट और विपत्ति समझने चाहिए। जब सबका जीवन एक दूसरे के सहयोग अवलम्बित है तब न कोई ऊंचाई न नींचा। जो जितना अधिक गुणवान है और जितनी दूसरों की सेवा करता है वह उतना ही ऊचा है। वर्ण–व्यवस्था के इस रूप को न समझने के कारण ही भारत देश में जन्मगत जाति के आधार पर ऊंच नीच और घृणा का भाव उत्पन्न हुआ। जिसने भयानक विष का रूप धारण करके राष्ट्र शरीर को दुर्बल कर दिया।

चारों वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनमें वर्णव्यवस्था के उदात्त रूप को प्रतिपादित किया है। उदाहरण रूप में निम्न मन्त्र देखने योग्य है—

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।

विसदृशा जीविताभि प्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥ ऋग्० - १-११३-६ ॥

अर्थात् सब जगत अंधकार से निगला हुआ पड़ा था। प्रातः काल ऊषा आई और उसने जगत को अंधकार से बाहर कर दिया ? इसलिए कि विभिन्न स्वभाव वाले लोगों को प्रकाश मिल सके, जिससे वे अपने-२ कार्यों को भली भांति कर सके। कोई क्षात्र कर्म कर सके, कोई यज्ञ के कर्म को कर सके, कोई धन सम्पादन के कार्य को कर सके। और कोई चल फिर कर साधारण सेवा आदि के कार्य कर सके।

इस वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में किसी भी वर्ग को स्वयं वरण करने की व्यवस्था थी। जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण कर्मों का चुनाव अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में कर लेगा, उसका वही वर्ण हो जायेगा। वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषद तथा मनुस्मृति आदि में वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर न मान कर गुण कर्म स्वभाव के आधार पर ही स्वीकार की गई थी। हाँ ! मध्य काल में कतिपय स्वार्थी लोगों ने इसे जन्म का आधार देकर मानव और मानव के बीच में गहरी खाई खोद दी जिससे घृणा और ऊंच-नीच की दलदल में यह समाज फंसता चला गया। इस देश में सत्य भाषण करने वाली घर-घर में सेवा कर जीविका चलाने वाली 'जाबाल' नामक शूद्र नारी के पुत्र को 'सत्यकाम जाबाली' के नाम से परम सम्मान दिया गया था। उस देश के लोग फिर से वैदिक वर्णव्यवस्था को स्वीकार करें तो यह देश पुनः परम वैभव को प्राप्त कर सकता है।

वर्ण व्यवस्था और जतिवाद-एक विश्लेषण

प्रो० एस० आर० भट्ट
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रत्येक विचार एवं आचार के बाद एवं सिद्धान्त अपने युग की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं के अनुरूप उत्पन्न होते हैं तथा परिवर्तित परिस्थियों में उनके स्वरूप में परिवर्तन आमूल–चलू परिवर्त हो, परन्तु यह ही सम्भव है जब उनमें ऐसे तत्त्व हो जिनका सनातन मूल्य हो। अत: यदि किसी वाद या सिद्धान्त की सामयिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है तो उसका त्याग कर दिया जाना चाहिये अन्यथा वह अनावश्यक रूप से भार बनकर समाज में विकृति एवं असामञ्जस्यता को उत्पन्न करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी वाद या सिद्धान्त सर्वांगीण रूप से चिर स्थायी नहीं होता। भले ही उनमें निहित साध्य चिर स्थायी हो उन साध्यों की प्राप्ति हेतु प्रयुक्त साधन एवं इति कर्त्तव्यताओं में देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार भेद होता रहता है। अत: एक जागरूक समाज से यह अपेक्षा जा की सकती है कि वह इसका विचार करे कि उसके द्वारा परम्परा से प्राप्त विचार या आचार का सिद्धान्त किस रूप में और किस सीमा तक समसामयिक है तथा अपने विवेक द्वारा ग्राह्य अंशो को सुरक्षित रखकर त्याज्य अंशों का बहिष्कार करें। यह मानकर नहीं चला जा सकता है कि परम्परा में सब कुछ मूल्यवान है या मूल्य हीन है। बिना विवेक युक्त परीक्षा के ऐसी कोई भी मान्यता रूढ़िवादिता एवं हठधार्मिता ही होगी। इसी पृष्ठ भूमि में वर्तमान भारतीय समाज में चर्चित जातिवाद एवं उसके पूर्वरूप वर्णव्यवस्था पर विचार करना आवश्यक है।

वर्ण, जाति एवं वर्ग में भेद— प्रस्तुत चर्चा में हमें सर्वप्रथम भारतीय समाज में सदियों पूर्व व्यवहार में लाये गये वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त को भली भांति समझना होगा ताकि उसका उसके परवर्ती रूप जातिवाद तथा वर्तमान में व्याप्त वर्णव्यवस्था से भेद स्पष्ट किया जा सके।

वर्ण-व्यवस्था प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना में श्रम के विभाजन के लिए प्रयुक्त विधि है। जो मानव स्वभाव के गहन अध्ययन एवं सूक्ष्म निरीक्षण के उपरान्त स्थापित एक सुनिश्चित वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होती है। जीव-विज्ञान

एवं मनोविज्ञान द्वारा संपुष्ट यह आकट्य तथ्य है कि सभी व्यक्तियों की मानसिक एवं शारीरिक संरचनायें एक जैसी नहीं होती है। इसके अलावा मनुष्य की अनेक विध आवश्यकतायें होती है जिन्हें एक व्यक्ति अकेला ही अपने आप पूर्ति करने में समर्थ नहीं है। अतः स्वभाव एवं रूचि वैचित्र्य तथा क्षमता-वैविध्य के कारण कार्य-कौशल में विविधता स्वाभाविक होने से समाज में पुरुषार्थ सिद्धि हेतु श्रम का विभाजन अपरिहार्य है। प्राच्य मनीषियों ने समाज में कार्य या व्यवसाय प्राणाली का नियमन करने हेतु ही वर्णव्यवस्था तथा इसके चातुवर्ण्य प्रारुप को स्थापित किया था। इस व्यवस्था का लक्ष्य मानव को उसके गुण एवं प्रकृति के आधार उसके व्यवसाय का वरण या चयन करवाना था। वेद में शरीर के विभिन्न अंगों की तुलना से प्रतीकात्मक या रूपकात्मक ढंग से यही बात कही गई है। गीता में उल्लेखित गुण और कर्म के भेद से इसकी स्थापना इसी तथ्य को उद्घाटित करती है।

वर्णव्यवस्था गुण और कर्म पर आधारित थी न कि जन्म या अन्य कोई पैतृक आधार पर। अनुलोभ और प्रतिलोम की व्यवस्थायें तथा वशिष्ठ और वाल्मीकि के उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि के लिये पर्याप्त है। परन्तु शीघ्र ही वर्णव्यवस्था जन्म पर आधारित जातिवाद में परिवर्तित हो गई। वैसे यह रूपान्तरण अस्वाभाविक नहीं था क्योंकि वंश परम्परा से व्यवसाय-कौशल अधिक सुलभ एवं सुगम होता है। परन्तु मानवीय स्वभाव की विकृति के फल स्वरुप यह जातिवाद एक जड़, जटिल एवं कुत्सित मनो भावना और सामाजिक कुप्रथा में बदल गया। इसके आधार पर समाज में भ्रामक वर्गभेद स्थापित कर दिये गये और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को शोषण एवं उत्पीड़न किया जाने लगा।

वेद में शरीर के अंगों से तुलना करते हुए चातुवर्ण्य को उच्च या नीच की दृष्टि से प्रस्तुत नही किया गया है। वहां सही परिप्रेक्ष्य कार्य-वैविध्य ही है। यह हमारे समझ की विकृति है कि ब्रह्माण वर्ण को सर्वोच्च और शूद्र वर्ण को निकृष्ट समझा जाने लगा। संभवतः प्रारम्भ में ऐसा नहीं था क्योंकि जिसे बाद में निकृष्ट समझा गया उसे मेहत्तर कहा जाता था और आज भी समाज के उस अंक को जो कि महत्तर का ही विकृत रूप है, कहा जाताहै। तथा विवाहादि संस्कारों में उसका महत्पूर्ण स्थान माना जाता है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में 'आर्य' और 'दास' की न तो कोई विभेदक संज्ञाये थी और न इस प्रकार के संबोधनो के लिये कोई स्थान था। वस्तुत: किसी एक वर्ग को 'आर्य' और दूसरे वर्ग को 'दास' कहना वर्णव्यवस्था के विपरीत है।

वर्ण-व्यवस्था चातुवर्ण्य और जातिवाद में भेद—

वर्गभेद पर आधारित जातिवाद वर्णभेद पर आधारित चातुर्ण्य या इसी तरह की अन्य संभावित समाज व्यवस्था से पूर्णत: भिन्न है। इन दोनों के गुण-दोषों को एक दूसरे पर अध्यस्त नहीं किया जा सकता है। एक की स्वीकृतियां अस्वीकृति को दूसरे की स्वीकृति या अस्वीकृति नहीं माना जा सकता है।

यह संभव है कि तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए वर्णव्यवस्था का चातुवर्ण्यं रूप सर्वाधिक उपयुक्त था और आज की परिवर्तित परिस्थितियों में उसकी उपोगिता समाप्त हो गई हो परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि वर्णव्यवस्था के आधार में निहित श्रम-विभाजन तथा वर्ण (गुण-कर्म) के आधार पर श्रम-विभाजन के सिद्धान्त ही झुठला गये हो। ध्यान देने की वात यह है कि चातुवर्ण्य वर्णव्यवस्था का पर्याप्त नही है, उसका एक प्रकार है। वर्णव्यवस्था का मौलिक ढांचा एक चीज है और उसका चातुवर्ण्व का प्रारूप दूसरी चीज है। इसके प्रारूप वदल सकते है परन्तु इससे उसके ढांचे पर प्रभाव नहीं पड़ता है। वर्णव्यवस्था का चातुवर्ण्य के अलावा अन्य कोई प्रारूप हो सकता है। अत; बिना वर्ण के सिद्धान्त को छोड़े चातुवर्ण्य की व्यवस्था को छोड़ा जा सकता है और और किसी अन्य प्रकार की वर्णव्यवस्था को अपनाया जा सकता है। आज भी हम श्रमिक, किसान, व्यापारी, पर नौकरी करने वाले आदि अनेक वर्गों को पाते हैं जिन्हें वर्ण के आधार गठित कियाजा सकता है। व्यवसाय के चयन में अव्यवस्था न केवल कर्म के कौशल में बाधक हैं वरन् मानव स्वभाव के प्रतिकूल भी है। समाज में 'वोकेशनल गाइडन्स' की आज भी वैसी ही आवश्यकता

है जैसी पहिले थी और आज के समाज शास्त्रियों को इस बारे में विचार करना चाहिए कि ऐसा कौन सा वर्णव्यवस्था का प्रारूप हो सकता है जो आज की परिस्थितियों एवं मांगों के अनुरूप हो।

जातिवाद एवं हिन्दू धर्म—

जातिवाद को केवल हिन्दू धर्म के साथ जोड़ना भी भ्रामक है। जातिवाद केवल हिन्दूओं में ही नहीं दूसरे कई समाजों में भी है। जातिवाद का ही एक रूप रंग भेद, भाई भतीजावाद या अपने ही क्षेत्र या समुदाय के लोगों को बढ़ावा देना है। जातिवाद के आधार पर ऊंच-नीच का भेद भारत के सभी सम्प्रदायों में है चाहे वे मुसलमान हो या ईसाई। धर्म-परिवर्तन के भुलावे से इसका समाधान हो सका है और न उनकी असमानता दूर हो सकी है। क्रिश्चियन दलित लिबरेशन मूवमेन्ट आदि अनेकों संस्थायें इसके ज्वलन्त साक्ष्य है। धर्मान्तरण के बाद भी इनकी जातियां नहीं बदली है। जातिवाद के नाम पर केवल हिन्दू धर्म की ओर इशारा करना राजनीतिक चाल है।

जैसा कि उपर लिखा गया है, 'आर्य' एवं 'दास' का द्वैधीकरण हिन्दू धर्म पर आरोपित संज्ञायें है जिनका प्रयोग आज हेय उद्देश्यों के लिये किया जा रहा है। हमारा लोक तन्त्र वोटों की राजनीति के झंझावात में फंसकर नारों का लोकतन्त्र हो गया है। नारों की उपयोगिता जरूर होती है पर इसके लिये सही समय, परिस्थिति एवं संदर्भ आवश्यक है। जब तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।' अथवा सुभाषचन्द ने 'तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दिलवांउगा।' के नारे उद्घोषित किये तो इनकी सार्थकता स्पष्ट थी परन्तु जब आज 'आर्य पुत्र होश में आओ' या 'दास पुत्र होश में आओ' के नारे सड़कों के आस पास लिख पाये जाते हैं तो इनकी सार्थकता विचारणीय है। आज की परिस्थितियों में 'आर्य पुत्र' और 'दास पुत्र' के संबोधनों की क्या सार्थकता है ? आर्य पुत्र और दास पुत्र के सम्बोधन कभी भारत ही नहीं विश्व के अन्य देशों में भी प्रयुक्त होते रहे हैं पर आज न तो

कोई वर्ग विशेष आर्य है और न कोई वर्ग विशेष दास। हां आर्यत्व और दासत्व की संकुचित भावनायें कुछ स्थानों पर रूप रंग, जाति, वंश आदि के आधारों पर अभी भी है। मानव की गरिमा में सभी को सहभागी बनाने हेतु इन क्षुद्र एवं सकीर्ण भावनाओं को मिटाना आवश्यक है। इस समस्या का समाधान भेद दृष्टि या वर्ग संघर्ष नहीं हो सकता है। इससे अशिक्षित एवं भावुक जन को भुलावे में डाला जा सकता है और कुछ स्वार्थी तत्त्वों के लक्ष्यों की पूर्ति हो सकती है पर प्रभावित जन समुदाय का कल्याण नहीं हो सकता।

शिक्षा द्वारा जातिवाद का उन्मूलन

अन्त में दो बाते स्पस्ट कर देना आवश्यक है। जातिवाद व्यावहारिक जगत की व्यवस्था है। इसे किसी पारमार्थिक सत्ता या व्यवस्था से जोड़ना भ्रामक हैं। उन्नसवीं सदि के अद्वैत वैदात के विद्वान श्री नारायण गुरु ने अपने ग्रन्थ 'जाति-मीमांसा' में इसका विशद विवेचन किया है। जातिवाद वर्णव्यवस्था की विकृति होते हुए भी उसका अनिवार्य परिणाम नहीं है। जातिवाद हेय है अतः त्याज्य है। वर्तमान में हमारा लक्ष्य एवं प्रयास जातिवाद का उन्मूलन होना चाहिए न कि वर्णव्यवस्था की आलोचना। जातिवाद का एक भयंकर दुष्परिणाम अस्पृश्यता थी जिसका सौभाग्य से अन्त समीप है। परन्तु जातिवाद कुछ अंशों में समाप्त हो रहा है तो कुछ अंशों में राजीतिक कारणों से पुनः पनप रहा है। यह सुनिश्चित है कि जब तक जातिवाद का उन्मूलन नहीं होगा, सामाजिक सामञ्जस्य संभाव नहीं है। यह किसी एक वर्ग विशेष में दासत्व या हीनता की भावना उत्पन्न कर उनमें दूसरे वर्गों के प्रति विद्वेष एक कटुता पैदा कर संभव नहीं है। यह तब ही संभव है जब हम सभी अपनी मनोवृति में आमूल परिवर्तन लावे। मध्यकाल में प्रबुद्ध सन्तों ने इस दिशा में उपदेश दिये थे पर उनका प्रभाव सीमित और अल्प स्थायी रहा। आज पुनः वैसे सन्तों एवं उपदेशों की आवश्यकता है। यह परिवर्तन तथा कथित उच्च एवं नीच या अगड़े एवं पिछड़े दोनों वर्गों में होना है। जिसे निम्न वर्ग कहा जाता है उनमें हीनता और असुरक्षा की भावना को मिटाना हो। इसी तरह किस एक वर्ग को नीच या पिछड़ा मानने की जो मनोवृति है उसे भी समाप्त करना चाहिये। किसी भी वर्ग के लिये ऐसा कहना

या कहलाना अपमान-सूचक माना जाना चाहिये, गौरव की बात नहीं होनी चाहिये। कुछ आर्थिक लाभ को लेकर मंडल कमीशन की आड़ में अपने को पिछड़ा घोषित करवाने की होड़ स्वर्ण मृग की तरह लुभावनी ही है। मानव की गरिमा में सभी को सहभागी होना चाहिये। प्रत्येक मानव अमृत पुत्र है। प्रतिभा किसी वर्ग या जाति की बपौती नहीं है। सभी में किसी न किसी रूप में प्रतिभा अव्यक्त रूप से विद्यमान हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि इस अव्यक्त प्रतिभा के प्रस्फुटीकरण के लिये समुचित अवसर एवं साधन उपलब्ध होने चाहिए। हमारा प्रयास यह होना चाहिये कि जिन वर्गों या व्यक्तियों को ये अवसर एवं साधन प्राप्त नहीं है उन्हें सही शिक्षा द्वारा ऐसा करवाया जाये। शिक्षा का अभाव ही सब प्रकार के पिछड़ेपन की जड़ है चाहे वह सामाजिक हो या आर्थिक। हमें यह नहीं भुलाना चाहिये कि समाज का एक वर्ग यदि पिछड़ा रहता है तो उसका दुष्प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है और यह परस्पर विद्वेष एवं कटुता को जन्म देता है। अतः हमें अपना ध्यान शिक्षा तन्त्र पर केन्द्रित करना होगा। इसके अलावा मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

वर्ण व्यवस्था का भौतिक स्वरूप तपश्चर्या

रमेश कुमार लौ० (संस्कृत विभाग)
सनातन धर्म कालेज मुजफ्फर नगर

वैदिक वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक आधार तप और आध्यात्मिक उन्नति है। महाभारत में कहा भी है— "तप स्वधर्म वर्तित्वम्" (वन ३१३—८८) वैदिक ग्रन्थों में यज्ञकर्म और तपः को सृष्टि रचना का साधन बताया गया है, ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त (१०—९०) में ऐसा उल्लेख आया है कि विराज् पुरुष को साधन बना कर प्रजापति के प्रमाण रूपी देवों ने विविध प्रकार की सृष्टि रची। इसी यज्ञ साधन भूत पुरुष के विभिन्न अंगों से ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति हुई। प्रजाओं की उत्पत्ति के निमित्त प्रजापति द्वारा तप करने के उल्लेख उपनिषदों में मिलते है—

"प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽनत्यत।" (प्रश्न १- ३)

"सोऽव्यामयत बहु स्यां प्रजायेपेति। स तपोऽनत्यत। स तपस्नत्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।।। (तैः II ६)

अतः मानवी सृष्टि में वर्णव्यवस्था का तपोनिष्ट होना स्वाभाविक ही है।

महाभारत और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में वर्णों के प्रथक् कर्मों का जो निर्देश किया गया है उनके कुछ आजीविका परक कर्म है। तो कुछ स्वयावज कर्म है (मनु, १-८८-९१)। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये अध्ययन, यज्ञ और दान सामान्य कर्म है तो शूद्र के लिए सभी वर्णो के अनुकूल होकर सेवा करना ही कर्म बताया गया है। यज्ञ, दान और अध्ययन भी तप ही है और सेवा को कठिन तप मानकर भर्तृहरि ने कहा है— 'सेवाधर्मः पदम गहनो योगिनामत्यगम्यः' (नीतिशतकम्) धर्मशास्त्रों में वर्णो के योगाधिकार पदक कर्मो का निर्देष न होने से वर्णों को अपने कर्मों द्वारा तप और आध्यत्मिक उन्नति के लिए प्रवृत रहने का संकेत मिलता है। श्रीमद् भगवत में कहा ही है—"ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामा च नेष्यते।' (११-१७-४२) वर्णों की उत्कृष्टता का तारतम्य भी तपः प्रधानता पर आधारित है। भगवद्गीता में (१८,४२-४७) ब्राह्मण के लिये, शमो दमस्तपः इत्यादि नौ कर्म स्वभावज बताये गये हैं, क्षत्रिय के लिये शौर्य तेजो घृतिदाक्ष्यम् इत्यादि सात कर्म, वैश्य के लिये 'कृषि गोरक्ष्य

वाणिज्यम् ये तीन कर्म और शूद्र के लिये 'परिचर्यात्मक' यह जीविका और साधना परक ही स्वभावज कर्म बताया गया है। ब्राह्मण द्वारा स्वभावज कर्म न करने से उसके पतित होने के बहुत अधिक अवसर हो जाते है इसलिए उससे साधना और वैराग्य प्रवृत्ति की अधिक अपेक्षा की जाती है। धर्मशास्त्रों में श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार करने वाले ब्राह्मण के लिये पूर्वरात्रि में ब्रह्मचर्य पूर्वक संयम रखना और श्राद्ध भोजन के बाद गायत्री तप करके शुद्धि का विधान किया जाता है। सभी वर्णों का अपने स्वभावज कर्म करके अध्यात्मिक उन्नति पर समान समान अधिकार है उसमें कोई भेद भाव नहीं है। भागवद् गीता में प्रति पादित है —

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।" और स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' (१८,४५-४६)

स्वधर्म 'विगुण' होने पर भी 'श्रेयान्' है और 'सहज कर्म' सदोष होने पर भी त्याज्य नहीं है।

छान्दोग्य उप. में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं कि ब्राह्मण का सम्मान उसके अध्ययन, आर्त्विज्य, रमणीया चरण और ब्रह्म विद्या के गुणों के कारण होता है। आरुणि ने श्वेकेतु को कहा है कि उनके वंश में कोई ब्रह्म बन्धु नहीं हुआ अतः उसे गुरुकुल में वास कर ब्रह्म विद्या प्राप्त करनी चाहिये।

क्षत्रिय ब्रह्म वेता भी अपने पास आये ब्रह्म विद्या के जिज्ञासु ब्राह्मणों को पूज्य मानते थे। अवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय ने ब्राह्मण जिज्ञासुओं को सम्मान पूर्वक शिक्षा दी थी। (छन्दो १,८,२ और ५,३,७) प्रवाहण जैवलि ने गौतम को शिक्षा देने के बाद बहुत साधन देने की इच्छा की परन्तु गौतम ने मानुष वित्त को ठुकरा दिया। तपोबल से प्राप्त ब्रह्म तेज के कारण ही निरीह रैक्व को एक छकड़े के नीचे विश्राम करते हुये राजा जानश्रुति ने पहिचान लिया और उनसे संवर्ग विद्या प्राप्त की।

महाभारत में समाहित अनेक ग्रन्थ रत्नों में एक पराशर गीता भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें चारों वर्णों के विविध कर्म और तपोबल से उत्कर्ष की प्राप्ति का विशद वर्णन है। (शान्ति, मोक्ष, धर्म, पर्व २९०-२९८) जनक ने पराशर से प्रश्न किया कि जब संतान के रूप में पिता ही जन्म लेता है तो ब्रह्मा से उत्पन्न प्रजायें ब्राह्मण

के अतिरिक्त अन्य वर्णों वाली कैसी बनी ? इसका कारण पराशर ने तप का अपकर्ष बताया है —

(तपसस्त्वपकर्षेण जाति गृहणतां गता; २९६-३)

चारों वर्णों में कहीं कहीं संकर हो जाने से अन्य जातियों की उत्पत्ति हुई है। जिनमें-अतिरथ, अम्बष्ठ, निषाद, सूत, मागध, चाण्डाल गिनाये गये है।

इस प्रसंग में पराशर गीता के वर्णों की आजीवका के विवरण का उल्लेख करना भी रुचिकर होगा। ब्राह्मण को दान से क्षत्रिय को युद्ध में विजय से वैश्य को न्याय की कमाई से और शुद्र को सेवा करने से प्राप्त थोड़ा भी अर्थ लाभ प्रशसनीय होता है और धर्म के लिए उसका उपयोग हो तो पुष्कल फल मिलता है। शुद्र की आजीवका का यदि और कोई साधन न हो तो वह व्यापार, पशु पालन अथवा किसी कारीगिरी के काम से निर्वाह कर सकता है। (२९४,—१—४) तपस्या करने में सभी वर्णो का समान अधिकार है क्योंकि इससे स्वर्ग का मार्ग मिलता है। "तप: सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते" जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्ग मार्ग प्रर्वतकम्" (२९४—१५) साधारण धर्मों के पालन में शूद्र सहित सभी का अधिकार है—"आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमाद: संविभागिता। श्राद्धकर्मातिथ्यं च सत्यमक्रोध एव च॥

स्वेषु दारेषु सन्तोष: शौचं नित्यानसूयता।

आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मा: साधारणा: नृप॥ (२९६, २३—२४)

पराशर शूद्र को जगत् के पालनकर्त्ता विष्णु का रुप मानते हैं।

"वैदेह कं शूद्रमुदाहरन्ति द्विजा महाराज श्रुतोपपन्ना:।

अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं विश्वस्य विष्णु जगत प्रधानम् (२९६-२८)

महाभारत के यक्ष युधिष्टर संवाद प्रसंग में भी वर्ण के उत्कर्ष के लिए सदाचार को ही महत्व दिया गया है वृतं यत्नेन सरक्ष्यं ब्राह्मशोन विशेषत: अक्षीणवृतो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हत:॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्त: सशूद्राददतिरिचयते।

योऽग्निहोत्र परोदान्त: स: ब्राह्मणइतिस्मृत:। वन ३१३-(१०९—१११)

पात० महाभाष्य में उद्धृत एक पद्य भी ब्राह्मणय कारकों में तप को ही महत्व देता है।

"तप: श्रुतंच योनिश्चेत्ये तद् ब्राह्मणयकारकम्।

तप: श्रुताभ्यां यो हीनो पातिब्रह्मण एव स:।" (८.२.६)

अत: वर्ण कर्म के तपोमूलक आधार को ध्यान में रख कर ही हमें इस वैदिकी व्यवस्था के महत्व को समझना चाहिये।

वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था : एक विश्लेषण

डा० एस० एन० थपलियाल

वर्णाश्रम व्यवस्था मनुष्य के सामाजिक एवं व्यक्तिगत आचार विचार से संबंधित है विशेषत: हिन्दू जाति के नैतिक संबन्धों की आधार शिला है भारतीय नीति शास्त्र के स्वरुप को स्पष्ट करते हुये प्रो० एस० के० मैत्र ने लिखा है कि हिन्दुओं का नीति शास्त्र आध्यात्मिक जीवन के एक तीन प्रकार की व्यवस्था पर आधारित है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक नैतिकता, व्यक्तिगत नैतिकता के क्रमिक स्तरों को पार करते हुए अनन्त जीवन की प्राप्ति की जाती है। इस प्रकार हिन्दू नीतिशास्त्र सामाजिक नीतिशास्त्र पहले है, तत्पश्चात् मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिगत नीति शास्त्र है तथा अन्त में जिसका अवसान ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति में होता है जहां जाकर आध्यात्मिक जीवन की परिसमाप्ति हो जाति है।"

प्रो० मैत्र के उक्त कथन में वर्णाश्रम धर्म की और संकेत है। सामाजिक नैतिकता के अन्तर्गत वर्णधर्म आता है जबकि मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिगत नैतिकता के अन्तगत आश्रम धर्म आता है और दोनो प्रकार के धर्मो की परिसमाप्ति अनन्त जीवन या मोक्ष में हो जाती है। वर्णाश्रम धर्म वाध्यता मूलक धर्म हैं जिसके पालन के लिये समाज एवं उसमें रहने वाले व्यक्ति वाध्य है। इसके अतिरिक्त, कतिपय धर्म भी व्यक्ति के लिये पालनीय हैं जिन्हें साधारण धर्म अथवा सामान्य धर्म कहा जाता है। ये धर्म उस प्रकार के धर्म है जिनका पालन करना व्यक्ति के लिये अपेक्षित है किन्तु जिनके पालन के लिये व्यक्ति वाध्य नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था एक अनिवार्य व्यवस्था है।

वेदों में सम्पूर्ण मानव समाज को एक विराट पुरुष का रुप दिया गया है। समाज को एक विराट् पुरुष का रुप दिया गया है। समाज के विराट स्वरुप कीं परम पुरुष के रुप मे उद्भावना कीं गई है। पर ब्रह्म परमात्मा अपरिमेय एवं अलक्षित है। इसका उपलक्षण बताते हुए पुरुष सूक्त में कहा गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

वह परम पुरुष सहस्र सिरोंवाला, सहस्र नेत्रों वाला, सहस्र पैरों वाला है। वह सब ओर से भूमि को परिव्याप्त करके अनन्त में स्थित है। इस ऋचा में सहस्र शब्द का प्रयोग लक्षणा में किया गया है जिसका वास्तविक अर्थ अनन्त अपरिमित है।[2] अगली ऋचा में परम पुरुष को इसी प्रकार की लक्षणा में कालातीत बताते हुए कहा गया है कि वह परम पुरुष भूत, वर्तमान और भविष्यत् के प्राणिपदार्थों में विद्यमान है और उनसे परे भी अधिष्ठित है।[3] पुनः तीसरी ऋचा में परम पुरुष को दिगातीत या विश्वातीत कहा गया है और उपलक्षणा द्वारा कहा गया है कि उस परमात्मा के एक पाद से विश्व की उत्पत्ति हुई है और शेष तीन पाद (चतुर्थांश) दिव्य अमृत लोक में व्याप्त है। यदि इसे अमिधा में कहा जाये तो कहना होगा कि उस परम पुरुष का अंश मात्र इस विश्व के रुप में विस्तीर्ण है और शेष भाग दिव्य लोकों को व्याप्त करके स्थित है।

सूत्र की पांचवी ऋचा में ब्रह्म की जगत् रूप में अभिव्यक्ति का सिद्धान्त वर्णित है। जगत् में व्याप्त ब्रह्म के एक पाद (अंश मात्र) से स्थावर जंगम जीव-जगत् की सृष्टि हुई। इस विश्व सृष्टि को विराट पुरुष का नाम दिया गया है। सारे विश्व के प्राणि-पदार्थ इसी पुरुषाधिष्ठित विराट रुप के अङ्गभूत है।

परम पुरुष से विश्व की इस प्रकार उत्पति के सिद्धान्त को तद्वद रुप में पाश्चत्य दार्शनिक स्पिनोजा ने भी उदभावित किया है। उसका द्रव्य और पर्याय का सिद्धान्त इस प्रकार है—

ईश्वर द्रव्य रुप है उनके गुण और पर्याय सब और छिटके है। ईश्वर में अनन्त गुण है। मानवी बुद्धि ईश्वर के दो ही गुण पर्यायों को जान सकती है। ईश्वर के अचित् और चित् इन दो पर्यायों को वह जानती हैं। इसलिये मानव बुद्धि अनन्त[5] गुण मय ईश्वर रुप द्रव्य को गुण पर्यायों के रुप में देखती है। वस्तुतः विश्व ईश्वर का एक अणु रुप है।

वर्ण विभाजन की अपरिहार्यता

वर्ण विभाजन की पद्धति आधुनिक समय में उतनी ही स्वाभाविक एवं अनिवार्य है जितनी पूर्व युग में थी। आधुनिक समय का विभाजन वर्ण विभाजन न होकर वर्ग विभाजन है। समाज में जो व्यक्ति उच्च मेधा-सम्पन्न होते हैं उन्हें उच्च प्रशासकीय सेवा के लिये चुना जाता है। इससे कुछ कम मेधा सम्पन्न व्यक्तियों को द्वितीय वर्ग की प्रशासकीय सेवा के लिये चुना जाता है उससे कम वाले व्यक्तियो को तृतीय वर्गीय सेवा मे नियुक्ति दी जाती है और निम्म मेधा सम्पन्न व्यक्ति चतुर्थ श्रेणी में रखे जाते है। यह चयन आपात क्रम अथवा यथागत क्रम से किया जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान में बुद्धि लब्धि (IQ) के माध्यम से योग्यता का मापन किया जाता है और १४० तक बुद्धि लब्धि वाले व्यक्ति को मेधावी १०० से १४० तक बुद्धि लब्धि वाले व्यक्ति को बुद्धिमान, १०० तक बुद्धि लब्धि प्राप्त व्यक्ति को सामान्य और इससे कम बुद्धि लब्धि वाले व्यक्ति को मन्द बुद्धि करार दिया जाता है। यह बुद्धि लब्धि का मापदण्ड व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुकूल पद पर प्रतिष्ठित करने में प्रयुक्त होता है। अतः वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की दृष्टि से ही उपयोगी नहीं है अपितु योग्यता एवं क्षमता के आधार पर व्यक्तियों के निवेश में भी उपयोगी है गीता में भी वर्णधर्म का विषय समझाते हुए अन्त मे कहा गया है:—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्व कर्म निरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु॥

अर्थ यह है कि मनुष्य अपने-अपने वर्णानुभारी कर्म करते हुए मोक्ष रुप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है– और वह सिद्धि जिस प्रकार प्राप्त करता है उस उपाय को तू सुन।[6]

यतः प्रवृत्तिर्भूतानांयेन सर्वमिदंततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दतितानवः॥

यथा जिस परमात्मा से प्राणियों की प्रवृत्ति निष्पन्न हुई तथा जिसने यह सब कुछ व्याप्त है उस परमात्मा को अपने वर्णाश्रमधर्म विहित कर्म के अनुष्ठान से पूजकर मनुष्य भगवत्प्राप्ति रुप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।[7]

वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक संगठन की एक नितान्त वैज्ञानिक व्यवस्था थी। इससे समाज में समता, श्रम-विभाजन शान्ति और सुव्यवस्था रहती थी। राजा वर्ण तथा आश्रम धर्म की अधिष्ठाता अर्थात् गुरु कहलाता था। वर्णों और आश्रमों की

सुचारु व्यवस्था चलाना राज्य-व्यवस्था का प्रमुख अंग था। महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में वर्णाश्रम पालन संबंधी राजा के कार्यों का वर्णन करते हुए लिखते है:—

स राजा पुरुषों दण्ड: स नेता शासिता च सद
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूच

अर्थात् जो दण्ड हैं, वही पुरुष राजा, वही न्याय का प्रचार कर्त्ता और सबका शासन कर्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है।[8]

महर्षि आगे कहते हैं :—
दुष्येसु: सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतव: ।
सर्वलोक प्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात् ।।

अर्थात् बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाय। दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जावे।

वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था

वस्तुत: जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था पर आरोपित है। वर्ण व्यवस्था किसी भी जाति में जन्मे मनुष्यों को उनके व्यक्तिगत गुण-कर्मो के आधार पर निष्पक्ष रुप से वर्ण प्रदान करती है। जिस प्रकार सेना में भर्ती के समय रिक्रूटिंग आफीसर के समक्ष सभी अभ्यर्थी एक जैसे होते हैं। वह उनको लाईन में खड़ा कर उनके शारीरिक गठन व्यक्तित्व एवं बुद्धि की परीक्षा कर उन्हें भिन्न-भिन्न सेवाओं के लिए संस्तुत करता है। कहा भी गया है कि :—

जन्मना जायते शूद्र: कर्मणा द्विज उच्यते ।

जन्म से सभी व्यक्ति शूद्र भाव में उत्पन्न होते है किन्तु अपने जन्मजात गुणों की अभिव्यक्ति करने पर वे स्वयं को भिन्न-भिन्न वर्णो के अनुरुप बनाते हैं। अत: वर्ण व्यवस्था विशेषत: वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था का स्वरूप आज की जाति व्यवस्था से सर्वथा भिन्न थी। वर्ण व्यवस्था का सच्चा रूप जाति-व्यवस्था में नहीं देखा जा सकता। जाति व्यवस्था में वर्ण-संकरता के आ जाने का अन्देशा रहता है। जाति व्यवस्था में किसी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए व्यक्ति में ब्राह्मणत्व का आरोपण किया जाता है चाहे उसमें ब्राह्मण के अपेक्षित गुण हों या न हों। ऐसी दशा में वर्ण-व्यवस्था के आदर्श का ह्रास होना अपरिहार्य हैं, साथ ही सामाजिक सद्‌भाव में न्यूनता आ जाती है। बड़े दीर्घ काल से चली आ रही जाति व्यवस्था के दूषण कालान्तर में भारी विस्फोट का कारण बन जाते हैं। आज मानव समाज इसी दूषण से विकृत है।

'भास-कालिदास एवं भवभूति के नाटकों में वैदिक वर्ण-व्यवस्था'

डा० बीना बिश्नोई
प्रवक्ता महिला सकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

मानव संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार जिनका कर्ता ब्रह्मा को तथा द्रष्टा चार ऋषियों को स्वीकार किया गया है। समस्त मानव समाज के अभ्युत्थान के लिए वेदों में अनुपम उपदेश तथा सुव्यवस्थित व्यवस्था प्राप्त होती है। चारों वेद मानव समाज के लिए प्रेरणा-स्त्रोत व जीवन निधि के रुप में मान्य है। भारतीय संस्कृति में समग्र मानव-समाज चार वर्णों में व्यवस्थित है।

वेदों की अनुगामि-ता को स्वीकार कर मानव-समाज व्यवस्था का श्रेष्ठतम स्वरुप प्रतिष्ठापित करने वाले मनु ने भी मनुस्मृति में चारों वर्णों का विशद् विवेचन करते हुए वर्ण व्यवस्था का महत्व प्रतिपादित इस प्रकार करते हुए) कहा कि सृष्टि के प्रारम्भ में पंच महाभूतों व पंचतन्मात्राओं सहित इस संसार के क्रमशः उत्पन्न होने पर ईश्वर ने जीव को जिस कर्म में लगाया वह पुनः पुनः उत्पन्न होकर उसी कर्म को ऐसे ही स्वयं करने लगा जैसे ऋतु परिवर्तन के समय ऋतु स्वयं अपने चिन्ह धारण कर लेती है। मनु ने विश्व की रक्षा के निमित्त प्रत्येक वर्ण के पृथक पृथक कर्म निर्दिष्ट किए। व ब्राह्मणों की श्रेष्ठता ज्ञान से क्षत्रियों की शक्ति से वैश्यों की धन धान्य से और शूद्रों की आयु से मानी है। भगवद्‌गीता में भी गुणों व कर्मों के अनुसार सृष्टि रचना में चार वर्णों को समाहित किया गया है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः

चतुर्वेदों स्मृतियों व पुराणों आदि के द्वारा स्वीकृत चतुर्वर्णों में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में श्रेष्ठ स्थान मुख को प्राप्त है, उसी प्रकार स्वयं ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण सभी वर्णों में श्रेष्ठ स्थान ब्राह्मण को प्राप्त है। मनु ने ब्राह्मण को जीव लोक के सभी प्राणियों में श्रेष्ठ प्रदर्शित किया है।

"भूतानां प्राणिन: श्रेष्ठा: प्राणिनां बुद्धि जीविन: ।
बुद्धिमत्सु नरा: श्रेष्ठा: नरेषु ब्राह्मणा: स्मृता. ।।

मनु ने ब्राह्मण के अध्ययन, अध्यापन, दान आदि ६ कर्म नियत किये हैं व दस वर्ष के ब्राह्मण बालक को सौ वर्ष के वृद्ध क्षत्रिय से बड़ा बताया है ।

'ब्राह्मण दशवर्ष तु शतवर्ष तु भूमिपम् ।
पिता पुत्रौ बिजानीयाद्, ब्राह्मणस्तु तयो: पिता ।।

वैदिक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में वेदों व स्मृतियों से प्रेरणा प्राप्त कर आदिकाव्य रामायण व महाभारत की रचना हुई जिनसे ब्रह्मा प्रसंग लेकर व वैदिक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न कवियों ने समय-समय पर अपनी कल्पना-शक्ति व काव्यात्मक प्रतिभा के आधार पर विभिन्न काव्यों व नाटकों की रचना की, उन्हीं में से भास, कालिदास व भवभूति के नाटक हैं। जिनमें हमें वैदिक वर्ण-व्यवस्था का उज्जवल रुप व वैज्ञानिक आधार मिलता है। मनु के समान भास ने भी पञ्चरात्र' नाटक में भीष्म पितामह के द्वारा गुरु द्रोण को ब्राह्मण होने के कारण बड़ा प्रदर्शित कराया है। चारुदत्त नाटक में भास ने ब्राह्मण को पूजनीय बताते हुए कहा है- 'पूजनीय: खलु स जन:' तथा 'मध्यम व्यायोग' नाटक में राक्षस घटोत्कच माता की आज्ञा होने पर भी ब्राह्मण को पृथ्वी पर सर्वोत्तम व पूजनीय मानते हुए उसके वध के प्रति शंकायुक्त हो रहा है। भवभूति ने भी 'महावीर चरित' नाटक में ब्राह्मण वध निषिद्ध बताया है तथा ब्राह्मण को सोमयज्ञ करने वाले ब्रह्मज्ञानी बताया है व इसी नाटक में अन्य स्थान पर ब्राह्मणों के आशीर्वाद को सब अस्त्रों से ऊपर बताया है। उत्तर रामचरित' में ब्राह्मण की वाणी को दिव्य वाणी बताया गया है। भवभूति ने उत्तर राम चरित में लव व सुमन्त्र के वार्तालाप के माध्यम से परशुराम को चारों वर्णों के अनुरुप बताते हुए वर्ण व्यवस्था का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार भास के नाटक अविमारक में देवर्षि नारद के चरित्र का वर्णन ब्राह्मण के गुणों के अनुरुप किया है। महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में प्रत्येक शुभ कार्य व शिक्षा प्रदर्शन से पूर्व ब्राह्मण पूजा अनिवार्य बताई है।

इसी प्रकार भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' में लव व चन्द्रकेतु को अश्वमेध यज्ञ के नियमानुसार युद्ध के लिए प्रेरित होने व पुनः भ्रातृ प्रेम में विह्वल होने पर कहा है कि वीरों का वीर रस पूर्ण कठोर कर्तव्य स्नेह मर्यादा का उल्लघंन करने वाला होता है। मनु ने प्रत्येक वर्ण के लिए अलग--अलग वेष-भूषा का वर्णन किया है। (क्षत्रियों के लिए मूंज की बनी मेखला पहनने का निर्देश दिया है)। भास ने भी 'अविमारकम्' नाटक में अविमारक की पहचान क्षत्रियोचित वेश व गुणों से ही कराई है। महावीर चरित नाटक में भवभूति ने मनु के ही समान दुर्दान्तों का दमन, यज्ञ समान व क्षत्रियों का कर्तव्य बताया। कालिदास ने क्षत्रियतेज को 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में इतना अधिक बताया है कि सामान्यजन द्वारा उनके समीप जाना भी कठिन है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में क्षत्रियों के लिए वानप्रस्थ आश्रम में वन में रहना कुलव्रत बताया गया है।

मनु ने वैश्य के लिए व्यापारिक शिक्षा का ज्ञान व अच्छे व्यापार के लिए विभिन्न भाषाओं का ज्ञान होना अनिवार्य बताया है, जिससे कि देश विदेशों तक व्यापारिक उन्नति, देश की प्रगति व अधिक धन उपार्जन हो सके। वैश्य को अन्न उत्पादन व खपत का उचित ज्ञान होना भी मनु ने आवश्यक कहा हैं। मनु ने वैश्य का कर्तव्य धर्म पूर्वक धन की वृद्धि करते हुए जीवों के लिए अन्न उत्पादन करना बताया है। महाकवि भास ने अपने नाटकों में ब्राह्मण की श्रेष्ठता क्षत्रिय की वीरता के साथ वैश्य की गुणवत्ता भी प्रदर्शित की गई है। चारुदत्त नाटक में (वैश्य पुत्र) वणिक संवाहक बसन्त सेना द्वारा परिचय पूछे जाने पर गर्व से अपना परिचय वणिक पुत्र बताता है व अपने वैश्योचित कर्म का उल्लेख गौरवान्वित होकर करता है।

मनु ने चतुर्थ वर्ण शूद्र मानकर उसका कर्म उपरोक्त वर्णों की सेवा द्वारा जीविका उपार्जन बताया है। मनु ने यद्यपि शूद्र को निम्न जाति वाला माना है, परन्तु शूद्र भी अच्छे कार्य करे तो उत्कृष्ट जाति को प्राप्त कर सकता है उन्होंने आगे कहा है कि यदि ब्राह्मण भी कोई निन्दनीय कर्म करे तो वह ब्राह्मणत्व को छोड़कर शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है साथ ही मनु का कहना है कि वित्त, बन्धु, वय कर्म और विद्या इन पांचों गुणों की अधिकता जिस वर्ण में होगी वही मान्य होगा।

भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' नाटक में शूद्र शम्बूक को तपस्या करते हुए दिखाया है। शूद्र को भी तपस्या का अधिकार है। वह तपस्या से ब्राह्मण के समान ऊंचा उठता हुआ प्रदर्शित किया गया है। उसकी तपस्या का प्रतिफल दिखाया है भगवान राम के दर्शन, जिन्हें प्राप्त करने के लिए सब तपस्या करते हैं वे स्वयं उसे ढूंढते हुए आते हैं व ब्रह्मलोक प्राप्त करने का आशीर्वाद देते हैं। इस प्रकार मनु का यह कथन कि दस दशक में पहुंचा हुआ शूद्र भी मान्य होगा, भवभूति ने शम्बूक के माध्यम से सत्य सिद्ध किया है।

वेदों व स्मृतियों में चार वर्णों के अतिरिक्त वर्णेतर जातियों का वर्णन भी मिलता है। जिन्हें शूद्र से भी निम्न माना गया है, यजुर्वेद में इन्हें अरण्य से सम्बोधित किया जाता है। व्यास स्मृति में इन्हें अन्त्यज व मनुस्मृति में मनु ने निम्न जातियों को वर्णसंकर कहा है व वर्णेतर जातियों के अन्तर्गत माना है। भास के सभी नाटकों में अन्त्यज कहलाने वाली जातियों का वर्णन स्थान - स्थान पर मिलता है। भवभूति के नाटकों में भी वर्णेतर जातियों के अन्तर्गत नट भट सूत आदि का वर्णन मिलता है। कालिदास ने वर्णेतर जातियों में सूत और धीवर का वर्णन किया है।

महाकवि कालिदास ने अन्त्यज के माध्यम से वंश परम्परागत कार्यों के महत्व का अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार द्वारा बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म में आस्थावान व गर्वित होना चाहिए एक मछली पकड़ने वाले सामान्य नागरिक के कथन के माध्यम से कालिदास ने समाज को सन्देश दिया है। यहां कालिदास ने भास की 'अविमारक' नाटक में अन्त्यजों के विषय में यह उक्ति कि अकुलीनों में चरित्र व ज्ञान का अभाव होता है, गलत सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार भवभूति ने भी उत्तर राम चरित में शूद्र शम्बूक को तपस्वी दिखाकर भास के उक्त कथन 'अकुलीनों' के चरित्र निर्मल नहीं होते' को अनुचित ठहराया है। व्यवहारिक रुप में प्रत्येक व्यक्ति चाहें वर्णों के कर्म नित्य प्रति करता है।

वैदिक संहिताओं में वर्ण-व्यवस्था

डा० सत्यव्रत राजेश
दयानन्द नगरी, ज्वालापुर-हरिद्वार

वैदिक संस्कृति के अनुसार मानव जीवन को दो प्रकार से विभक्त किया गया है, एक कार्य की दृष्टि से और दूसरा आयु की दृष्टि से। कार्य की दृष्टि से किए विभाजन को वर्ण तथा आयु की दृष्टि से किए विभाजन को आश्रम कहते हैं। इस लेख में वर्ण के विषय पर ही विचार किया जाएगा। समाज संचालन के लिए चार प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, वे है—शिक्षक, रक्षक, पोषक तथा सेवक। या यों कहो कि समाज के सम्मुख चार समस्याएँ खड़ी मिलती हैं। वे है अज्ञान, अन्याय, अभाव तथा असहयोग। इनके निवारण की जो दीक्षा लेते हैं वे क्रमणः ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कहलाते हैं। यह वर्ण विभाजन भी जन्म के आधार पर न होकर कार्य अथवा रुचि के आधार पर होता है। क्योंकि बाध्य करके कोई कार्य कराया जाएगा तो व्यक्ति न तो उस कार्य को ठीक प्रकार से कर सकेगा तथा न उस कार्य को करके उसे प्रसन्नता ही होगी। इसके विपरीत रुचि के अनुसार कार्य मिलने पर व्यक्ति उसे ठीक ढंग से भी करेगा तथा उसे करने में उसे प्रसन्नता भी होगी। यह भी यथाथ है कि शिक्षक तथा उपदेशक के बिना समाज में अज्ञान तथा अन्ध परम्पराएं पैर फैलाएंगी रक्षक के बिना मत्स्यन्याय फैल जाएगा, बड़ा छोटे को खा जाएगा, अन्याय अत्याचार तथा अराजकता का बोल बाला हो जाएगा तथा सम्मार्ग एवं विशुद्ध परम्पराओं का लोप हो जाएगा तथा लोग मनमानी करने लगेंगे। पोषक के बिना अभाव की विभीषिका समाज को निगलने को तैयार हो जायगीं, धर्म कर्म का लोप हो जाएगा तथा मानव भेड़िया बन जाएगा। सेवक के बिना मुख्य काम करने वाले चूल्हे चौके, वस्त्र तथा बरतन धोने तथा झाड़ू बुहारी में लगे रहेंगे। इस प्रकार राष्ट्र के मस्तिष्क उच्च वैज्ञानिक कार्यों के लिए कम से कम समय निकाल सकेंगे और राष्ट्र की अकथनीय हानि होगी। इसी लिए वेद ने चार वर्णों में समाज को विभक्त किया है जो पूर्णतः वैज्ञानिक है।

वेद में अनेक स्थानों पर चार वर्णों का उल्लेख हुआ है। एक मन्त्र में सरल मार्ग से चलने वाले तथा विद्या रूपी धन वाले आचार्य से कहा गया है– कि क्या आप मुझे

जन समुदाय के अन्दर गोपाल (शूद्र) बनाओगे या राजा (क्षत्रिय) बनाओगे या सोमपायी ऋषि (ब्राह्मण) बनाओगे या अमृत-असीम धन दोगे ?[1]

हमारे ब्राह्मणों में दीप्ति-तेज भर दो, हमारे क्षत्रियों मे तेज भरो, वैश्य और शूद्रों में तेज भरो तथा तेज से मुझे भी तेजस्वी बना दो।[2] इस मन्त्र में भी चारों वर्णो का नामोल्लेख पूर्वक कथन हुआ है। एक मन्त्र में परमेश्वर कहते है कि– जैसे मैंने इस कल्याणी वाणी अर्थात् वेद को सब मनुष्यों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, शूद्र तथा अर्य अर्थात् वैश्य– अर्यः स्वामिवैश्ययोः अष्टाध्यायी के लिए उपदेश किया है (वैसे तुम भी सबके लिए इसका उपदेश करो)।[3] यजु० ३०,५ में भी चारों वर्णो का उल्लेख करते हुए कहा है कि ब्रह्मज्ञान और वेदप्रचार के लिए ब्राह्मण राज्य संचालन के लिए क्षत्रिय पशु तथा प्रजापालन के लिए वैश्य तथा प्रेम से सेवा करने तथा शुद्धि करने वाले शूद्र को तप के लिए सब राष्ट्र में उत्पन्न करो।[4] एक अन्य मन्त्र चारों वर्णों का उल्लेख करते हुए कहता है– मुझे देवों–विद्वानों ब्राह्मणों में प्रिय बना, क्षत्रियों में प्रिय बना, सब देखते हुओ का प्रिय बना तथा शूद्र तथा वैश्यों का प्यारा बना।[5] अर्थात् वेद के ही एक मन्त्र में हीं दर्भ के समान पापियों को चुभने वाले राजा से कहा है— आप मुझे ब्राह्मण क्षत्रिय शूद्र तथा वैश्यो का प्रिय बनाओं।[6]

इस प्रकार वेद के अनेक मन्त्रों में वर्णचतुष्टय का उल्लेख मिलता है। कहीं एक दो या तीन वर्णो का भी उल्लेख हुआ है यह प्रसंगानुसार ही है।

१– कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद्राजान मधवन्नृजिषिन्।
कुविन्म ऋषि पपिवासं सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः। ऋ० ३,४३,५।।

२- रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयिधेहि रुचा रुचम्।।

३– यथेमा वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।।यजु० २६,२।।

४– ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्योवैश्य तपसे शूद्रम।।

५– प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।। ।।अ० १९ ६२.१।।

६– प्रिय मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय ।।अथर्व० १९.३२.८।।

मुख के समान गुणों वाला इस समाज में ब्राह्मण है, भुजाओं के गुण वाला क्षत्रिय, अरु तथा पेट के गुणयुक्त वैश्य तथा पैरों के गुणवाला शूद्र है। मुख में तीन गुण विशिष्ट हैं– ज्ञान, तप तथा त्याग। सारी ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र मुंह है, चेहरा है। कान नेत्र जिह्वा नासिका का मुख्यतया तथा त्वचा का सामान्यता केन्द्र मुंह ही है। इसी प्रकार समाज में ज्ञानविशिष्ट व्यक्ति ब्राह्मण माना जाएगा। मुख का दूसरा गुण है तप। शीत काल में सारे शरीर को वस्त्रों से ढकते हैं किन्तु यह यपस्वी सदैव खुला रह कर शीत ताप वर्षा के थपेड़ों को सहता रहता है। मुख का तीसरा गुण है त्याग। उत्पन्न होने से लेकर मरण पर्यन्त व्यक्ति जो भी खाता है वह मुंह से हीं खाया जाता है। किन्तु मुंह अपना कार्य करके उसे पेट को दे देता है। अपने पास नहीं रखता। ये तीन गुण जिसमें विशिष्ट हो वह समाज में ब्राह्मण माना जाएगा।

क्षत्रिय को भुजा के गुण वाला कहा गया है। हाथ के काम शोधन, कण्टकमोचन तथा ताड़न विशेष हैं। जैसे कि पिता घर का स्वामी होते हुए भी सन्तान का ध्यान रखना है तथा उनका पालन करता है उसी प्रकार के व्यवहार करने वाले को क्षत्रिय माना जाएगा।

वैश्य को ऋग्वेद तथा यजुर्वेद ने ऊरु तथा अथर्ववेद ने 'मध्यम्' अर्थात् उदर कहा है। ऊरु का कार्य गमनागमन है तथा पेट का काम है परिष्कृत करके अनुपयोगी को पृथक् करना तथा उपयोगी को शरीर के अनुरुप बना कर सारे शरीर को बांट देना। इसी प्रकार जो व्यक्ति व्यापारार्थ देश विदेश में आए जाए, वहां से उपयोगी वस्तुओं ला कर उसे समाज के अनुरुप बनाकर फिर सारे समाज में वितरण करे तथा जो यहां उपयोगी नहीं है या उपयोग से अधिक है उसे बाहर विदेश में निकाल दे, वह व्यक्ति वैश्य कहा जायेगा।

पैरों का काम मुख, बाहु तथा उदर आदि के भार को वहन करना हैं। जो व्यक्ति ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य के दैनिक कार्यो के भार को अपने जिम्मे ले लेता है तथा उन्हें अपने कार्यो को करने के लिये अधिक से अधिक अवकाश प्रदान करता है वह समाज में शूद्र कहा जायेगा।

महर्षि दयानन्द ने भी यजुर्वेद २२.२२, ३१.११, २६.४७, ७ ४६, ३०.५ तथा १८.४४ में वेद तथा ईश्वर को जानने वाला, ब्राह्मण पद का अर्थ किया है। १०.१८ में 'ब्राह्मणानाम्' का अर्थ 'ब्रह्मवेद भक्तानाम्' किया हैं। यजुर्वेद ३०.५ में - ब्रह्मणे ब्राह्मणम् का भीं यही भाव हैं। क्षत्र का अर्थ भी उन्होंने यजु० २०.१० में क्षताद्रक्षके क्षत्रियकुले' किया है। ३०५ में आए-क्षत्राय राजन्यम् का भी यही भाव है। यजु. ३१ ११ में वैश्य का अर्थ उन्होने-यो यत्र तत्र विशति प्रविशति तदपत्यम् किया है। मरुदम्यो यजु० ३०.५ का भी ऐसा ही भाव है। 'शूद्रम' का अर्थ उन्होने ३०.५ में उन्होने 'प्रीत्या सेवक शुद्धिकरम्' किया है। वहां–तपसे शूद्रम्–का भाव भी द्वन्द्व सहन करके समाज की प्रेम से सेवा करना तथा उसकी शुद्धि करना शूद्र का कार्य बतलाया है।

समाज में शूद्र की स्थिति—

यद्यपि मध्यकाल में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। उन्हें अस्पृश्य बताकर समाज से बहिष्कृत सा कर दिया था। वेदपाठ का उन्हें अधिकार नहीं था। वेदाध्ययन करने पर उन्हें दण्ड का विधान था। उन्हें श्मशान जैसा अपवित्र भी कहा गया था। अन्य भी अनेक विसंगतियों का उन्हें शिकार बनाया गया था। किन्तु वेद में एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे शूद्र को ऐसा कहा गया हो। वेद में तो एक ही परिवार में विभिन्न वर्णों के लोगों के प्रेम पूर्वक रहने के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है कि मैं शिल्पी हूं, पिता वैद्य तथा माता पत्थर का कार्यं करने वाली है। धन के इच्छुक हम विभिन्न कार्य करते हुए एक ही घर में ऐसे रहते है जैसे एक ही गोष्ठ में अनेक गाएं प्रेम से रहती हैं।[1]

युगद्रष्टा महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में इस मान्यता का प्रबल रूप से खण्डन किया है। उनके अनुसार शूद्र भी वैदिक समाज का एक अंग है। वर्णों में कार्यभिन्नता होती हैं। आचार व्यवहार भिन्नता नहीं। जहां तक पद्भ्यां शूद्रों अजायत का प्रश्न है। महर्षि जी ने पद्भ्याम् का अर्थ सेवा निरभिमानाभ्याम् किया है। यह अर्थ है भी युक्त। क्योंकि जिस मन्त्र के उत्तर में यह मन्त्र है वहां पूछा गया था। कि जिस पुरुष का विधान किया गया है उसे कितने विभागों मे कल्पित, किया गया है। उसका मुख बाहु उरु तथा पैर कौन हैं। जब प्रश्न ही यह नहीं किया था कि कौन किससे उत्पन्न हुआ है तो उत्तर में यह कैसे मान लिया जाए कि ब्राह्मण आदि मुखादि से उत्पन्न हुए हैं। अत: वैदिक वर्ण व्यवस्था समाज के लिए एक आदर्श है।

१- कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणीनना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमः ॥९ ११२३॥

'वैदिक वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक आधार'

डा० सभापति शास्त्री

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः'

गीता के इस कथन में वर्णो की वैज्ञानिकता अधिक प्रतीत होती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न इन चारों वर्णो की वैज्ञानिकता केवल गुणों से ही सिद्ध हो सकती है। पुरुषसूक्त में उद्धृत 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' से प्रतीत होता है कि जिसमें रजगौण और सत्व प्रधान है वह ब्राह्मण है। 'बाहू राजन्यः' क्षत्रिय में रज प्रधान और सत्व गौण होता है। वैश्य में तम गौण और रज प्रधान होता है तथा शूद्र में केवल तमस प्रधान है। इसी लिए गुणों के अनुसार ही इनके कर्म भी निश्चित होते हैं।

यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तत् अभिसम्बद्यते। फलश्रपृकरता।

उपर्युक्त सिद्धान्त श्रुति, तर्क एवं अनुभव से नितान्त वैज्ञानिक प्रतीत होता है। जन्मान्तरों की कर्मफलवासना से ही जन्म माना गया है। अतः इसका (मलदोष) का निराकरण भी केवल कर्म द्वारा ही सम्मति है किन्तु उस कर्म द्वारा जो कर्म फलाकांक्षा से रहित हो गीता में कहा है—

स्वे स्वे कर्मव्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।

तथा

स्वकर्मणा तमम्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।

उन गुण और कर्मो के अनुसार समस्त स्मृतियों में चारों वर्णो के कर्मो का निर्धारण किया है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है मैंने सारे विश्व में घूमकर देखा है कि वे समस्त आचार्य और चिन्तक एक सामाजिक वर्णव्यवस्था का निर्माण करने में प्रयत्नशील रहे हैं किन्तु उन्हें असफलता ही हाथ लगी, यह भारत में केवल उसकी मनीषा से ही सम्मत हुआ और आज भी समाज को चार वर्णो में नहीं बांटा जा सकता जिसे प्रकृति ने स्वयं विभाजित कर रखा है।

प्रस्तुत संदर्भ में गीता के इन श्लोकों को देखा जा सकता है —

यदहङ्कार माश्रित्य न यात्सेति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेज कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यसि अवशोपि तत् ।

यहां स्वभाव और प्राकृत पर्यायवाची ही है। वर्तमान जन्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति, सुख दुःखादि की सिद्धि के हेतु होने के कारण पूर्वजन्म के पाप पुण्यादि कर्म संस्कारों को स्वभाव कहते है और यही मानव की मूल प्रकृति है। अतः हम वैदिक वर्णव्यवस्था की वैंज्ञानिकता को गुण कर्म विभागशः के नियम से नियमित कर सकते हैं।

वर्तमान राजनीति और वर्ण-व्यवस्था

वर्तमान में वर्ण-व्यवस्था पर बहुत आक्षेप लगाए जाते हैं और इसी के ऊपर भारत की अवनति वा दयित्व रखा जाता है। कुछ राजनीतिक पार्टियां सम्पूर्ण मनुवादि व्यवस्था पर ही लाञ्छन लगाकर उसका तिरकार करती है। उनके अनुसार वर्ण-व्ययस्था ने ही समाज में विद्वेष- फूट व संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कि गई है। इस वर्ण-व्यवस्था के उन्मूलन में ही भारत का हित निहित है पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो उपर्युक्त आपेक्ष निमूंक ही सिद्ध होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि जो राजनीतिक पार्टियां वर्ण-व्यवस्था को वांछित करती है, वे स्वयं वर्ण-व्यवस्था को प्रोत्साहित कर अपना संकुचित स्वार्थ सिद्ध करने की चेष्टा करती हैं। वर्ण-व्यवस्था के दुरुपयोग से भले ही समाज में कुछ बुराइयां उत्पन्न हो गई है पर उनका समाधान वर्ण-व्यवस्था के उन्मूलन मैं नहीं वरन् उसके सदपयोग में निहित है। आज के राजनीतिज्ञों ने अपने दृष्टि-दोष के कारण समाज का जितना अहित किया है उतना शायद ही किसी अन्य ने किया हो। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम उनकी माया को विदीर्ण कर उनके वास्तविक अवांछनीय चेहरे को समाज के समक्ष उजारा करें। आज दार्शनिकों का यही परम कर्तव्य है। यही दार्शनिकों का युग-धर्म है।

समाज का जैविक सिद्धान्त

जैविक सिद्धान्तो में समाज की उपमा एक जीवित प्राणीयों से की गई है जिस प्रकार शरीर अनेक अंगों से मिलक बना है उसी प्रकार समाज भी अनेक अंगों से निर्मित हुआ है। जिस प्रकार शरीर केवल विभिन्न अंशों का समुच्चय ही नहीं होता, अंशों से पृथक उसका अस्तितव होता है, उसी प्रकार समाज भी व्यक्तियों केवल समूह नहीं है, व्यक्तियों से पृथक भी उसका एक अस्तित्व होता है। जिस प्रकार शरीर से पृथक् उसके अंशों की कल्पना नहीं की जा सकती, ठीक उसी प्रकार समाज से पृथक् व्यक्तियों के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि समाज और व्यक्ति के बीच अंगी और अंग का सम्बन्ध होता है।

समाज और उसमें रहने वाले व्यक्तियों के बीच जैविक सम्बन्ध पाया जाता है। समाज के जैविक सिद्धान्त के निम्ननिहितार्थ हैं :—

(१) समाज तथा उसके विभिन्न अंगों के बीच अन्योन्याश्रय या अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध पाया जाता है।

(२) जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी उनमें परस्पर अपूरकता पाई जाती है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंशों के कार्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी उनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य में पृथकता होते हुए भी सम्पूर्ण शरीर के हित-साधन में एकनिष्ठता होती है उसी प्रकार समाज के विभिन्न वर्गो अथवा वर्णो के कार्य में पृथकता होते हुए भी समाज के हित-साधन में एक निष्ठता होती है।

कुण्ठा व नैराश्य से युक्त समाज

कोई भी सार्थक कार्य करने में असमर्थ होता है। आरक्षित वर्ग समाज में ठीक प्रकार अभियोजित भी नहीं कर पाता क्योंकि वह हीनता-ग्रन्थ (Inferiorty Complex) से सदा ग्रस्त रहता है। ऐसा देखा गया है कि जो आरक्षण के आधार पर उच्च पदों पर आसीन हो जाते हैं वे स्वजातीय व सवर्गीय वर्गों को पहचानने से भी इनकार करते हैं।

आज भारतीय राजनीति में जो विपर्यय और अराजकता दिखाइ देती है उसका प्रमुख कारण यह है कि विभिन्न राजनीतिक पार्टियां सभी वर्णो या वर्गों का हित-साधन न कर केवल कुछ वर्ण के ही हित-साधन का उपक्रम करती हैं। वे विभिन्न वर्णो में प्रतिद्वन्दिता, विद्वेश और घृणा उत्पन्न कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करती है। इससे समाज का अहित तो होता ही है, उनका भी अहित होता है। केवल एक वर्ण या जाति को पुरस्कृत करने तथा अन्य वर्णों को तिरस्कृत करने से कोई भी राजनीतिक पार्टी स्थायी अर्जित नहीं कर सकती। अपनी-अपनी शक्ति लगाकर अपने-अपने कार्यो द्वारा सभी वर्णो का हित करते रहें।

यदि इस नियम में कहीं व्यक्तिक्रम दिखाई पड़ता है तो इसका कोई न कोई बाह्य प्रबल कारण को दूर कर आनुवंशिक गुणों कों उजागर किया जा सकता है। अत: वर्ण और जाति दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न नहीं है। जातियों के अनुरक्षण से विभिन्न वर्णों की विशेषताओं को सुरक्षित रखा जा सकता है। शास्त्रों मे वर्ण-संकर की निन्दा इसलिए की जाती है क्योंकि वे वर्णगत् व जातिगत विशेषताओं को नष्ट कर देते हैं। मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है :—

जिस समाज में वर्णों को दूषित करने वाले वर्ण—संकर अधिक पैदा होते है वह समाज में या राष्ट्र की उन व्यक्तियों के साथ नष्ट हो जाता है।[2]"

जातीय अथवा आनुवंशिक संस्कार इतने प्रवल होते हैं कि उन्हें दूर करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी होता है। इस सम्वन्ध में विश्वामित्र व वशिष्ठ का उदाहरण उल्लेखनीय है। विश्वामित्र एक क्षत्रिय राजा थे पर वरिष्ठ एक ब्राह्मण ऋषि थे। विश्वामित्र के बार-बार तप करने पर भी वे वशिष्ठ ऋषि के ब्राह्मणतत्व को प्राप्त नहीं कर सके। उनका आनुवंशिक गुणा सदा उन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त करने से रोकता रहा। इस उदाहरण से स्पष्ट है एक वर्ण से दूसरे वर्ण अथवा एक जाति से दूसरी जाति में संक्रमण कितना कठिन कार्य होता हे।

भारत के ऋषि—महार्षियों का यह भी ध्यान था कि सब प्रकार के बलों की उन्नति समाज में की जाय किन्तु उन बलों के दुरुपयोग से समाज को किसी प्रकार का कलेश न हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपनी व्यवस्था में एक बल का नियन्त्रण दूसरे बल द्वारा करने का प्रावधान किया। नियन्त्रण निग्रह और अनुग्रह दोनों द्वारा सम्भव होता है। इस दृष्टि से शूद्र-वल का नियन्त्रण वैश्य बल द्वारा, वैश्य बल का नियन्त्रण क्षत्रिय बल या शासन बल द्वारा तथा क्षत्रिय बल का नियन्त्रण ब्रह्म-बल द्वारा करने का प्रावधान किया गया। ब्रह्म-बल आध्यात्मिक बल है। इसके नियन्त्रण की कोई आवश्यकता महसूस नहीं की गई क्योंकि आध्यात्मिक बल का दुरुपयोग आध्यात्मिक बल को ही समाप्त कर देता है।

यस्मिन्नेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रि कैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥

अन्तिम निष्कर्ष –

समाज में वर्ण–व्यवस्था रूचि-वैचित्र्य के आधार पर निर्मित की गई है सभी की रूचि एक समान कभी नहीं हो सकती । अतः समाज मे वर्ण-व्यवस्था एक स्वभाविक उपज है । इसका उन्मूलन कभी भी संभव नहीं है । इसी बात को भगवान श्री कृष्ण ने गीता में इस प्रकार व्यक्त किया है—

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणा कर्म विभागशः ।
> तस्य कर्तारमपि मां विद्वयकर्तारमव्ययम् ॥

भगवान द्वारा सृष्ट होने का तात्पर्य यह है कि वर्ण-व्यवस्था किसी न किसी रूप में समाज मे अवश्य विद्यमान रहेगी । अतः जो राजनीतिक पार्टियां उनके उन्मूलन की बात करती है वे वर्ण-व्यवस्था के कर्म को नहीं समझती । समाज में प्रत्येक वर्ण और जाति को अपने वर्ग के हित साधन का पूरा अधिकार है किन्तु यदि उस हित साधन से समाज का अहित हो तो उसे उसका परित्याग कर देना चाहिए । वर्ण-व्यवस्था किसी बर्ण या वर्ग के हित साधन के लिए निर्मित की गई है जो सम्पूर्ण समाज का हित करता है वह परमात्मा के कार्य का ही सम्पादन करता है वह परमात्मा के कार्य का ही सम्पादन करता है । भारत वर्ष में आरक्षण-व्यवस्था जिससे किसी वर्ग–विशेष का भले ही हित-साधन होता हो पर सम्पूर्ण समाज का तो अहित ही होता है अतः देश आरक्षण का जितना शीघ्र परित्याग कर दे उतना ही उसका भला होगा ।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में वर्ण-व्यवस्था एक अर्थ वैज्ञानिक आधार

डा० विक्रमकुमार विवेकी

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक वर्ण व्यवस्था को सामाजिक अव्यवस्था के कारण उत्पन्न दुःखों का निवारक एवं सुखमूलक-व्यवस्था का कारक मानते हैं। सम्पूर्ण भूमण्डल में दुख का मूल कारण "निर्धनता" है तथा अज्ञान, अन्याय व अभाव के कारण ही निर्धनता उत्पन्न होकर विविध दुःखों का कारण व माध्यम भी बनती है। इन दुःखों की निवृत्ति हेतु विभिन्न महापुरुषों ने विविध प्रयत्न किये है। स्वामी दयानन्द ने भी एतद्विष्यक अनेक विचारों की अभिव्यक्ति की है। चूंकि स्वामी दयानन्द अध्यात्म के उद्गाता होने के साथ-साथ भौतिक जगत् की भी अनेक समस्याओं को सुलझाने वाले थे।

आर्य समाज ने किया, नहीं किया

आर्य समाज ने अपने संस्थापक महर्षि के द्वारा प्रदर्शित विभिन्न आदर्शों को लेकर समाज में प्रबल आन्दोलन किये हैं, परन्तु समाज की प्रमुख समस्या निर्धनता व आर्थिक विषमता के निवारण में उदासीनता दिखाने के कारण आज वह अपने प्रवर्तक की निर्वाण-शताब्दी को मानने के बाद स्वयं निर्वाणोन्मुख हो रहा है। आर्यसमाज ने शास्त्रार्थ द्वारा असत्य खण्डन, सत्य मण्डन, कर्तव्य कर्मकाण्ड आदि का परिपालन व गुरुकुल और स्कूल कालेज आदि के माध्यम से अध्ययन-अध्यापन आदि स्तुत्य प्रयास तो बहुत किये, परन्तु वह पड़ौसी की भूख में "भाग्यवाद" को ही कारण मानता रहा। महर्षि दयानन्द के दिल में विषमता के विरुद्ध दहकती आग को आर्यसमाज का नेतृत्व नहीं पहचान पाया। यही कारण है कि दयानन्द के अनुयायी एक शताब्दी की दीर्घावधि में एक गांव को भी पूरा आर्यसमाजी नहीं बना पाये, जबकि उसी अवधि में कार्ल-मार्क्स के अनुयायियों ने उसके प्रमुख कार्यक्रम "आर्थिक-शोषण-विरोध" को लेकर आज दुनियां की दो तिहाई से भी ज्यादा आबादी को अपना समर्थक बना लिया है।

ऐसी बात नहीं कि महर्षि दयानन्द के पास शोषण–व्यवस्था के विरुद्ध कोई कार्यक्रम ही नहीं था। वे तो एक सर्वांगीण कार्यक्रम दे गये हैं, जिसका कार्ल-मार्क्स के पास भी अभाव है। वह अद्भुत कार्यक्रम क्या है, उसको वर्णव्यवस्था के माध्यम से बतलाना ही यहां पर हमारा ध्येय है।

वैदिक समाज व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था)—

वर्तमान समाज में दो आर्थिक व्यवस्तुएं प्रचलित हैं. दोनों ही अधूरी हैं। वे हैं—पूंजीवादी व्यवस्था और साम्यवादी व्यवस्था है। पूंजीवादी व्यवस्था में पैसा कुछ लोगों के पास अनुचित तरीकों से इकठ्ठा हो जाता है और समाज की अधिकांश जनता अभाव, गरीबी व शोषण के कारण दुःख और कष्टों को झेलती रहती है। दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्था में भी अनेक दोष हैं। सभी को एक जैसा ही लाभ मिलने से व्यक्ति में विशेष उन्नति करने का उत्साह नहीं रहता, व्यक्ति की शक्ति और योग्यता का पूर्ण सदुपयोग नहीं हो पाता। परन्तु वैदिक समाज व्यवस्था में उपर्युक्त दोष नहीं हैं। हमारे विचार में पूंजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा "साम्यवादी व्यवस्था" श्रेयस्कर है। परन्तु साम्यवाद के दोषों से रहित "वैदिक समाज-व्यवस्था" सर्वोत्तम है। पूंजीवादी व्यवस्था में लोग रोटी कपड़ा, और मकान के बिना दुःखी रहते हैं। साम्यवादी व्यवस्था में सबको रोटी, कपड़ा और मकान तो मिल जाता हैं, परन्तु भौतिकता की परिधि में ही लिपटी हुई यह व्यवस्था अध्यात्म से अछूती रह जाती है जो कि मानव का एकमात्र और अन्तिम उद्देश्य है। वैदिक समाज व्यवस्था में कोई भूखा तो मरेगा ही नहीं, साथ ही उसे मानसिक और आत्मिक सन्तुष्टि के साथ जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक स्वस्थ व स्वच्छन्द वातावरण भी मिलेगा।

वस्तुतः, स्वामी दयानन्द द्वारा अनुमोदित वर्ण-व्यवस्था एक अद्वितीय समाज व्यवस्था है, जिसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। वर्णाश्रम व्यवस्था के माध्यम से सबको इच्छानुसार प्रगति का वातावरण व अवसर मिलेगा। सब को जीने के साधन मिलेंगे। किसी का शोषण नहीं हो सकेगा। वर्णाश्रम-व्यवस्था का उद्गम स्रोत वेद स्वयं कहता है कि कोई व्यक्ति भूख के कारण नहीं मरेगा।[1]

---

१. न वा उ देवाः क्षुधमिद्धं ददुः। (ऋग्० १०.११७ १)
अर्थात् परमात्मा ने निश्चय से ही भूख को मृत्यु का कारण नहीं बनाया है।

स्वामी दयानन्द के मन्तव्य—

स्वामी दयानन्द समाज से "असमानता" और "शोषण" की समाप्ति के लिए व्यक्ति के बचपन से ही उस "समानता" की बात करते हैं[1], जो व्यक्ति व सम्पत्ति के ऊपर राज्य के नियन्त्रण के बिना असम्भव है। वे बच्चे पर माता-पिता का स्वाधिकार शिशु-अवस्था तक ही मानते हैं। बाद में उस बच्चे के प्रति कर्तव्य को सरकार के कन्धों पर डाल देते हैं।[2] जिसके अनुसार वे माता-पिता जो अपने बच्चे को शिशु-अवस्था के बाद सरकार को नहीं सौंपेंगे वे दण्डनीय होंगे। इस मन्तव्य के अनुसार राष्ट्र में स्कूल, कालेज व विश्वविद्यालय आदि पाठशालायें सभी राष्ट्रीयकृत होंगी। उनमें से एक जैसी ही रहन-सहन व विद्यार्थी अध्ययन की समाप्ति तक माता-पिता के साथ उनका किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहेगा।[3]

जब तक छात्र विद्याध्ययन में रत होंगे तब तक उनके माता-पिता अपनी ड्यूटी में संलग्न होंगे। अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव व योग्यता के अनुसार वे चाहे "ब्रह्मणत्व" को धारण कर अध्यापन, अनुसन्धान व विज्ञानोन्नति में लगे होंगे, "क्षत्रियत्व" को धारण कर सेना, पुलिस आदि के रूप मैं सुरक्षा में संनद्ध होंगे, "वैश्यत्व" को अपनाकर कृशि, गोपालन, वाणिज्य, कारखाने आदि के द्वारा वस्तुओं के उत्पादन के माध्यम से राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरी कर रहे होंगे या "शूद्रत्व" को स्वीकार कर समाज के लोगों की अनेकविध सेवा शुश्रूषा रूपी कर्तव्य को निभा रहे होंगे।

---

१. सब को तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जायें चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हो, सबको तपस्वी होना चाहिए।

सत्यार्थप्रकाश (तृ०समु०)

२. इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पांचवे अथवा आठवें वर्ष के आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

सं० प्र० (तृ०समु०)

३. उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें।

स० प्र० (तृ०समु०)

सन्तान-परिवर्तन—

स्वामी दयानन्द के इन उदात्त विचारों से एकसुनही समाज-व्यवस्था स्पष्टतया सामने उभर कर आती है— प्रत्येक शिशु जन्म के बाद ५ या ६ वर्ष तक माता-पिता के पास रह कर शैशव वितायेगा। तदनन्तर विद्योपार्जन की अवस्था तक वह सरकार के अधीन व सरकारी व्यवस्था में ही रहेगा। विद्योपार्जन कर स्नातक होने के पश्चात् यदि वह छात्र अपनी योग्यता व स्वीकृत-वर्ण के अनुसार पैतृक व्यावसाय को ही सम्भाल सकेगा तो उसे ही (सरकारी व्यवस्थानुसार) सम्भालेगा, नहीं तो सरकार उसे उसकी योग्यता के अनुसार दूसरे परिवार (वर्ण) में भेज देगी, जहां उसके योग्य व्यवसाय उसें अवश्य ही मिलेगा, बेरोजगार नहीं रहेगा।

आपाततः देखने में यह व्यवस्था बड़ी अटपटी एवं अव्यावहारिक सी लगती है, परन्तु इसी व्यवस्था द्वारा समाज से विष्मता मिट सकती है और शोषण को समाप्त किया जा सकता है। क्योंकि यही एक मात्र व्यवस्था है जिसके कारण एक व्यक्ति को एक ही अर्थोपार्जन का साधन और वह भी अवश्य मिलेगा। यदि व्यक्ति पैतृक वर्ण के योग्य होगा तो वह उसी व्यवस्था को सम्भाल लेगा। अर्थात् उस व्यक्ति का अपने पिता के व्यवसाय के साधनों पर अधिकार (वह भी सर्वथा सरकारी नियन्त्रण के साथ) रहेगा। यदि व्यक्ति पैतृक वर्ण के योग्य नहीं बन सकेगा तो उसे सरकार के द्वारा किसी अन्य व्यवसाय के साधनों पर अधिकार दिलवाया जायेगा। स्वामी दयानन्द की समाज व्यवस्था में वर्ण परिवर्तन की यह बात एक क्रान्तिकारी भावना से ओत-प्रोत है।[1] उपर्युक्त सन्तान-परिवर्तन की बात सम्पत्ति के सर्वथा "राष्ट्रीयकरण" की व्यवस्था से ही सम्भव है।

---

१. प्रश्न— जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय तो उसके मां बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायेगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए।

उत्तर— न किसी की सेवा का भंग और न वंशच्छेदन होगा क्योंकि उनको अपने लड़के लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्या सभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे। इसलिए कुछ भी अव्वस्था न होगी।

कर्म से, न कि जन्म से

वर्ण व्यवस्था में व्यक्ति को जन्म के आधार पर, व्यवसाय, सम्पत्ति व जाति आदि नहीं मिलते अपितु गुण, कर्म, स्वभाव एवं योग्यता के अनुसार उसे व्यवसाय, सम्पत्ति व जाति आदि सरकारी व्यवस्था के माध्यम से ही उपलब्ध कराये जाते हैं।[1] इससे हर एक व्यक्ति को अर्थोपार्जन का साधन और वह भी अवश्य ही मिलता है। जबकि पूंजीवादी व्यवस्था में जन्म से एक व्यक्ति ब्राह्मण भी होता है, साथ में बहुत सारी उसकी जमीन भी होती है, २–३ दुकानें भी चलाता है, कुछ मकान किराए पर भी चढ़ाए हुए होते हैं, तो दूसरे व्यक्ति को एक भी काम नहीं मिल पाता। वह मजबूर होकर पहले वाले व्यक्ति के खेत में या दुकान से पैसों पर काम

---

१. प्रश्न — भला जो रजवीर्य से शरीर हुआ है वह बदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है?

उत्तर — रज वीर्य के योग से ब्राह्मण शरीर नहीं होता, किन्तु .... देखो जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ या दुष्ट देखने में आते हैं। इसलिए तुम लोग में भ्रम में पड़े हो।... जो कोई रज–वीर्य के प्रयोग से ...—..... माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उसे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज हो गया हो तो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते। यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिए वह "ब्राह्मण" नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होगे नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में अवश्य गिनना चाहिए। .... अर्थात् चारों वर्णों में जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष व स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण में गिना जावे यह गुण कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुष की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए। सं० प्र० (व०समु०)

करने को बाध्य हो जाता है। पहले व्यक्ति पर सरकार का कोई भी नियन्त्रण न होने से वह दूसरे व्यक्ति का मनचाहा शोषण करता है। मेहनत दूसरा व्यक्ति करता है जब कि फल पहला व्यक्ति पाता हैं। दूसरा व्यक्ति कम पैसे मिलने के कारण अपनी मूलभूत आवश्यकताओं, रोटी, कपड़ा मकान आदि को अच्छी तरह नहीं जुटा पाता, जबकि पहला व्यक्ति जन्म के आधार पर अपना व्यक्तिगत अधिकार जतलाकर सारे उत्पादन को अपना बना लेता है और अपार धनराशि एकत्र करके विलासिता करता है।

"वैदिक समाज व्यवस्था" में ऐसा अन्याय व शोषण नहीं हो सकेगा। क्योंकि वर्ण व्यवस्था के कारण व्यक्ति को विद्या, रक्षा व्यापार या सेवा में से एक ही ड्यूटी मिलेगी। उसको अपनी ड्यूटी निभाने के लिए जिन साधनों की अपेक्षा होगी वह सब सरकार द्वारा उपलब्ध कराये जायेंगे। उन साधनो को अपना समझता हुआ पूरी निष्ठा के साथ वह अपने कर्तव्य को निभाएगा, जब कि वस्तुतः वे साधन हमेशा के लिए उसके नहीं होंगे। वे साधन, उसे अपने पुत्र को (यदि वह उसके लायक होगा तब) अन्यथा, किसी अन्य योग्य पुत्र को (जिसकी व्यवस्था सरकार करेगी) देने होंगे। जैसे कि आजकल सेना, पुलिस, बैंक, कार्यालयों व शिक्षणालयों आदि में होता है। जिस प्रकार सैनिक, पुलिस, कार्यालय के कर्मचारी या स्कूल, कालेज के प्राध्यापक प्रयोग में आने वाले अस्त्र-शस्त्र, कुर्सी, मेज या भवनों को अपना समझकर काम करते हैं परन्तु सेवा—निवृत्ति के बाद उन पर उनका अधिकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार वैश्य लोगों के कर्तव्य के साधन खेत, ट्रैक्टर व कल—कारखाने आदि पर भी सेवानिवृत्ति के बाद उनका अधिकार समाप्त हो जाना चाहिए। ऐसा होने से किसी भी व्यक्ति के पास अनावश्यक पैसा इकट्ठा नहीं होगा तथा हरेक व्यक्ति को अर्थोपार्जन का एक साधन अवश्य ही मिल जायेगा। इस प्रकार वर्णों पर राज्य का अंकुश रहने से समाज की आर्थिक व्यवस्था सुन्दर बन जायेगी।

वर्णाश्रम व्यवस्था में योग्यता व रूचियों का भेद—

यहां यह ध्यातव्य है कि वर्णाश्रम—व्यवस्था की पद्धति में सर्वथा साम्य के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि पूर्ण साम्य मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है।

वेद में इस बात को स्पष्टतया स्वीकारा गया है।[1] वहां मनुष्यों की योग्यता, रूचियों, प्रवृत्तियों व कामों के मौलिक भेद को माना गया है। अत: इस मौलिक भेद को ध्यान में रखकर ही वर्णाश्रम-व्यवस्था में लोगों को यथायोग्य पारिश्रमिक या दक्षिणा दी जाती हैं। वेतनमान के अनुपात की भिन्नता के साथ-साथ मान और प्रतिष्ठा के अनुपात की भिन्नता का भी निर्धारण किया जाता है। चारों वर्णों के लोगों को आलम्बन पदार्थ (रोटी, कपड़ा, मकान) प्राप्त करने के लायक पारिश्रमिक अनिवार्यतया मिलेगा। यदि राष्ट्रीय औसतन धन–सम्पत्ति अधिक होगी तभी योग्यता व काम के अनुसार अन्य लोगों को अनुबन्ध पदार्थ (रेडियो, फ्रिज, कार, टैलिविजन, टेलीफोन) आदि के लिए अधिक सम्पत्ति दी जायेगी। यदि राष्ट्र में अतिरिक्त धन-सम्पत्ति योग्य व्यक्तियों को देने के लिए नहीं होगी तो उन्हें मान-सम्मान देकर ही उनका गौरव माना जायेगा। ऐसा नहीं होगा कि योग्य व्यक्तियों को पहले आलम्बन व अनुबन्ध पदार्थ उपलब्ध करा दिये जायें और दूसरी और अन्य लोगों को आलम्बन पदार्थ भी नसीब न हो सकें, जैसा कि आजकल हो रहा है। वर्णाश्रम-पद्धति में लोगों मे पारिश्रमिक का अनुपात देश, काल परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय धन सम्पत्ति की औसत को देखकर ही निर्धारित किया जायेगा। वेद में धन-सम्पत्ति का इस प्रकार सुन्दर विभाजन करने वाले राजा का आह्वान किया गया है।[2]

यदि योग्यता व रूचि आदि के भेद के अनुसार यथोचित पारिश्रमिक या दक्षिणा नहीं दी जायेगी और "साम्यवादि-व्यवस्था" के अनुसार सब को एक समान ही पारि–श्रमिक दिया जाएगा तो समाज में अनेक दोष उत्पन्न होंगे। कठिन परिश्रम से लोग

---

१. समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्ट:
सं मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि
ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीत:॥ (ऋग्० १०.११७.६.)

२. विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधस:। (ऋग्० १.२१.७.)

कतरायेंगे । मन लगाकर काम न करने से उत्पादन कम होने के कारण राष्ट्र की आवश्यकताएं ही पूरी नहीं होंगी । यही कारण है कि रूस में साम्यवाद पूरा नहीं चल पाया । उन्हें अपने "समानता" के आदर्श से नीचे उतर कर व्यवस्था में परिवर्तन करना पड़ा । वहां प्रमुख लोगों तथा सर्वसाधारण लोगों की सुविधा व आराम में अन्तर करना पड़ा ।

भाग्य (कर्मफल) नहीं, सामाजिक अव्यवस्था –

स्वामी दयानन्द द्वारा अनुमोदित वर्णाश्रम-व्यवस्था में "भाग्य" को तो माना जाता है, "भग्यवाद" को नहीं । वर्णाश्रम व्यवस्था में वर्ण भिन्नता के योग्यता भिन्नता आदि के सभी लोगों की आर्थिक अवस्था बिल्कुल एक जैसी नहीं होगी । आर्थिक स्थिति के अनुपात में न्यूनाधिकता के कारण किसी के पास कम तदपेक्षया कुछ अधिक पैसा तो रहेगा ही । परन्तु वह अन्तर किसी को खुलने वाला नहीं होगा, जैसा कि आज है । लोग अपनी कमाई का ढंग से स्वतन्त्र रूप में उपभोग कर सकेंगे, परन्तु दुरूपयोग नहीं करेंगे । दुरूपयोग करने पर राजा उनके धन को छीन सकता है । किसी के पास परिश्रम पूर्वक तथा ईमानदारी के साथ कमाने के बाद भी पैसा यदि अधिक जमा हो जाएगा तो वह उसे अपनी इच्छा से राष्ट्र के अच्छे कामों में लगाएगा, दान देगा । यदि दान न देकर वह उसका दुरूपयोग करने की चेष्टा करता है तो वेद उसके धन को जबरदस्ती अच्छे कामों में लगवाने का कर्तव्य सरकार को देता है ।[1]

इस तरह लोगों को स्वेच्छापूर्वक अपनी कमाई का उपभोग तथा दान आदि करने की स्वतन्त्रता देने से लोगों में उत्साह, प्रतिस्पर्धा तथा ममत्व की भावना भी रहती है । सब एक दूसरे से अधिक धन का उत्पादन करके उसे अच्छी तरह से लगाने की प्रतिस्पर्धा मे जुट जाते हैं । सभी लोगों के कठोर परिश्रम से राष्ट्र में किसी भी प्रकार के उत्पादन की कमी नहीं होती, सभी के पास यथेष्ट धन–सम्पत्ति हो जाने के कारण राष्ट्र में असमानता, निर्धनता, शोषण व अन्याय का नामोनिशान भी नहीं रहता । कोई भी व्यक्ति भूखा, नंगा व बेसहारा नहीं रहता और सभी को वेद के अनुसार सौ गुणे सामर्थ्य से कमाने व हजार गुणे सामर्थ्य से दान देने का स्वर्णावसर भी मिल जाता है ।[2] इस व्यवस्था के कारण आज कल की तरह ऐसा नहीं

---

१. सम्राट् आदितसन्नं दापर्यात ……. ।
(यजु० ६.२४०, देखें स्वामी भीष्य)

२. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर । अथर्व० ३.२४.५.

होता कि एक व्यक्ति तो करोड़ों रुपये दान देने में असमर्थ बन जाये और दूसरा व्यक्ति मजबूरी व निर्धनता के कारण एक रूपया भी दान देने में असमर्थ बना रहे।

वर्णाश्रम व्यवस्था में कर्मफल के सिद्धान्त को ठुकराया नहीं गया है। पूर्वजन्म के कर्म व उसके फलों को स्वामी दयानन्द मानते हैं। जैसे जीवों का मनुष्य, अश्व, गौ, हस्ती, सर्प, कीटादि योनियों में जन्म लेना ही सबसे बड़ा "कर्मफल" है। मानव योनि में आकर शक्ति, योग्यता व रूचिभिन्नता आदि के कारण व्यक्ति का अतिश्रेष्ठ व अल्पश्रेष्ठ आदि रह जाना, तथा उसके कारण आर्थिकावस्था की न खलने वाली न्यूनाधिकता से उत्पन्न सुख-दुख भिन्नता भी "कर्मफल" ही है। परन्तु प्रभु द्वारा समान रूप से प्रदत्त भौतिक पदार्थों का[1] कुछ व्यक्तियों या प्रशासन द्वारा गलत बंटवारा कर लेना "भाग्य" या "कर्मफल" नहीं अपितु "सामाजिक अन्याय" है।

सदुपयोगवाद—

हम यहां एक और स्पष्टीकरण करना चाहते हैं। प्रश्न हो सकता है कि वर्ण-व्यवस्था में भी जब लोगों के पास अर्थ की न्यूनाधिकता (चाहे वह न खलने वाली हो) होगी तो अधिक अच्छी आर्थिक स्थिति वाला व्यक्ति कुछ साधनों को अधिक रूप में संचित कर लेगा, जिससे न्यून स्थिति वाला व्यक्ति साधनों के अभाव में परेशान हो सकता है। परन्तु "वैदिक समाज व्यवस्था" में इसका भी समाधान सन्निहित है। वह है— धन का सदुपयोग व दान। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है— एक बस में पचास सीटें हैं। एक व्यक्ति शुद्ध कमाई के पैसों के बल पर यदि २५ सीटों की टिकटें खरीद कर अपने कब्जे में कर लें और वे खाली पडी रहें तथा दूसरी और ४६ व्यक्ति शेष २५ सीटों की परिधि में ही रहने को मजबूर कर दिये जायें तो इस स्थिति को कोई भी बुद्धिजीवी नहीं स्वीकारेगा। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति

---

१. समानी प्रपा सह वो अन्न भागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
(अथर्व० ३.३०.६, देखें सायण (भाष्य)

को एक ही सीट देने की बात का सब लोग समर्थन करेंगे। इसी तरह कोई व्यक्ति यदि पैसे के बल पर ५–७ कोठियां बना लेता है और लोगों को सीमेंट, लोहा आदि समान एक कमरा बनाने के लिये भी नहीं मिल पाता तो इस सामाजिक अव्यवस्था को भी राजा दूर करेगा। यदि उपभोग करने के बाद भी कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक पैसों या साधनों का दुरूपयोग व व्यर्थ संचय करेगा तो राजा उसे अन्यों को दिलायेगा।

सब प्रकृति का उपभोग सुखपूर्वक करेंगे। भाई–भाई की तरह रहकर एक-दूसरे के दुःख में काम आयेंगे।[1] अपने "व्रत" को पालन करने के लिये उन सब में पारस्परिक एक विचित्र सहानुभूति मिलेगी। वे सब अपने बैंक-बैलेंस को अधिक से अधिक बढ़ाने में ही तत्पर नहीं होंगे अपितु उसका आवश्यक उपभोग करने के बाद उसे दूसरे की सुख सुविधा में ही लगाने को लालायित रहेंगे। व्यक्ति अपने सहारे भाई को ही भाई नहीं समझेगा, अपितु विश्व के किसी भी व्यक्ति का दुःख दर्द उसे अपना ही दुःख–दर्द महसूस हो। ऐसे पवित्र वातावरण में न किसी को किसी के शोषण की जरूरत पड़ेगी, न कहीं हिंसा होगी और सारा विश्व एक विशाल परिवार के रूप में परिवर्तित हो जायेगा।

उपसंहार—

इस प्रकार हम देखते है कि स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी आर्थिक-मन्तव्य वर्ण-व्यवस्था की नींव पर आधारित है, इन मन्तव्यों के आधार पर हम विश्व में सुख शांति का सम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। वर्ण-व्यवस्था पर आधारित यह अद्भुत वैदिक अर्थव्यवस्था साम्यवादी व पूंजी वादी दोनों प्रकार की दूषित व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ है। यह व्यवस्था मनुष्यों की स्वभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित है और पूर्ण वैज्ञानिक है।

---

१. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋग्० ५.६०.५)

वर्ण-व्यवस्था

डॉ० मधु चावला
२५० राजा गार्डन नई दिल्ली—१५

स्वेच्छा से चतुरंग वरण—

समाज को पुरुष कल्पित किए जाने का सर्वप्रथम परिणाम, अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप वृत्त वरण कर लेना है। प्रत्येक व्यक्ति, इस बात में स्वतन्त्र है कि वह अज्ञान के दूरीकरणार्थ ज्ञान के केन्द्र 'समाज-पुरुष' का मुख बनना वरण करे, अथवा अन्याय के दूरीकरणार्थ बल और वीर्य का केन्द्र समाज पुरुष की बाहु बनना वरण करे, अथवा अभाव के दूरी करणार्थ अन्न, जल और प्राण के भण्डार समाज पुरुष का उदर बनना वरण करे, अथवा शरीरस्थी महान् रिपुः 'आलस्य' के दूरीकरणार्थ गति स्थिति और तप के केन्द्र समाज—पुरुष के चरण बनना वरण करे।

इस प्रकार सारा समाज चार अंगों में विभाजित हो जाएगा। 'वरण' से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होगा किन्तु वरणोपरान्त उसके शक्ति और अधिकार मर्यादित हो जाएगें और उस स्वयं वृत्त अवयव के अनुरूप कुशलता प्राप्त करना उसके लिए अनिवार्य हो जाएगा। इस अनुबन्ध के आधार वर्णव्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्त की सृष्टि होती है।

वर्ण—व्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्त—

(क) कौशल
(ख) शक्ति प्रतिमान
(ग) अधिकार

(क) कौशल—

प्रत्येक मनुष्य सब प्रकार के कार्यों में कुशल नहीं हो सकता। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई अलौकिक शक्ति निहित है। यदि वह सर्वज्ञ बनने की अपेक्षा उसी अन्तः शक्ति को एकाग्र होकर समुन्नत करने में लगे तो (उसके द्वारा) समाज के सुख में निरन्तर वृद्धि हो सकती है। उसे अपने वरण की हुई दिशा में कौशल प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। समाज के विधान (पर इस मन्त्र) के आधार पर वह लोक-कर्म तीन भागों में बांटा जा सकता है—

(१) प्राकृत पदार्थों को शारीरिक श्रम तथा बुद्धि कौशल द्वारा मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी बनाकर मानव–समाज की दरिद्रता (अभाव) को दूर करना। इस दिशा में कौशल प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम वैश्य होगा।

(२) काम-क्रोध-लोभादि मानव-स्वभाव-सुलभ दुर्बलताओं के कारण होने वाले अन्याय को शासन और दण्ड व्यवस्था द्वारा दूर करना तथा सद्व्यवहार को प्रचलित करना इस दिशा में कौशल प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम क्षत्रिय होगा।

(३) मानव-समाज के लिए हितकारी, सब प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने में तथा अज्ञान को नाश में जीवन लगना। इस दिशा में कौशल प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम ब्राह्मण होगा।

सर्वप्रथम यह आवश्यक हैं कि प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों में से किसी विवेष कार्य को सबसे भली प्रकार सम्पादित कर सकता है, इसका सूक्ष्म अन्वेषण स्वयं के चिन्तन और विशेषज्ञों के सहयोग से करे। तत्पश्चात अपनी शाखा में समस्त शक्ति को एकाग्र करके अधिक से अधिक कौशल प्राप्त करे।

यह कौशल वैदिक वर्णव्यवस्था का पहला सिद्धान्त है।

(ख) शक्ति प्रतिमान—

इस प्रकार कौशल प्राप्त करने वाले मनुष्यों में, पारस्परिक व्यवहार के नियम भी बनने आवश्यक है। इस विषय को समाज–पुरुष के चतुर्धा विभक्त अवयवर्मों से समझा दिया गया है। प्रत्येक अवयव की योग्यता, शक्ति और अधिकार-क्षेत्र पृथक्-पृथक् रखे गए हैं, —जिससे समाज में सन्तुलन बना रहे। उनमें से ज्ञान की खोज और अज्ञान को दूर करना सबसे बड़ा कार्य है, क्योंकि अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाले तथा पाकृत पदार्थों से सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले शेष दोनों ही ज्ञान के बिना अन्धे हैं। ज्ञान, इन दोनों को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु ये ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते। (ज्ञान तथा अत्म-संयम के संगम- 'समाज-पुरुष' के मुख ब्राह्मण में अध्ययन—अध्यापन, यजन-याजन, अज्ञान–प्रतिकार और ज्ञान–प्रतिपादन इत्यादि की शक्ति निहित कर दी गई है।)

(तदनन्तर दूसरा स्थान, न्याय के स्थापन और अन्याय के दूरीकरण का है। इसके लिए व्यक्ति को बहु–शक्ति से युक्त किया गया है।) बाहु–शस्त्र धारण और शस्त्र द्वारा अन्याय पर अक्रमण तथा न्याय का संरक्षण दोनों क्षत्रिय में निहित कर दिये गये हैं। इस संस्था के बिना, समाज पुरुष के मुख, उदर और चरण (ब्राह्मण—

वैश्य-शूद्र) अपने कार्य सम्पन्न न कर पाएगा। राष्ट्र की दण्ड शक्ति के सुव्यवस्थित रहने पर ही इन तीनों की लक्ष्यसिद्धि सम्भव है। उस शक्ति को क्षत्रिय में निहित कर दिया गया है।

(तृतीय स्थान-अन्न-जलादि जीवन-सुविधाओं के स्थापन और उनके अभाव के दूरी करण का है।) इसके लिए व्यक्ति को अर्थ-संचय के प्रतीक उदर) को नियुक्त कर दिया गया है। अन्न-संचय, अभाव प्रतिकार और भाव-प्रतिपान-शक्ति उदर रूप वैश्य में निहित कर दी गई है। इस शक्ति के बिना समाज पुरुष की मुख-बाहु-चरण (ब्राह्मण-क्षत्रिय-शूद्र) रूप अंगत्रयी अपने कार्य—सम्पानद में सक्षम न हो सकेगी राष्ट्रीय अर्थ-शक्ति के सुदृढ़ होने पर ही वर्णत्रयी का स्वसाध्य सम्पादन सम्भव है। वह अर्थशक्ति वैश्य में निहित की गई है।)

(ग) अधिकार—

वर्णों का यह शक्ति-प्रतिमान उनके अधिकारों का जनक है (१) विद्याव्यसनी, ज्ञान प्रसारक और सद्भाव—विस्तारक ब्राह्मण वर्ण को समाज ने मुख्यता प्रदान की है—गौरव प्रदान किया है, किन्तु उसे धन-संचय, ऐश्वर्य-विलास तथा राज्य शासन के अधिकार से मुक्त रखा है।

(२) अन्याय—प्रतिकार तथा न्याय-प्रतिपादन में प्राणों में आहुति देने वाले व्यक्ति के हाथ में शासन-व्यवस्था सौंपी गई है। उसे प्रमुत्व प्रदान किया गया है और असद्धन्नतथा (सत्प्रतिष्ठापन के द्वारा स्वप्रभाव स्थापित करने का अवसर दिया है) किन्तु आदर उसे विद्याव्यसनियों से न्यून और लक्ष्मी सम्पति—निर्माताओं से अल्प दी गई है।

(३) सम्पत्ति उत्पन्न करने वालों को धन संचय और ऐश्वर्योपभोग का अधिकार दिया है, किन्तु उन्हें विप्रवत् गोरव और क्षात्रवत् प्रमुत्व नहीं दिया गया। यदि ऐसा न किया जाता तो किसी एक ही वर्ग में शक्ति के निहित हो जाने से अव्यवस्था, अनुशासन हीनता और अत्याचार प्रवृत हो जाते यही उनकी यथायोग्य दक्षिणा है। इसी की प्राप्ति के लिए उन्होने अपने-अपने वर्ण का वरण किया है।

अधिकार-परिभाषा—

किसी पदार्थ को उपयोग में लाने के लिए समाज जिस व्यक्ति को जिस अंश तक स्वतन्त्रता देता है उस अंश तक उसका उस पदार्थ पर अधिकार कहा जाता है। देखना यह है कि अधिकारों का आधार क्या हो ? इस विषय में इस समय तक दो पक्ष प्रचलित हैं—

(क) जन्माधिकारवाद

(ख) श्रमाधिकारवाद

जन्माधिकारवाद –

(१) जन्माधिकार वादियों का कहना है कि परमात्मा ने जिस मनुष्य को जिस कुल में जन्म दे दिया है उसे, उस कुल में जन्म लेने के कारण अपने पिता तथा पूर्वजों की सम्पत्ति, सुविधा, अवसर तथा जीवन-साधनों के उपयोग करने का जन्म सिद्ध अधिकार है।

मेरी दृष्टि में वर्तमान युग की सभी विपत्तियों मूल कारण यह जन्माधिकारवाद ही है। उन्नति के दो मूलमन्त्र हैं— एक 'भय' और दूसरा 'उत्साह'। समाज से 'भय' और 'उत्साह' को समाप्त कर देने के लिये — जन्माधिकारवाद से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं सोचा जा सकता। विशेषकर भय का तो इसमें सर्वथा लोप ही हो जाता है। यदि सम्पत्तिशाली पिता के पुत्र को यह 'भय' न हो कि दुरुपयोग करने पर उसकी सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है और जन्मना शूद्र को यह उत्साह न हो कि वह योग्यता सम्पादन करके उन्नति प्राप्त कर सकता है-(उच्चतर वर्णाधिकार को पा सकता है) तो समाजिक उन्नति सम्पूर्ण मार्ग अवरूद्द हो जाता हैं।

इसलिए 'भय' और उत्साह दोनों का बाधक होने के कारण जन्माधिकारवाद समाज कल्याण का विघातक है। उसके द्वारा संसार का सुखी हो सकना असम्भव है।

श्रमाधिकारवाद—

(२) किसी पदार्थ पर किसी का अधिकार क्यों कर ? इस विषय में दूसरा वाद श्रमाधिकारवाद है। श्रमाधिकारवादियों का कथन है कि जिस किसी व्यक्ति ने सम्पति के उत्पन्न करने में श्रम किया है उसका उस पर स्वतः सिद्ध अधिकार है— किन्तु यह बात भी युक्ति की कसौटी पर सर्वथा खरी नहीं उतरती। प्रायः

देखा गया है कि यदि कोई व्यक्ति श्रमोपार्जित सम्पत्ति का दुरुपयोग करने लगे तो उसको समाज-विधान ऐसा करने से रोकता है। श्रमाधिकारवादी कहता है—यह मेरी कमाई है इसे जैसे चाहूं फूंकूं। उसका यह कहना ठीक ऐसा ही है जैसे कोई आत्महत्या करने वाले वाला व्यक्ति कहे कि यह शरीर मेरा हैं, मैं इसे रखूं चाहे फूंकूं। जिस प्रकार आत्महत्या करने वाले को राजनियम के आधीन, अपने अधिकार के दुरुपयोग करने से रोक दिया जाता है उसी प्रकार स्व-श्रमोपार्जित सम्पत्ति के भी दुरुपयोग करने पर उसे रोक दिया जाना चाहिए।

सदुपयोगवाद—

(३) इसके लिए तृतीय सिद्धान्त है—सदुपयोगवाद। किसी सम्पत्ति का अधिकार का आधार सदुपयोग हो। न जन्माधिकारवाद, न श्रमाधिकारवाद, अपितु सदुपयोग-वाद हो इसी सदुपयोगवाद का द्वितीय नाम वर्णव्यवस्था रखा जा सकता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि जन्म अथवा श्रम का योग्यता के निर्णय में कोई स्थान नहीं इसका अर्थ उल्टे यह जरूर है कि जन्म तथा श्रम भी सदुपयोग की सम्भावना में सहायक हो। जिस मनुष्य ने आयुर्वेदिक विद्या का अभ्यास किया है और उसके गृह पर कई पीढ़ियों से यह कार्य चला आता है तो उसकी योग्यता के बढ़ने की सम्भावना निःसन्देह अधिक है। और जिस व्यक्ति ने कोई पदार्थ श्रम द्वारा अर्जित किया है उसके द्वारा उसके दुरुपयोग की सम्भावना बहुत कम है। यह सब होते हुए भी उसके अधिकार का आधार 'सदुपयोग' ही है और सदुपयोग की सम्भावना ज्ञान और आत्म संयम के संयोग मे ही है।

सारांश—

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति आत्मबुद्ध होकर समाज पुरुष का मुख-बाहु-ऊरु-पाद में से कोई एक अंग बनना वरण करे। वह मुख बने तो समाज पुरुष का, बाहु बने तो समाज की ऊरु-उदर बने तो समाज पुरुष का कल्याण संभव है।

वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था एक विश्लेषण

डॉ० त्रिलोक चन्द
अध्यक्ष दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

बड़े ही सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् कर्म के आधार पर वर्ण-निश्चित होता था कि ब्राह्मण की सन्तान क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो जाय। कहने का भाव यह है कि किसी भी वर्ण से आयी सन्तान अपने कर्मों के अनुसार किसी भी अन्य वर्ण की हो सकती थी। शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् समान स्वभाव वालों का आपस में विवाह किया जाता था और फिर वे पति-पत्नी उसी वर्ण के कहलाते थे और फिर उसी कार्य क्षेत्र में कार्यरत होते थे।

कर्म के आधार पर बनी यह वर्णव्यवस्था बहुत ही लम्बे समय तक सुचारू रूप में चलती रही। आगे चलकर मानव की संकीर्णताओं, स्वार्थ मोह, आलस्य आदि के कारण इसका ह्रास होना आरम्भ हो गया। उच्च वर्ण के मनुष्यों ने अपनी सन्तानों को भी उच्च वर्ण की रखना चाहा, भले ही वे शूद्र रहें हों। इस प्रकार धीरे-धीरे यह वर्णव्यवस्था कर्म से हट कर जन्म के आधार पर हो गयी। महाभारत काल में ही वर्णव्यवस्था के पतन के लक्षण स्पष्ट होने लगे थे। गुरु द्रोणाचार्य ने एकलव्य को शिक्षा देने से इसलिए मना कर दिया था क्योंकि वह शूद्र कुल में उत्पन्न हुआ था। आगे चलकर तो शूद्र कुल में उत्पन्न होने वाले बालकों को शिक्षा से वंचित कर दिया गया क्योंकि वे जन्म के आधार पर ही शूद्र कहलाये जाने लगे। इस प्रकार हम निश्चित रूप में यह बात कह सकते है कि जन्म के आधार पर वर्णव्यस्था होने से सबसे अधिक हानि शूद्रों को हुई। उनके उत्थान के रास्ते ही बन्द हो गए।

कालान्तर में वर्णव्यवस्था की और अधिक हानि इसलिए हुई कि पढ़ने--पढ़ाने का प्रचलन धीरे-धीरे कम होता गया और आगे चलकर तो यह समाप्त प्रायः हो गया था। फिर एक समय ऐसा आया जब वर्ण के स्थान पर जाति का प्रयोग होने लगा। जबकि जाति तो सभी मनुष्यों की एक ही मानव जाति है। पतन का यह

सिलसिला यहीं पर नहीं रूका बल्कि आगे चल कर इन चार जातियों में से अनेकों जातियां बन गयी। ये सभी जन्म के आधार पर ही मानी जाती रहीं और आज तक मौजूद है। यद्यपि महर्षि दयानन्द जैसे समाज सुधारक महान पुरुषों ने वर्णव्यवस्था का वैदिक स्वरूप लाने का अथक प्रयास किया परन्तु जातिवाद की जड़े इतनी गहरी और मजबूत हो गयी थी कि उसे पूर्णरूप से जड़ से न उखाड़ा जा सका। आज भी जाति व्यवस्था बहुत प्रचलित है। यद्यपि शिक्षा और पाश्चात्य प्रभाव के कारण जाति व्यवस्था कुछ हल्की पड़ने लगी है। हमारे देश की सरकार ने भी इसको कम करने के प्रयास किये और इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली परन्तु हमारे कुछ कर्णधार जो बाहर से जाति को नकारते है परन्तु भीतर से अपने स्वर्थं के लिए इसे पुष्ट करते रहे। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि जातिवाद फिर से बढ़ रहा है।

वर्णव्यवस्था जो कि कर्म के आधार पर रही और जाति व्यवस्था जो पूर्णरूप से जन्म के आधार पर है। ये दोनों आपस में मेल नहीं खाती है। वर्णव्यवस्था जहां अपने स्वभावनुकूल कार्य करने का अवसर प्रदान करती थीं जिससे राष्ट्र का अधिक से अधिक विकास होता था वहां जाति व्यवस्था में यह स्वतंत्रता नहीं है। जाति व्यवस्था में तो व्यक्ति कार्य करने में परतन्त्र था। उसका नाम और काम उसकी जाति के ही आधार पर था, चाहे वह उसके योग्य था या नहीं। इससे भिन्न-भिन्न कार्य क्षेत्रों में योग्यतम मनुष्यों का आना ही बहुत कम हो गया क्योंकि स्वभाव के प्रतिकूल होने पर भी अपनी जाति के आधार पर ही कार्य करना पड़ा जिससे उसकी मूल योग्यताओं का उपयोग न हो सका। शूद्र कुल से आने वाली योग्यताओं का तो रास्ता ही बन्द हो गया। कालान्तर में तो शूद्रों पर जो अत्याचार किये गये उनको जानकर भी हृदय कांप उठता है। सारा समाज जातियों में खण्डित होकर रह गया। अधिकतर लोग राष्ट्र की परवाह न करके अपनी-अपनी जाति के बारे में ही विचार करने लगे। कालान्तर में तो दूसरी जाति के प्रति उदासीनता ही नहीं बल्कि घृणा का भाव भी कहीं-कहीं होने लगा था। लोग अपने विवाह आदि सम्बध अपनी ही जाति में करने लगे थे और आज भी करते हैं इस प्रकार समूचा राष्ट्र जाति के कारण विघटित

होकर कमजोर होता गया और इतना पतित हुआ जाति भारत की परतन्त्रता का एक मुख्य कारण सिद्ध हुई। जाति व्यवस्था में न कि सबके उत्थान की क्षमता थी और न ही रूचि के अनुसार कार्य अपना कर अपने और राष्ट्र के उत्थान की कोई योग्यता थी। यद्यपि आजकल यह स्वतन्त्रता है कि मनुष्य जो उचित समझे, उसे अच्छा लगे और अवसर मिले वह यही कार्य कर सकता है परन्तु उसकी जाति जन्म के आधर पर ही मानी जाती है। अधिकतर मनुष्य नाम के साथ ही जाति बोधक शब्द लगाते हैं।

विद्वानों, समाज के कर्णधारों, बुद्धिजीवियों आदि सभी का यह कर्तव्य है कि जन्म के आधार पर जाति व्यवस्था के निराकरण में अपना सहयोग देवें।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार

डॉ० (कु०) सुषमा

९०, द्वारिकापुरी

संस्कृत विभाग एस०डी० का० मु०नगर २५१००१

संस्कृत वाङ्मय में वर्ण शब्द रंग (रोगन), रूप, वंश, शब्द, ख्याति, प्रशंसा, वेषभूषा, छवि, चादर, आवरण, कुमगीत, हाथी की झूल, गुण-धर्म, धर्मानुष्ठान और अज्ञात राशि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1] अमरकोश में वर्ण शब्द द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शुक्ल आदि रंग स्तुति और अक्षरों के अर्थ में लिया गया है।[2] वहीं एक अन्य स्थल पर कुछ के लिए वर्ण शब्द के प्रयोग का संकेत किया गया है।[3] किन्तु इस अर्थ में यह प्रयोग अनेक रंगों के वस्त्र के संयोजन के कारण हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। व्याकरण के अनुसार वर्ण शब्द की रचना वर्ण धातु से घन् प्रत्यय करके होती हैं। पाणिनि कृत धातु पाठ के अनुसार वर्ण धातु प्रेरणार्थक है। इस आधार पर वर्ण शब्द के विविध अर्थों में मूल अर्थ खोजने का प्रयत्न किया जाए, तो ऐसा लगता है कि रंग अपने रूप के करण नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से चित्त को आकर्षित करते हुए प्रेरित करता है। ख्याति (स्तुति) व्यक्ति के चारित्रिक गुणों की ओर इंगित करती हुई जनसामान्य को विशिष्ट आदर्शमय जीवन-यापन करने की प्रेरणा देती है और अक्षर भाषा के प्रतिनिधि होकर विचारों को प्रेरित करते हैं। इसलिए वर्ण शब्द के उपर्युक्त तीन अर्थ ही मुख्य होने चहिए। आवरण छिपी हुई वस्तु को देखने की उत्सुकता उत्पन्न करके प्रेरणा का हेतु बनता है, अतः उसे भी मूल अर्थों में सम्मिलित किया जा सकता है।

जहां तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र अर्थों में वर्ण शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, हमें विचार करना होगा कि ये किस रूप में प्रेरणा के स्रोत हो सकते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय वर्ण आदि शब्दों का प्रयोग मनुष्यों के वर्ग विशेष के लिए होता। है

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ० ९०१

२. वर्णो छिजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे। अमर कोश, ३/३/८७

३. प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः। अमरकोश- २/३/४२

इस प्रयोग के मूल हैं क्या हेतु है, यह प्रश्न ही प्रस्तुत गोष्ठी में विचारणीय विषय है। वर्तमान समाज में ब्राह्म आदि वर्ग कुल विशेष में जन्म लेने के कारण माने हैं। परन्तु एक अन्य विचारधारा के अनुसार कर्मविशेष के आधार पर वर्ग विशेष को ब्राह्मण आदि शब्दों से इंगित किया जाना चाहिए। इन दोनों पक्षों में प्रेरणार्थक वर्ण शब्द की संगति है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर ही वर्णव्यस्था में वर्ण शब्द के अर्थ का निर्णायक हो सकता है। समाज के वर्ग कुलविशेष के आधार पर किसी भी प्रकार की प्रेरणा देते हैं, ऐसा मुझे नहीं लगता। इसके विपरीत कुल-विशेष में जन्म लेने के कारण कर्तव्यों की चिन्ता किये बिना आदर, सम्मान आदि प्राप्तव्यों के प्रति स्वतः पात्रता मानने से कर्तव्य-पालन के प्रति शिथिलता की सम्भावना अवश्य होती है। अतः कुल-परम्परा से वर्ण-व्यवस्था मानना हमें वर्ण शब्द के मूल अर्थ में संगत प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत कर्मविशेष अथवा गुण–कर्म स्वभाव के अनुसार की गयी वर्ण-व्यवस्था निश्चित ही प्रेरणादायक होगी। वर्ण विशेष के वाचक ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य और शूद्र शब्दों का प्रयोग हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद और यजुर्वेद के पुरुष–सूक्तों के मन्त्र में मिलता है।[1]

मन्त्र में 'अजायत' क्रिया को देखकर कुछ लोग मुख, बाहु आदि से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्गों की उत्पत्ति की कल्पना करते हैं। वह (कल्पना) न केवल अस्वा–भाविक हैं, अपितु मन्त्र के अभिप्राय से भी विपरीत है। अजायत क्रिया से पूर्व इस में दो और क्रियाएं हैं। इनमें प्रथम क्रिया है 'आसीत', जिसका अर्थ भूतकाल में अथवा भूतकाल से सत्ता का होना है। इससे ब्राह्मण का चिरकाल से मुख होना सूचित होता है। ब्राह्मण मुख किसका था? कोई वर्गविशेष किसी प्राणी का अंग विशेष-मुख-नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण को किसी व्यक्ति का अंग–विशेष निश्चय ही नहीं कहा गया है। हां, उसे किसी समाज या समूह का मुख माना जा सकता है। मुख शब्द का प्रयोग बोलने वाले अथवा निर्देश देने वाले अंग के

---

१. (क) ऋग्वेद १०/९०/१२
(ख) यजुर्वेद, ३१/११

लिए प्राय: होता है। क्योंकि निर्देश (प्रेरणा और आदेश) मुख्य रूप से मुख से ही दिया जाता है, हाथ आदि की चेष्टाएं इसमें सहायक तो हो सकती है, परन्तु इस प्रसंग में उन्हें प्रधानता नहीं दी जा सकती। इस आधार पर हम कल्पना कर सकते हैं कि जो व्यक्ति या वर्ग समाज का निर्देशक और पथ-प्रदर्शक रहा है, उसे ही इस मन्त्र में ब्राह्मण के रूप में इंगित किया गया है।

विविध आघात-प्रतिघातों से शरीर की सुरक्षा का कार्य बाहुओं द्वारा सम्पन्न होता है। यहां 'कृत:' क्रिया का प्रयोग रक्षा काउ त्तरदायित्व सौंपना इस अर्थको सूचित करता। इसलिए भी समाज की रक्षा करने वाले, पीडाहारी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेश के लिए राजन्य (क्षत्रिय) शब्द का प्रयोग तर्कसंगत प्रतीत होता है। यही स्थिति उदरपूर्ति के लिए सामग्री जुटाने वाले वैश्य की है।

उपर्युक्त मन्त्र में 'अजायत' क्रिया प्रयोग केवल शूद्र के प्रसंग में हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रों की उत्पत्ति बारम्बार होती रही है। यहां प्रश्न होता है कि 'होना' और 'उत्पन्न होना' इन दोनों क्रियाओं में मूलभूत अन्तर क्या है? 'होना' क्रिया सत्ता या स्थिति के सातत्य को सूचित करती है, 'जबकि उत्पन्न होना' पद सत्ता की आकस्मिक उपलब्धि को बोधित करता है इस आधार पर मैं कहना चाहूंगी कि ब्राह्मण आदि वर्गों में अपने-अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठा प्राय: सतत रही है। परन्तु इन्हीं वर्गों में से एक आध व्यक्ति में अपने कर्तव्य-पालन की क्षमता का अभाव भी दृष्टिगत होता है। ऐसी स्थिति में उन्हें न तो विशिष्ट कर्तव्य-निर्वाह के लिए उत्तरदायी माना जा सकता था, जिससे उन्हें स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा जा सके और न ही आयोग्य मानकर समस्त कार्यो से अलग करना उचित माना जा सकता था। इसलिए उनके सामर्थ्य और श्रम का उपयोग करने के उन्हें ब्राह्मण आदि का सहायक बनाया जाता रहा है अर्थात् उनके (ब्राह्मण आदि के) पूर्ण निर्देशन में किसी कार्य के सम्पादन में उन्हें लगाया जाता रहा है। इस प्रकार योग्यता के अभाववश उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य न सौंपने के कारण ही उन्हें शूद्र वर्ग से रखा गया है। इस वर्ग में ब्राह्मण आदि वर्गों से व्यक्ति का प्रवेश उसकी अक्षमता

के कारण समय-समय पर होता रहता है। इसलिए 'अजायत' क्रिया का प्रयोग शूद्र वर्ग में कुल परम्परागत निरन्तरता का निषेध करता प्रतीत होता है, अर्थात् शूद्र वर्ग की कोई कुल परम्परा नहीं रही है। उसकी सन्तति को इस वर्ग का सदस्य स्वभावतः नहीं माना जाता रहा है। योग्यता अर्थात् कार्य-सम्पादन में अक्षमता की स्थिति में भले ही शूद्र की कोई सन्तान इस वर्ग में रह जाए।

उपनिषदें भी वर्ण–व्यवस्था के प्रसंग में गुण-कर्म-स्वभाव को ही महत्व देती प्रतित होती है। इसी कारण छान्दोग्योपनिषद् में अध्ययन के विषय में वेदों सहित अनेक विद्याओं के साथ ब्रह्मविद्या और क्षत्रविद्या का नामतः परिगणन किया गया है।[1] विद्याओं के ये दोनों नाम ब्राह्मण और क्षत्रियों के गुण-कर्म से सम्बन्धित होने का ही संकेत देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी के प्रश्न का अन्तर देते हुए याज्ञवाल्य स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मविषयक ज्ञान को प्राप्त करके ही ब्राह्मण अपने जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करता है।[2] इसलिए एक अन्य प्रसंग में वही कहा गया है कि ब्राह्मण उस परमतत्त्व को जान कर प्रज्ञावान् बने।[3] तत्त्वज्ञान ब्राह्मण का सबसे मुख्य गुण होता। तत्त्वज्ञान के कारण उसके हृदय के सर्वविध संशय मिट जाते है और वह इतना प्रामाणिक हो जाता है कि उसका जीवन ही आदर्श बन जाता है। इसी कारण तैत्तिरीय उपनिषद् में स्नातक को दीक्षान्त उपदेश देते हुए कहा गया है कि तुम्हें जीवन में जब भी कभी कर्तव्याकर्तव्य विषयक अथवा आदर्शचरित्रविषयक विचिकित्सा हो, उस समय तुम्हें श्रेष्ट ब्राह्मणों के पास जाकर

---

१. (क) अध्येमि · देवविद्याम् ब्रह्मविद्याम् भूतविद्याम् क्षत्रविद्याम्।
छन्दोग्योपनिषद् ७/१/२

(ख) विज्ञानेन वै ऋग्वेदं विजानाति······ देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्याम् नक्षत्रविद्याम् ~····। छान्दोग्योपनिषद्, ७/७/१

२. अथ य एतदक्षरं गार्गी विदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।
बृहदारण्यक उपनिषद्, ३/८/१०

३. तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/४/२१

बैठना चाहिए और उनके जीवन का अवलोकन करना चाहिए। वे जीवन में जैसा व्यवहार करते हों, तुम उसे प्रामाणिक मानो और वैसा ही आचरण करो।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ब्राह्मण को सर्वविध संदेहो से रहित होने के कारण समस्त पापों और राजसिक विकारों रहित माना गया है।[2]

वर्ण—व्यवस्था में गुण-कर्म-स्वभाव के महत्त्व को समझते हुए ही शिखा-सूत्र (यज्ञोपवीत) रहित सन्यासी के लिए भी ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस तथ्य की पुष्टि जाबाल उपनिषद् से होती है। जहां महर्षि अत्रि के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्य कहते हैं—यतः संन्यासी यज्ञोपवीत के अभाव में भी शुचि (पवित्र) अद्रोही, रागद्वेष आदि से रहित और भिक्षाजीवी होता है, अतः उसे ब्राह्मण हो माना जाता है।[3] किसी को ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय केवल विद्यावान् होने से ही नहीं कहा जाता, जबतक वह विद्या उसके स्वभाव का अंग न बन जाए, उसका गुण न बन जाए। इस रहस्य को बृहदारण्यक उपनिषद् में अत्यन्त सहजभाव से प्रकट करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण को चाहिए कि वह पाण्डित्य को निःशेष कर, पूर्णविद्वान् होकर, सरलता से निरभिमान होकर बालभाव से जीवन जीने की इच्छा करे। जब सरलता रूप बालभाव और पाण्डित्य जीवन में प्रतिष्ठित हो जाए, तो वह मुनिभाव को अपनाने का प्रयत्न करे। जीवन में मुनिभाव के प्रतिष्ठित हो जाने

---

१. ये के च अस्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वया आसनेने प्रश्वसितव्यम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः।······ यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः।······ धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः। तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/३-५

२. विपापो विरजो अविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति।- बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/४/२३

३. अथ ह एनमत्तिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्···अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः स होवाच ······ शुचिरद्रोही भैक्षणो ब्रह्मभूयाय भवति। जाबाला उपनिषद्—५

पर वह पूर्ण ब्राह्मण बनता है। इसके बिना किसी को ब्राह्मण समझना आर्त अर्थात् कष्ट कर है।[1] ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों में गुण-कर्म-स्वभाव की महत्ता होने के कारण ही शरीर की रक्षा करने वाले प्राणों को भी क्षत्र (क्षत्रिय) कहा जाता है।[2]

वाधूल स्मृति में गुणकर्म स्वभाव के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की स्वीकृति का संकेत बहुत स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। वहां कहा गया है कि शान्त स्वभाव वाला, मन को वश में रखने वाला, क्रोध के वश में न होने वाला, आत्मजयी और जितेन्द्रिय श्रेष्ठ व्यक्ति शूद्र ही होता है—

शान्तं दान्तं जितक्रोधं जितात्मानं जितेन्द्रियम्।
तमग्रयं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रः प्रकीर्तिता। ।।[3]

लघु आश्वलायन स्मृति में यह स्वीकार किया गया है कि किसी भी कुल में उत्पन्न व्यक्ति यदि अपने कर्म का परित्याग कर देता है, पराधीन वृत्ति होकर जीता है, वह व्यक्ति अधीतविद्य होता हुआ भी शूद्र के समान हो जाता है। इसी प्रकार जो द्विज वेदों का अध्ययन न करके अन्यत्र परिश्रम करता है, वह श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर भी कुलसहित शूद्र हो जाता है—

यश्च कर्मपरित्यागी पराधीनस्तथैव च।
अधीतोऽपि द्विजश्चैव स च शूद्रसमो भवेत् ।।
अनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।[4]

---

१. तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विध बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्रामहृणः। अतोऽन्यदर्त्तिम्। बृहदारण्यक उपनिषद्, ३/५/१

२. क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते ह एनं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति।— बृहदारण्यक उपनिषद्, ५/१३/४

३. वाधुल स्मृति, १९३½, पृ० सं० २६४१।

४. लघु आश्वलायन स्मृति, २२/२२-२३

यहां पूर्व पद्य में द्विज को विद्यावान् होते हुए भी कर्मपरित्यागी होने से शूद्र के समान होने की बात कही गयी है, जब कि द्वितीय पद्य में विद्या का अभाव होने पर उसका पूर्णतः शूद्र होना स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार वाधूल स्मृति में कहा गया है कि अन्य गुणों के होते हुए भी गृहस्थ ब्राह्मण यदि यज्ञ-यागादि नहीं करता, तो वह ब्राह्मण नहीं रह जाता पतित हो जाता है—

कृतदारो न वै तिष्ठेत् क्षणमप्यग्निना विना।
तिष्ठेत चेद्द्विजो ब्राह्मं त्यक्त्वा तु पतितो भवेत् ॥[1]

इसी स्मृति में एक अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि जो विप्र मोहवश विधिपूर्वक देवाराधन नहीं करता अर्थात् सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र आदि नहीं करता न ही बलिवैश्वदेव यज्ञ करता है, वह निश्चय ही शूद्र हो जाता है—

देवताराधनं चैव वैश्वदेवं यथाविधिः।
न कुर्याद्यदि मोहेन स चण्डालो न संशय ॥[2]

कपिल स्मृति के अनुसार तीन अथवा चार बार हिरण्यगर्भ दान करने से शूद्र मौञ्जीबन्धन अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी हो जाता है और यज्ञोपवीत धारण करने के अनन्तर वह पूर्ण ब्राह्मण हो जाता है—

हिरण्यगर्भत्रितयदानमात्रेण तत्क्षणात्।
हिरण्यगर्भदानस्य चतुर्वारकृतस्य तु।
महिम्ना वृषलस्यापि मौञ्ज्यामधिकृतिर्भवेत् ॥
ततोऽपि कृतया मौञ्ज्या शूद्रो ब्राह्मण्यमृच्छति।[3]

कपिलस्मृतिकार की यह भी मान्यता है कि श्रेष्ठ ब्राह्मण किसी भी व्यक्ति के गुण-कर्म स्वभाव को देखकर यह निर्धारित करता है कि वह अमुक वर्णविशेष का है, जिसके फलस्वरूप अतिशय हीन कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी उच्च वर्ण का अंग (सदस्य) हो जाता है—

---

१. वाधूलस्मृति, १५३, पृ० २६३७।
२. वाधूल स्मृति, २२४, पृ० २६४४।
३. कपिलस्मृति ८८३½, ८६६-८६७½

अकर्तुमन्यथाकर्तुं कर्तुं सर्वं विचक्षणः ।
दुर्वर्णानपि सद्वर्णानवशात् कुरुते क्षणात् ।।[1]

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के प्रसंग में आचार्य मनु का वह वचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जहां उन्होंने व्यवस्था दी है कि गुण-कर्म–स्वभाव के अनुसार किसी भी वर्ण में परिगणित होने के बाद भी व्यक्ति यदि उस वर्ण के अनुकूल कर्मों का आचरण नहीं करता है, तो वह न केवल दास अर्थात् शूद्र हो जाता है, अपितु उसे एक प्रकार से दण्ड के रूप में शत्रुओं का दास होना पड़ता —

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।
पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति (दस्युषु) शत्रुषु ।।[2]

महाभारत के शान्तिपर्व में सत्य, दान, अद्रोह, क्रूरता का अभाव (दया), त्रपा, अघृणा (प्रेम) और तप आदि गुण जिन लोगों में प्रतिष्ठत हैं, उन्हें ब्राह्मण कहा गया है —

सत्यं दाममथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ।[3]

इस पद्य में 'दृश्यते' और 'स्मृत' क्रियाए स्पष्ट रूप से सूचित करती हैं कि कि उपर्युक्त गुणों को देखकर ही कुछ विशिष्ट लोगों के लिए ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है, जन्म के कारण नहीं ।

इसी प्रकार जिन लोगों में युद्ध आदि की प्रवृत्ति, वेदाध्ययन के प्रति अनुराग, जनसामान्य से कर लेने तथा ब्राह्मण आदि को दान देने की प्रवृत्ति है, उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है—

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः ।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्चते ।।[4]

---

१. कपिलस्मृति ८८२
२. मनुस्मृति १२/७०
३. महाभारतशान्तिपर्व, १८६/४
४. महाभारत शान्तिपर्व, १८६/५

यहाँ सेवते संगतः, रतिः और उच्चते पद स्पष्ट संकेत करते हैं कि उपर्युक्त गुणों अथवा स्वभाव के कारण ही किसी व्यक्ति को क्षत्रिय माना जाता रहा है।

इसी प्रकार वेदाध्ययन की अभिरुचि के साथ-साथ जिन लोगों में वाणिज्य, पशुरक्षा, कृषि आदि के माध्यम से धनसंग्रह की प्रवृत्ति विद्यमान है, उनकी वैश्य संज्ञा होती है—

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः॥[1]

इस पद्य में भी रतिः सम्पन्नः और संज्ञितः पद सूचित करते हैं कि कुछ विशेष गुणों के कारण ही कुछ लोगों की वैश्य संज्ञा होती रही है। इसी पद्य में शुचिः पद स्पष्ट रूप से स्वभाव का ही बोधक है, जिसका सम्बन्ध कुल विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता।

इसके विपरीत जो लोग सर्वविध उचित-अनुचित भोजन में रूचि रखते हैं, जिनको सद-सद् कर्म की चिन्ता नहीं है, शुचिता का ध्यान नहीं है, जिन्होंने वेदाध्ययन छोड़ रखा है और और स्वभाव से अनाचारी हैं, वे शूद्र माने जाते है—

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥[2]

शूद्र की परिभाषाभूत इस पद्य में सर्वभक्षरतिः, सर्वकर्मकरः अशुचिः, त्यक्तवेदः और अनाचारः पद व्यक्ति विशेष के स्वभाव को ही सूचित करते हैं।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणों न च ब्राह्मणः।[3]

महाभारतकार का यह भी मानना है कि पूर्वकाल में समाज का ब्राह्मण आदि वर्गों में विभाजन था ही नहीं। सभी सात्त्विक प्रकृति के थे, सूर्य के समान तेजस्वी थे और ब्रह्मा के पुत्र होने के कारण ब्राह्मण कहे जाते थे। परन्तु कलान्तर में समाज में कुछ लोग काम आदि भोगों के प्रति आसक्त हो गये, तीक्ष्णता और क्रोध उनका

१. महाभारतशान्तिपर्व, १८६/६
२. महाभारतशान्तिपर्व, १८६/७
३. महाभारतशान्तिपर्व, १८६/८

स्वभाव बनने लगा, वे अपने मूल धर्म को भूलने लगे, राग सम्पन्न हो गये, ऐसे लोगों को क्षत्रिय कहा जाने लगा। जो लोग अपने मूलधर्मों को छोड़कर गोपालन, कृषि आदि से धन संग्रह में जुट गये, वे वैश्य कहलाये तथा जो हिंसा, असत्य और लोभ आदि से ग्रस्त होकर उचित-अनुचित सभी प्रकार के कर्म करने लग गये, जिनकी शुचिता नष्ट हो गयी, वे शूद्र मान लिये गये। इस प्रकार समाज के वे वर्ग कर्मों के कारण ही बने। कर्मों के कारण ही उनके वर्णों (रंगों) में भी कुछ परिवर्तन आ गया। फलतः इन वर्गों को ब्राह्मण आदि वर्णों की संज्ञा दी गयी।[1]

महाकवि कालिदास ने रघुवंश गत इन्दुमति स्वयवर के प्रसंग में सुनन्दा द्वारा मगधराज परंतप का वर्णन कराते हुए 'राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः[2]' वाक्य में कर्म से वर्ण की प्राप्ति की और संकेत किया है।

बौद्धपरम्परा में श्रीमद्भगवद्गीता के समान प्रतिष्ठित धम्मपद में भी यह माना गया है कि जन्म, गोत्र अथवा वंश से कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य, धर्म और शुचिता गुण विद्यमान हैं, वही ब्राह्मण होता है।[3] इस ग्रन्थ में ब्राह्मण के गुणों का वर्णन ४१ श्लोकों में हुआ है। उनके अनुसार जिनमें मन, वचन और कर्म से दुष्कृत का अभाव है और संयम की प्रतिष्ठा है, वह ब्राह्मण है।[4] ब्राह्मण स्थिर बुद्धि, मेधावी, मार्ग और अमार्ग को जानने वाला तथा प्रशस्त धर्म का अनुष्ठाता होता है।[5] ब्राह्मण व्रती, क्रोधहीन, शीलवान् विद्वान, जितेन्द्रिय और मोक्षमार्ग का पथिक होता है।[6] रागद्वेष, दम्भ और दुरभिमान आदि दुर्गुण उसमें होते हैं[7] इत्यादि।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व १८८/१, १०-१४ २. रघुवंश ६/२१

३. न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुखी सो च ब्राह्मणो ।। धम्मपद, ३९३
[न जटाभिर्न गोत्रेण न जात्या भवति ब्राह्मणः।
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः ।।]

४. धम्मपद, ३९१ ५. धम्मपद्र, ४०३

६. धम्मपद, ४००

७. यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव औरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। धम्मपद, ४०७
[यस्य रागश्च द्वेषश्च मानो भ्रक्षश्च पातितः।
सर्षय इवाराग्रात् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सभी प्रसंगों में ब्राह्मण आदि के गुण-कर्म स्वभाव का ही वर्णन हुआ है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि समाज के संगठन में वर्ण–व्यवस्था का होना अनिवार्य है और यह वर्ण-व्यवस्था गुण–कर्म और स्वभाव के आधार पर प्रारम्भ की गयी थी और आज भी गुण-कर्म स्वभाव के आधार पर समाज मे उपयोगी हो सकती है। कुल-परम्परागत संस्कार भले ही गुण–कर्म और स्वभाव के निर्माण में और व्यवसाय को अपनाने में सहयोगी के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हो, फिर भी कुलपरम्परा के आधार पर वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करना किसी के लिए प्रेरणा का स्रोत नहीं हो सकती, अतः उस वर्गीकरण को वर्ण–व्यवस्था कहा जाना भी उचित नहीं हो सकता।

"वैदिक वर्ण व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार"

डॉ० जे०एस० मलिक

परियोजना अधिकारी

प्रौढ़, सतत शिक्षा एवं प्रसार विभाग, गु०कां०वि०वि०, हरिद्वार

वर्ण व्यवस्था को भारत के इतिहास में प्रमुख स्थान प्राप्त है। वर्ण व्यवस्था समाज का एक ऐसा वैज्ञानिक आधार है जो वैदिक काल से लेकर आज तक सम्पूर्ण भारत में विद्यमान है भले ही इस समय समाज विभिन्न जातियों एवं प्रजातियों में विभक्त हो गया है, लेकिन वर्ण व्यवस्था की संरचना एवं वैदिक आश्रम व्यवस्था का स्वरूप अभी भी हमारे सम्मुख स्थित है। समाज में कर्म तत्व सदियों से विद्यमान रहे है जैसे रंग, भेद, ऊंच–नीच, धर्म, मर्यादाएं तथा गुण कर्म आदि। इन सबके कारण समाज का विभाजन अनिवार्य रहा होगा। प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में समाज "आय" तथा 'दास' वर्ग में विभाजित था।[1] ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में त्वचा को भेद परक आधार माना गया है। इसीलिये भी आर्य तथा दास में भेद का अवलोकन होता है। 'आर्य' तथा 'दास' के संघर्ष का वर्णन ही मिलता है।[2] दास को अव्रत, मृध्रवाच, अनास तथा अक्रतु कहा गया है अर्थात देवताओं की आज्ञा को अस्वीकार करने वाला, कटुवाणी वाला, चपटी नाक वाला तथा यज्ञ न करने वाला। आर्यो को सदाचरण एवं सदवृत्तियों को अपनाने वाला बताया गया। इस प्रकार पूर्व वैदिक काल में रक्तगत, शरीरगत तथा सस्कारगत प्रजातीय भेद रहा। इसीलिये दोनों वर्गो का अस्तित्व अलग-अलग बना रहा। परस्पर विचारों, निर्दिष्ट कार्यो और अधिकारों के संघर्ष ने समाज को एक ऐसी चुनौती दी जिसके कारण समाज का विभाजन करना अनिवार्य हो गया तथा समाज के विभाजन का वैज्ञानिक आधार तैयार किया गया, जो कर्म व गुण के आधार को पुष्ट करता है।

---

१. ऋग्वेद २.२.४. यो दासं वर्ण मद्यरंक:

२. ऋग्वेद १.१७९.६, ३.३४.९

इस प्रकार वर्णों के नैतिक नियम समाज को कर्तव्य परायणता में बांधते है। भारतीय वर्ण व्यवस्था सामाजिक वर्गों की महत्ता और उनके कर्मों की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है। इससे व्यक्ति का बहुमुखी विकास एवं उत्थान सुरक्षित है। अपने वर्ण के कर्मानुसार तथा पुर्नजन्मों के आधार पर मनुष्य अपने संस्कारों को पुष्ट बनाता है। मानव जाति में समानता होते हुए गुण कर्म में अन्तर निहीत है तथा वर्णों में विभाजित होने पर आपस में गहरा सम्बन्ध भी है।

वर्ण-व्यवस्था की वैज्ञानिकता कर्म थी, न कि वंश से क्योंकि जब मनुष्य वर्णानुसार कर्म न करता था वह उस वर्ण से पतित कर कर्मानुसार एवं गुण-धर्म के आधार पर अन्य वर्ण में स्थापित कर दिया जाता था। मनुष्य का मान जन्म स न हाकर कम से था। सुधारवादी आज भी मनुष्यों के कर्म एव गुण के आधार पर ही मनुष्य का मूल्यांकन करते है तथा उनके कतव्यों को स्वीकार करते हैं। इसी कम प्रधान चिन्तन के कारण स्वाभाविक विकास एव गति थी, जो मनुष्य की उन्नति को सुनिश्चित करती थी तथा उसको अग्रसर होने में मार्ग प्रशस्त करती थी।

ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भ में ऐसी पुष्ट वर्ण व्यवस्था नहीं थी जो उत्तर वैदिक काल में स्थापित हो गयी थी। प्रारम्भ में समाज के दो समूह ही अस्तित्व मे थे आर्य तथा अनार्य। इन दोनों समूहों में शरीर रचना, रंग तथा आचार-विचार म काफी अन्तर विद्यमान था। आर्य गौर वर्ण, ऊचे कद, उन्नत नासिका और आकर्षणयुक्त व्यक्ति व्यक्तित्व तथा अनार्य कृष्ण वर्ण अनुन्नत नासिका (चपटी) तथा अनाकर्षित व्यक्तित्व वाले थे। इन दोनों वर्गों के धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यों मे भी अन्तर था। इसलिए अनार्यो को अनास [बिना नाक वाला] अव्रत [व्रत न करने वाला], अक्रतु [यज्ञ न करने वाला], अब्रहमन [पूजा न करने वाला] अदेवयु [देवताओं के प्रति अनासक्त] अक्रमण [कर्महीन] अयज्ञ [यज्ञ न करने वाले] अन्यव्रत [व्रत न रखने वाले] देवभिषु [देवताओं को अपशब्द कहने वाले] कृष्ण योनि आदि शब्दो से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार प्रारम्भिक काल मे समाज इन्ही दो वर्गों में चल रहा था, इसी बीच आर्यों का समाज कार्यों, गुण, रंग एवं धर्म के कारण वर्गीकृत होने लगा।

आर्यों के समाज में प्रारम्भ में दो वर्ण स्थापित किये गये-प्रथम ब्राह्मण द्वितीय क्षत्रिय और बाद में वैश्य-तीसरे वर्ण की स्थापना की गयी जो क्रमश: प्रथम वर्ग मन्त्र रचना, मन्त्र पाठ, याज्ञिक कार्य तथा पोरोहित्य कार्य से सम्बद्ध था। द्वितीय वर्ग शौर्य, युद्ध, समाज रक्षा और क्रूरता से सम्बद्ध था और तीसरा सामान्य लोगों का समूह था जिसे वैश्य कहा गया। यह व्यवस्था उत्तर काल में पुष्ट हो गयी, जो चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र में विभक्त थी। यह वर्ण व्यवस्था, वह वर्ण व्यवस्था थी जिसके द्वारा आर्यों ने सर्वश्रेष्ठ समाज की स्थापना की, जो आज तक विद्यमान है। इसके द्वारा मनुष्य के सब कार्य एवं अधिकार नियत कर सुसंस्कृत समाज का गठन किया।

कालान्तर में वर्ण व्यवस्था में भी परिवर्तन हुए हैं। वैदिक काल में मनुष्य अपने श्रेष्ट कर्मों के आधार पर उच्च वर्ग में अपना स्थापन करना जीवन का लक्ष्य मानता था। श्रेष्ठता के प्रयास में बाह्मण तथा क्षत्रिय में प्रतिस्पर्धा रही, जिससे समय-समय पर कई ब्राह्मणों ने पुरोहित कार्य छोड़ शास्त्र धारण किये तथा कई क्षत्रियों ने ब्राह्मण धर्म अपनाया जिनमें विश्वामित्र, विदेह शासक जनक, प्रवाहण जाबलि, अश्वपति केकय और विद्वान शासक अजात शत्रु जैसे क्षत्रियों ने पोरोहित्य, याज्ञिक क्रियायें तथा दार्शनिक गवेषणाओं में पारंगत होकर ब्राह्मण कर्म किया तथा ब्राह्मणों में भी क्षात्र धर्म स्वीकार करने वालों में मुख्य द्रोणाचार्य व परशुराम थे। कालान्तर में पुष्य मित्र शुंग ने भी क्षात्र धर्म स्वीकार कर शुंग वंश की स्थापना की। कण्व, सातवाहन, वाकाटक आदि राजवंश भी ब्राह्मण थे। इन लोगों ने अपने-अपने धर्म एवं कर्म बदले लेकिन वर्ण नहीं बदल पाये। इस विवरण से ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था कितनी मजबूत थी। इस सामाजिक वैदिक व्यवस्था का आधार कड़े संघर्ष एवं तप के बाद न्यायोचित व्यवस्था के अन्तर्गत तैयार किया गया।

वैदिक युग में मनुष्य श्रेठ कर्म कर श्रेष्ठ वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत स्थित होना चाहता था लेकिन आज परिस्थितिवश मनुष्य शूद्र अर्थात निम्नवर्गीय बनाना चाहता है, यह अव्यवस्था का ही द्योतक है। आज समाज की स्थिति अव्यवस्थित हो चुकी है।

इस समय के चिन्तन और प्राचीन काल के चिन्तन में रात-दिन का अन्तर आ चुका है। समाज जाति-उप जातियों में विभक्त होने के कारण अपनी वैज्ञानिकता खोता जा रहा हैं। वर्तमान चिन्तकों एवं विचारकों के लिये समाज की व्यवस्थी एक कड़ी चुनौती के रूप में खड़ी होती जा रही है। उस समय नैतिक मूल्य एवं अनुशासित जीवन का ह्रास हो रहा है तथा समाज अराजकता, अनैतिकता की और बढ़ रहा है। मानव भौतिक सुखों में इहीलोक तथा परलोक की सिद्धि मानता है, जो वैदिक सभ्यता और आदर्शों को ग्रसती जा रही है।

आज भी यदि समाज वैदिक सिद्धान्तो एवं व्यवस्था को अंगीकार करता है तो हर क्षेत्र में प्रगति सम्भव है। और प्रगति के लिये वैदिक व्यवस्था की वैज्ञानिकता को स्वीकार करना होगा।

जाति एवं वर्ण-व्यवस्था

गुलजार सिंह चौहान
सहा० पुस्तकालयाध्यक्ष

एक ही जन्म में कर्म के अनुसार वर्ण परिवर्तन हो सकता है जाति और वर्ण को एक मान लेना उचित नहीं है। आज हमारे देश में जाति-भेद की समस्या उग्र रूप धारण किये हुए है। सर्व प्रथम हम जाति शब्द को देखते हैं। जाति शब्द की शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार है— "समान प्रसवात्मिक जाति"।

अर्थात् जो प्राणी अपने जैसी सन्तान पैदा करने की सामर्थ्य रखता हो, उस प्राणी वर्ग की एक जाति होती है। जैसे- भेड़, बकरी की सन्तान भेड़, बकरी ही होगी कुत्ता नही। गाय और बैल की सन्तान गाय और बैल ही होगी, भेड़ बकरी नही। इसी प्रकार मनुष्य की सन्तान मनुष्य ही होगी, पशु नहीं। अर्थात मनुष्य चाहे किसी भी रंग या किसी देश का हो, उसकी सन्तान हमेशा मनुष्य ही होगी। अतः जाति का सम्बन्ध जन्म के साथ जुड़ा हुआ है। अर्थात जाति शब्द का अर्थ ही जन्म है। इस प्रकार जाति और वर्ण एक ही हो सकते क्योंकि जाति का सम्बंध जन्म से है और वर्ण का सम्बन्ध कर्म से है। वर्ण बदल सकता है जबकि जाति नही।

डा० राधाकृष्णन् का भी यही मत है कि वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित है जन्म पर नही। आपके अनुसार कुछ ऐसे उदाह ण है जिनमें व्यक्तियों और समूहों ने अपना सामाजिक वर्ण वदल लिया था। विश्वामित्र, अजमीढ और पुरामीढ को ब्राह्मण वर्ण में स्थान दिया गया था, और यहां तक कि उन्होंने वैदिक ग्रन्थों की रचना भी की यास्क ने अपने निरुक्त में बताया है कि सन्तानु और देवापि दो भाई थे, उनमें एक क्षत्रिय राजा बना और दूसरा ब्राह्मण पुरोहित। दास कन्या इलुषा के पुत्र कवष ने एक ज्ञ में ब्राह्मण पुरोहित का कार्य किया था। भागवत में बताया गया है कि धष्ट्र नामक क्षत्रिय जाति उन्नत होकर ब्राह्मण बन गई थी।

वर्ण व्यवस्था की कई व्याख्याएं की गई हैं। ठीक व्याख्या करने वालों में महर्षि दयानन्द सरस्वती का स्थान सबसे ऊपर है। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका [पृष्ठ २३४] में महर्षि ने कहा है कि यह विशेष जाना चाहिये कि प्रथम मनुष्य जाति सबकी एक है,

सो भी वेदों से सिद्ध है। वेद में श्रेष्ठ मनुष्य को आर्य और दुष्ट मनुष्यों को दस्यु कहा है। समाज में श्रेष्ठ और दुष्ट दोनो ही प्रकार के मनुष्य रहते हैं। जब बच्चे का जन्म होता है तब वह अबोध होता है और बडे होने पर उसमें वैसे संस्कार पडते हैं वह वैसा ही बन जाता है। जो बच्चा व अच्छे संस्कारो से वंचित रह जाता है उसमें दुष्ट वृत्तियां विकसित हो जाती है। और वह वैसा ही बन जाता है। जन्म काल से लेकर शिक्षा काल तक व्यक्ति का कोई वर्ष नही होता जन्म से चाहे वह किसी भी वर्ण का हो लेकिन शिक्षा ग्रहण करते हुए वह अपनी रूचि के अनुसार जिस पाठ्यक्रम में विशेष दक्षता हासिल कर लेता है वही उसका वर्ण हो जाता है। व्यक्ति वर्ण का चुनाव स्वयं करता है और इसमें वह अपने गुरू की सहायता भी लेता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि यदि किसी का पिता अंधा है तो क्या उसका पुत्र भी अपनी आंख फोड़ लेवे। यदि किसी का पिता कुकर्मी हो तो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म को ही करे? नही, जो पुरुषों के उत्तम कार्य हों उनको ग्रहण करना चाहिए और जो दुष्ट का कार्य हो उनका त्याग कर देना चाहिये। काशी में एक व्यक्ति ने महर्षि स जाति भेद के बारे में जानना चाहा तो महर्षि दयानन्द ने कहा कि ब्राह्मणवादि वर्ण जन्मगत नही हो सकते, यदि ऐसा हो तो एक ब्राह्मण के दो पुत्रों मे यदि एक मुसलमान और एक ईसाई हो जाये तो क्या फिर भी वे ब्राह्मण ही कहलायेगें यदि नहीं तो ब्राह्मणत्व कहां रहा इससे यह सिद्ध है कि जो उत्तम कर्म करते है वे ही ब्राह्मादि और जा उच्च वर्ण होकर नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना चाहिए। महर्षि ने यह भी कहा कि जो व्यक्ति धर्म कर्महीन हो जाये उनके यज्ञोपवीत उत्तर देने चाहिए। अर्थात चाहे वह ब्राह्मण के घर में जन्में हो लेकिन अब शुद्र माने जायेगें और उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का कोई अधिकार नही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिशु चाहे किसी का हो अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चाहे शूद्र का हो सभी समान है। सभी को शिक्षा प्राप्ति के समान अवसर मिलने चाहिये। इसलिए गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया गया है। जहां सभी के बच्चों का एक साथ रहना, खाना-पीना, पढ़ना लिखना होता है। अतः हमारा यह मत है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा बताई गई वर्ण व्यवस्था ही सच्ची वर्ण व्यवस्था है और उसी को अपनाने में राष्ट्र की उन्नति संभव है।

वर्ण-व्यवस्था और इसकी समसामयिकता

डॉ० कृष्ण कुमार
मिश्रा बाग, हनुमानगढ़ी कनखल (हरिद्वार)

प्राचीन समय में भारतीय समाज का संघटन वर्ण-व्यवस्था के आधार पर हुआ था। ये वर्ण चार थे- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्ण परम्परा की रक्षा करना राज्य का धर्म था।[1]

वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ

भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था के प्रारम्भ के संकेत 'ऋग्वेद' में उपलब्ध होते हैं। महाभारतकार ने ऋग्वैदिक वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करके इसी पद्धति से समाज का विभाजन चार वर्गों में किया था।[2]

वर्ण पद की निष्पति/वृजवरणे धातु से हुई। इसका अर्थ है- वरण करना, चुनना मनुष्य अपने स्वभाव एवं योग्यता के आधार पर अपने वर्ण को चुनता है। प्रारम्भिक काल में यह वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मानुसार रही होगी, क्योंकि उससे पूर्व सम्पूर्ण प्रजा का वर्ण एक ही था।[3] वर्णों का विभाजन उनके व्यवहार के अनुसार किया गया।

परन्तु कालान्तर में वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार पर किया जाने लगा। अब यह वर्ण के स्थान पर जातिगत हो गया परन्तु जन्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था

---

१. (क) वर्णानामाश्चमाणाञ्च राजा सृष्टोऽभिक्षिता ।।मनुस्मृति ७ ३५।।

(ख) व्यवस्थितार्यमयदिः कृतवर्णाश्रम स्थितिः ।

त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीरति ।।अर्थशास्त्र-शिक्षासमुद्देश।।

२. ब्राह्मणों मुखतः सृष्टों ब्रह्मणा राजसत्तम ।

बाहुम्यां क्षत्रियः सृष्ट उसम्यां वैश्य एव च ।।

वर्णानां परिचयार्थ त्रयाणां भरतर्षभ ।

वर्णश्चितुर्थं : पश्चात् पद्भ्यां शूद्रोविनिर्मितः ।। महाभारत-शान्तिपर्व ७२.४.५ ।।

३. अमरेन्द्र भया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो ।

एकवर्णाः समभाषा एक रुपाश्च सर्वशः ।। रामायण ३.१०.१६ ।।

को महाभारतकार द्वारा चुनौती दिये जाने पर भी यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका। वर्ण का आधार जन्म प्रतिष्ठित हो गया। मनु ने ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति को चाहे वह विद्वान् हो या मूर्ख, ब्राह्मण ही माना। वह देवता के समान महान होगा।[1] कालिदास के समय तक वर्ण निर्धारण को जन्म के आधार पर प्रतिष्ठित मान लिया गया था। भारत वर्ष में अभी तक यह व्यवस्था सामान्यतः जन्मानुसार ही प्रचलित है। गुण-कर्म का अधिक महत्व नहीं रहा हैं। यह वर्णगत धर्म अब जातिगत हो गया है।

वैदिक युग का समाज गुण-धर्म के आधार पर चार वर्णों में विभक्त था, जो कालान्तर में जन्म के आधार पर चार जातियों में विभक्त रहा। वर्णों का आधार जन्मगत हो जाना आर्यों के हिन्दुओं के लिए बहुत अधिक हानिकारक रहा। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि हिन्दू समाज के पतन और पराधीनता के लिए यह जन्मगत वर्ण-व्यवस्था बहुत अधिक उत्तरदायी है। अपने महत्व और प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए ब्राह्मणों ने जो कि विधि निर्माता थे वर्णों को जन्मगत निश्चित करके जो रुप दिया उसने हिन्दू समाज को छोटे छोटे वर्गों में विभक्त करके पतन के गढ़े में धकेल दिया। बौद्ध धर्म के ह्रास तथा ब्राह्मण धर्म के पुनसन्थान के युग में यह घटना और भी अधिक प्रबल रूप से हुई।

यह बहुत अधिक विस्मयजनक और कष्ट दायक है कि जिस हिन्दू जाति में इतनी अधिक उदारशीलता और ग्रहणशीलता थी, जिसने सारे विश्व में विदेशों में आर्य धर्म और सभ्यता का प्रसार किया था, इस देश में प्रवेश करने वाली सभी आक्रमण कारी जातियों यूनानी, पर्थियन, शक, हूण, कुषाण आदि को अपना अभिन्न अंग बना लिया था, वह हिन्दू समाज इतना अधिक सकीर्ण कैसे हो गया। इस अनुदारता और संकीर्ण मनोवृत्ति का मुख्य कारण वर्णों का जन्मगत हो जाना और उनमें पारस्परिक सम्बन्धों का कठोर हो जाना ही है। इस कारण निम्न वर्णो मे उत्पन्न होने वाले बालकों के और व्यक्तियों के उन्नति के द्वार बन्द हो गये हिन्दू समाज से बाहर के व्यक्तियों को म्लेच्छ मान कर उनके साथ सभी प्रकार के सम्बन्धों का परित्याग कर दिया गया। कहीं हम बाह्यम्लेच्छों के सम्पर्क से दूषित न हो जावें, इस कारण समुद्र-यात्रा और अन्य विदेश यात्राओं को पाप समझा जाने लगा।

१. अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैववत् तहत् ॥ मनु० ९.३१७ ॥

वर्ण-व्यवस्था की इस कठोरता ने हिन्दू समाज को अकल्पनीय हानि पहुंचायी। वैदिक युग में वर्णो में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध मान्य थे। इनमें रुकावट नहीं थी। अनुलोभ और प्रतिलोभ विवाहों से उत्पन्न सन्ताने अपनी योग्यता और रुचि के आधार पर अपने वर्णो को प्राप्त कर लेती थीं। वर्ण-व्यवस्था के कठोर रूप से जन्मगत हो जाने पर परस्पर विवाह के सम्बन्ध समाप्त हो गये। यदि कभी परस्पर संयोग और विवाह के सम्बन्ध हो भी गये तो उनसे उत्पन्न सन्तानों को वर्ण संकर समझा गया। इनको जाति से बहिष्कृत कर शूद्रो के तुल्य माना गया।

इस समय ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाले मनु ने अनुलोभ विवाह की अनुमति तो दे दी, अर्थात् उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण की कन्या से तो विवाह कर सकता था, परन्तु यह भी अधिक सम्मानजनक नहीं था। इससे उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर थी और उसको अपने पिता का वर्ण नहीं मिल सकता था। मनु ने प्रतिलोभ विवाह का निषेध किया निम्न वर्ण के पुरुष के संयोग से उच्च वर्ण की कन्या में उत्पन्न सन्तान को अति निकृष्ट माना गया। शूद्र पुरुष ब्राह्मण कन्या में यदि सन्तान को उत्पन्न करता है तो वह सन्तान चाण्डाल होगी[1] तथा उसकी सामाजिक स्थिति पशुओं से भी अधिक गिरी हुई होगी। इसका परिणाम यह हुआ कि जाति बहिष्कृत वर्णसंकरो की संख्या बहुत अधिक हो गई। उनको हिन्दू समाज का बहुत बड़ा कलंक माना गया।

इस जन्मगत वर्ण-व्यवस्था ने शूद्रों को बहुत अधिक हीन अवस्था में कर दिया उनके सम्पूर्ण गौरव और अधिकार को यहां तक कि सम्पत्ति के अधिकार को भी छीन लिया गया। उच्च वर्णो ने शूद्रों पर अकथनीय अत्याचार किये। उनके साथ सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का निषेध कर दिया गया। विवाह आदि सम्बन्धो का तो कहना ही क्या है साथ बैठकर खान-पान भी बन्द हो गये थे। शूद्रों का एक मात्र कार्य अन्य वर्णो की सेवामात्र हो गया। समाज में इनकी अवस्था इतनी हीन और अपमानजनक हो गई कि इनका स्पर्श करना और छाया पड़ जाना भी पाप समझा जाने लगा।

---

१. मनुस्मृति १०.१२ ॥

इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि पद-दलित शूद्र वर्ग में आत्महीनता के भाव तो भर ही गये, उनमें अपनी जाति, धर्म और देश के प्रति गौरव और प्रेम के भाव भी नष्ट हो गये। इस अवस्था में उन्होंने अपने सनातन वैदिक धर्म का परित्याग करके अन्य धर्मों को स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं किया। पहले तो उन्होंने मनुष्य मात्र के प्रति समभाव का उपदेश देने वाले बौद्ध धर्म को अपनाया। जब भारत पर मुसलमानों और ईसाईयों के आक्रमण हुए और उन्होंने शूद्रों को समानता का दर्जा देने की घोषणा की तो अनेक शूद्र इन धर्मों में दीक्षित हो गये। हीन वर्ण के ये व्यक्ति बड़ी संख्याओं में मुसलमान और ईसाई हो गये।

बौद्धिक कार्य करने वाले ब्राह्मणों ने शारीरिक श्रम को हीन दृष्टि से देखा था शारीरिक श्रम से जीविका उपार्जन करने वालों को उन्होंने शूद्र की कोटि में रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि क्षत्रिय और वैश्य भी शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखने लगे। ऐसे पेशे, जिनमें कि शारीरिक श्रम अपेक्षित था, शूद्रों के लिये निर्धारित कर दिये गये। पहले शिल्पियों को वैश्य समझा जाता था। राज, बढई, कुम्हार, सुनार, लौहार, ठठरे आदि शिल्पी जो वैश्य वर्ग में आते थे, शारीरिक श्रम करने के कारण शूद्र वर्ग में ढकेल दिये गये। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जाति से बहिष्कृत और सामाजिक सम्मान से वंचित इस वर्ग ने बड़ी संख्या में हिन्दू धर्म का परित्याग करके अन्य धर्मों की दीक्षा ली। यही कारण है कि आज भारत में कारीगरों में हिन्दू कम ही दिखाई देते हैं।

शिक्षा और विज्ञान की प्रगति में भी इस जन्मगत वर्ण-व्यवस्था ने बहुत बड़ा अवरोध उत्पन्न किया। शिक्षा देने का प्रमुख कार्य ब्राह्मण वर्ग का था। प्रथम तो उन्होंने शूद्रों को विद्या-अध्ययन के अधिकार से वंचित किया, तदनतर स्त्रियों को। इस प्रकार समाज का तीन चौथाई भाग विद्या प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया।

कालान्तर में वेद आदि शास्त्रों को पढ़ने का अधिकार ब्राह्मण वर्ग का ही रह गया क्षत्रिय और वैश्य, जो पहले वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा पाते थे और यज्ञ का अधिकार

रखते थे, केवल अपनी जीविका उपार्जन के लिये मात्र उपयोगी ही शिक्षा प्राप्त करके सन्तुष्ट रहने लगे शनैः शनै ब्राह्मणों में भी विद्या प्राप्त करने के लिए परिश्रम का उत्साह मन्द हो गया। ब्राह्मण को अपने जन्म के कारण ही समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो जाता था। अतः अध्ययन के श्रम के प्रति उनकी रूचि क्यों होती ?

अपने को जन्म के कारण ही ब्राह्मण श्रेष्ठ समझने थे। उन्होंने हिन्दुओं से भिन्न अन्य जातियों को म्लेच्छ कहा और उनके साथ सम्पर्क को दोषयुक्त माना। इस सम्पर्क से बचने के लिये विदेश यात्रायें भी बन्द हो गई। इससे भारत का वैदेशिक व्यापार तो बन्द हो ही गया विदेशों से ज्ञान का सम्पर्क भी समाप्त हो गया। विदेशों में होने वाले वैज्ञानिक आष्किारों, विशेष रूप से सैन्य विज्ञान से सम्बन्धित आविष्कारों से हिन्दू वंचित रहे। भारत वर्ष की पराधीनता में यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारत की सेनायें वीरता, सहास और संख्या में किसी भी आक्रमणकारी सेना से श्रेष्ठ होने पर भी उनकी वैज्ञानिक युद्ध प्रणाली और उनके नये ढंग के विकसित हथियारों के कारण पराजित हुई।

वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के कारण अनेक वर्गों में विभाजित हुये हिन्दू समाज में वर्णो के पारस्परिक सम्बन्धों में मधुरता का अभाव रहा। परस्पर वैवाहिक और खानपान के सम्बन्ध तो समाप्त हो ही गये थे, उनमें संगठन भी नहीं रहा। वर्णो के कर्तव्य निर्दिष्ट थे, अतः प्रत्येक वर्ण अपने ही कार्य को करने में सक्षम था। सैनिक शिक्षा को प्राप्त करने और युद्धों में भाग लेने का अधिकार केवल क्षत्रियों का ही था। परन्तु सम्पूर्ण हिन्दू समाज में क्षत्रियों की संख्या अधिक नहीं थी। देश की अधिक जनसंख्या वैश्यों और शूद्रों की थी, जो सैनिक शिक्षा लेने और युद्धों में भाग लेने के अधिक़ार से वंचित थे। अतः विदेशी आक्रमणों के प्रति वे उदासीन ही रहे।

इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी आक्रमण होने पर देश की रक्षा करने के लिये उनका मुकाबला करने का उत्तरदायित्व क्षत्रिय राजाओं और उनके वेतन भोगी क्षत्रिय सैनिकों का रहा देश के बहु संख्यक समाज ने युद्धों में भाग नहीं लिया। इस कारण भारतीय सेनायें पराजित हुई। इसका दुष्परिणाम भारतीयों को पराधीनता

के रूप में भोगना पड़ा । यह देश शताब्दियों तक विदेशियों और विजातियों के अधिकार में रहकर दुःख भोगता रहा । भारत वर्ष पर मुसलमानों की विजय तभी हुई, जबकि हिन्दू समाज निर्बल हो गया और इसका पतन हो गया ।

आर्यो की हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था में ऊपर कहे गये दोष वैदिक व्यवस्थाओं को भुला देने के कारण ही सम्भव हुये थे । वैदिक वर्णव्यवस्था में समाज के सभी वर्गों को समान रूप से उन्नति करने के अवसर दिये गये थे । किसी भी वर्ण के परिवार में उत्पन्न व्यक्ति अपनी योग्यता, परिश्रम तथा रुचि द्वारा योग्य वर्ण पा सकता था । एक ही परिवार के सदस्य विभिन्न वर्णों के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण के हो सकते थे । अतः वर्णो में परस्पर विरोध और भेदभाव के अवसर नहीं थे ।

समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिये यह व्यवस्था बहुत उत्तम थी । अपनी योग्यता और क्षमता के द्वारा अपने अनुरूप कार्य को प्राप्त करके भी विभिन्न वर्णों को अपनी अन्य आवश्यकताओं के लिये अन्य वर्णों पर निर्भर रहना पड़ा था । विद्या, तप और बौद्धिक श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण को यद्यपि समाज में श्रेष्ट स्थान प्राप्त था, तथापि वह शासक नहीं था । व्यवस्था पर उसका नियन्त्रण नहीं था । प्रशासनिक सुविधाओं, आर्थिक आवश्यकताओं और घरेलू कार्यो के लिये उसे क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का आश्रय लेना होता था । इसी प्रकार क्षत्रिय शासकों के प्रशासनिक कार्यो पर ब्राह्मणों का अंकुश रहता था और धन की प्राप्ति के लिये वे वैश्यों पर निर्भर थे । इस प्रकार एक वर्ग अपने कार्यो को करते हुये भी अन्य वर्णो के सहयोग के बिना जीवन-यापन नहीं कर सकता था । अपने-अपने स्थान पर सभी वर्णो का महत्त्व और सम्मान था । वैदिक मन्त्रों में सभी वर्णों के लिये प्रेम तथा सद्भाव की प्रार्थना की गई है ।[1]

वर्ण-व्यवस्था का जो प्राचीन रूप रहा और कालान्तर में वह जिस रूप को धारण करता गया, उसका पाश्चात्य विचारकों ने भी गहन अध्ययन किया हैं । एक और जहां उन्होंने इसकी कटु आलोचना की है[2], वहीं दूसरी ओर प्रशंसा भी की है ।[3] समाज के संगठन की यह परम्परा अद्भुत है । इसका सादृश्य अन्यत्र दुर्लभ है । वर्तमान समय में भी यह किसी न किसी रूप मे अस्तितव में है ही ।

१. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु न स्कृधि ।
रुचं वैश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ यजुर्वेद १८.४८
२. Ancient law Main— पृ० १७
३. Vision of India पृ० २६२–२६३

वैदिक वर्णव्यवस्था का ऊपर का रूप प्रायः सभी सभ्यताओं में किसी न किसी रूप में मिल सकता है। समाज को शिक्षकों की और विधि निर्माताओं की आवश्यकता होती है। शासन-व्यवस्था के संचालन के लिये प्रशासकों की तथा देश रक्षा के लिये सैनिकों की आवश्यकता रहती है। समाज की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कृषक, पशुपालक, उपयोगी-शिल्पी-व्यापारी होते हैं। शिल्पी विविध सामानों का निर्माण करते हैं। विविध सेवाओं को सम्पन्न करने के लिये सेवक भी रहते हैं। वैदिक ऋषियों ने इन आवश्यकताओं का वर्गीकरण करके सामाजिक आवश्यकताओं को चार वर्गों में विभक्त किया था। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की व्यवस्था हुई।

वर्णों के इस विभाजन ने समाज की बौद्धिक, प्रशासनिक और आर्थिक उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया था। सर्वथा वर्ग हीन समाज की कल्पना अक्रियात्मक और असम्भव है। विभिन्न सामाजिक कार्यों के लिये वर्गों की रचना किसी न किसी रूप में करनी ही होती है। इसमें दोष तभी उत्पन्न होता है, जब किसी की योग्यता एवं क्षमता का विचार न करके, वंशपरम्परा को आधार बना कर उसके कार्य को सुनिश्चित कर दिया जावे। वैदिक वर्णव्यवस्था के मूलरूप को भुला देने के कारण ही हिन्दू समाज में जातिगत और वर्णगत संकीर्णतायें उत्पन्न होकर देश और जाति का पतन हुआ।

वैदिक वर्णव्यवस्था वस्तुतः समाज के कार्य को सुचारू रूप से संचालित करने का मार्ग था। यह सामाजिक आवश्यकताओं के समाधान का परमप्रभु ने प्रणति किया था और ऋषियों ने इसको प्रवर्तित किया था। अपनी सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति इस मार्ग में है। इसमें वर्णगत विशेष या भेदभाव का कोई स्थान नही है। वर्तमान युग में जो समाज में जातिगत विद्वेष तथा भेद के भाव दृष्टिगोचर होते है, उनका मूल कारण यही है कि समाज के नेताओं ने वर्ण को जाति के रूप में परिवर्तित कर उसको जन्मगत स्वरूप दे दिया। आज भी सामाजिक जातिगत विद्वेष और भेदभाव की चिकित्सा यही है कि वर्णों का आधार जन्म को न मान कर गुण-कर्म एवं योग्यता-क्षमता को प्रदान किया जावे। यही वैदिक संकल्पना है और यही परमप्रभु परमात्मा का आदेश है।

वैदिक वर्ण व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार

डॉ० जय किशन प्रसाद खण्डेलवाल
वृन्दावन शोध संस्थान वृन्दावन

यजुर्वेद में उल्लिखित "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो"। (२२ २२)

इत्यादि वैदिक प्रार्थनाएं राष्ट्रिय एकता को प्रस्तुत करती है। वैदिक संस्कृति में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं था सभी को अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप कार्य आवंटित था, सभी मिलकर समाज की उन्नति में सहायक होते थे।

वैदिक आदर्शों से अनुप्राणित वर्णव्यवस्था में ऊंच-नीच का भाव नहीं था। इसका आधार मानवता के सम्मान के लिए था। इसीलिए इस व्यवस्था को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" का उद्घोष मानवीय गौरव की भावना को अभिव्यक्त करता है। शूद्र वर्ण के व्यक्तियों ने भी वैदिक ऋषित्व के सम्मानपूर्ण पद को प्राप्त किया है। ऋग्वेद में भी कहा है—

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।" (ऋ. ५ ६०.५)

वेद स्पष्ट घोषित करता है कि न कोई बड़ा है न छोटा है— ये सभी भ्राता सौभाग्य के लिए साथ-साथ बढ़ते हैं। इसी आधार पर अथर्ववेद (१९.६२.१) में मनुष्यों को निर्देश दिया है— "प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।" कि शूद्र और आर्य सबका प्रियत्व देखें।

यजुर्वेद (१८ ४८) में परमेश्वर से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबमें समान रूप से शोभा या दीप्ति का आधान करने की प्रार्थना की गई है, जिससे सबका समान कल्याण हो और कोई भी अपमानित न हो— रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।

रुचं विश्येषु शूद्रेषुमयि धेहि रुचा रुचम्॥ (यजु० १८.४८)

सबकी समान समृद्धि से ही समाज की समृद्धि संभव है। समाज के सभी अंगों के स्वस्थ रहने पर समाज उचित दिशा में प्रगति कर सकता है। समस्तसमाज में बन्धुत्व, मित्रता की भावना वैदिक समाज व्यवस्था का आदर्श है। इसीलिए यह निश्चय व्यक्त किया गया कि हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखते हैं— मित्रस्य

चक्षुषा समीक्षा महे (शुक्ल यजु. ३६.१८) तभी यह सदिच्छा व्यक्त होती है कि सब दिशाएं हमारी मित्र हो जाएं— सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु (अर्था १६.१५.६) इस भावना के आधार पर ही वेद का आदेश है कि मनुष्य सब ओर से मनुष्य की रक्षा करें— पुमान् पुमांसं परियातु विश्वत: (ऋ. ६.७५.१४) यह है व्यापक विश्व-परिवार की वैदिक भावना। इसमें ऊंच–नीच का कहीं लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। वैदिक परिवार-रचना न तो जाति भेद के आधार पर थी और न वंश परम्परा की सीमित परिधि के भीतर।

वेदों में चारों वर्णों के कर्तव्यों का यथास्थान विधान किया गया है। ब्राह्मण को शिक्षा, क्षत्रिय को रक्षा, वैश्य को व्यापार और शूद्र को शिल्प का कार्य विशेष रूप से दिया गया है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यम्, मरूद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम् (यजु. ३० ५)

वेदों में चारों वर्णो को यज्ञ करने का अधिकार प्रदाद किया गया है। पंचजना: शब्द के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त अति शूद्र को भी यज्ञ करने अधिकार दिया गया है।—

जना यदग्निमयजन्त पंच (ऋ० १०.४५.६ यजु०—१२ २३)

वेदों में सामाजिक एकता को सुदृढ़ करने के लिए सहभोज और सहपान का भी प्रावधान है क्योंकि खानपान में सहभागी होने पर ही समाज के प्रत्येक वर्ण के लोगों में आत्मीयता का भाव जाग्रत होता है—समानी प्रपा सह को अन्भाग: (अर्था. ३.३०.६)।

वैज्ञानिक आधार—

वैदिक वर्ण व्यवस्था में योग्यता के अनुसार कार्य करने का विधान है। गुण-कर्म के विभाग से वर्ण–व्यवस्था की गई है। जाति के आधार पर यह व्यवस्था नहीं है किन्तु कर्म के अनुसार इसकी व्ययवस्था है इस व्यवस्था के अनुसार चारों वर्णो की समाज को आवश्यता है सबका समान महत्व है, ऊंच नीच का कोई भेदभाव नहीं है। कोई अपने विशेष कुल में जन्म के कारण अस्पृश्य नहीं है। सबके समान सहयोग से ही समाज की उन्नति संभव है। सभी नें समस्त कार्यो को करने की क्षमता नहीं होती। अत: यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार है और उसका उद्देश्य समाज एवं राष्ट्र की पूर्ण समृद्धि है। इस व्यवस्था से सामाजिक जीवन सुखमय एवं परिपूर्ण होता है।

यास्ककालीन वर्ण-व्यवस्था

डॉ० दिनेशचन्द्र धर्ममार्तण्ड
वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४६४०४ (उ०प्र०)

वेदों को यथार्थरूप से समझने एवं तदनुकूल आचरण करने के लिए निर्मित षडङ्ग या वेदाङ्ग साहित्य में यास्क प्रतीत निरुक्त का महत्व पूर्णस्थान है। आचार्य यास्क ने इसमें न ३४ वेदमन्त्रों और ३२ शाखा मन्त्रों की पूर्ण या आंशिक व्याख्या की है।[1] आवश्यकतानुसार इसमें जहां सांस्कृतिक, दार्शनिक एव मनोविज्ञान आदि के विविध विषयों से सम्बन्धित विशेष - परिवेश को ध्यान में रखा गया है, वहीं कहीं-कहीं समाज-विज्ञान को भी यास्काचार्य ने अनावृत किया है। क्योंकि कोई भी रचना तत्कालीन वातावरण से अछूती नहीं रहती इसलिए यास्कीय विरुक्त भी अपने समय की सामाजिक परिस्थिति से अछूना नहीं रहा है। एतत्सम्बन्धी स्थान-स्थान पर निरुक्त में निर्दिष्ट संकेतों के विवेचन से तत्कालीन समाज की एक धुंधली सी झलक मिलती है। इन संकेतों के स्रोत मुख्य रुप से यास्कीत निर्वचन और उनके मन्त्रों की व्याख्या है। जिनका दोहन करके यास्क कालीन सामाजिक वर्ण-व्यवस्था की पृष्ठभूमि देने का प्रयास है।

यास्क के समय में सामाजिक संगठन बहुत सुगठित, सुश्लिष्ट तथा निर्दोष था। समाज का आधार वर्णव्यवस्था थी, जाति-व्यवस्था नहीं। समाज में ५ जन थे :— १ ब्राह्मण २. क्षत्रिय ३. वैश्य ४ शूद्र तथा ५. निषाद। उनमें प्रथम चार जन वर्ण कहलाते थे और पांचवा जन सम्भवत: आर्यों भिन्न किन्तु आर्यो के रीति तथा धार्मिक क्रियाओं को स्वीकार करने वालों का रहा होगा।[2] जैसा कि निरुक्त ३.८ में उल्लेख मिलता है :— 'पञ्चजना : ········चत्वारों वर्णा, निषाद पञ्चम इत्यौपमन्यव :। निषाद: कस्मात् ? निषण्णमस्मिन् पापक्रमिति नैरुक्ता:।'

---

१. द्र.: चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्नकृत वेदार्थ दीपक निरुक्तभाष्य की भूमिका।
२. द्र.: पं. शिवनारायण शास्त्री, नि०मी०, पृ० ३७०

नि० २.१० के अनुसार कोई क्षत्रिय अपना क्षात्र कर्म छोड़कर यदि ब्राह्मण का कर्म करने लग जाता था। वह पुरोहित बनकर यज्ञ भी करवाया करता था। इस सन्दर्भ में यास्काचार्य ने एक आख्यान का उल्लेख किया है :— 'स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रपेदे तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि, याजयामि च त्वेति।'

अस्पृश्यता:— यास्ककालीन समाज में परस्पर छुआ-छूत भी नहीं थी। पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् (ऋ. सं. १०.५४.४) में अग्निहोत्र करने वाले पञ्चजनों में औपमन्यव आचार्य ने समाज के पांचों अंगों के नाम गिनाये हैं। यदि आपसी स्पृश्यास्पृश्यता होती, तो पांचों जन यज्ञ में एक साथ कभी नहीं बैठ पाते।[1] हां सामाजिक ऊंच-नीच अवश्य था। अपने आचार की पवित्रता तथा विद्या की गरिमा से ब्राह्मण श्रेष्ठता की सीमा माना जाता था, तो निषाद तथा वृषल दूसरी सीमा। निषाद को तो पाप का अधिष्ठान ही समझा जाता था। जैसा कि लिखा है— 'ब्राह्मणवद् वृषलवत्' (नि० ३.१६) तथा, 'निषादः कस्मात् ? निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः' (नि० ३,८)।

१. असूया। गुण में भी दोष-निकालते रहने की आदत।

२. कुटिलता (अनृजुता) छलकपट, आड़े-टेढ़े तरीके इस्तेमाल करना करते रहना।

३. असंयम। गुरु के आश्रम में रहने के नियमों के पालन में प्रमाद तथा इस प्रकार अनुशासन भंग करना।[2]

आचार्य :— नि० १.४ के अनुसार उस समय आचार्य के तीन कर्त्तव्य होते थे—

१. शिष्य को श्रेष्ठ आचरण सिखलाना - 'आचारं ग्राहयति'।

२. उसे विभिन्न शास्त्रों में पारङ्गत बनाना— 'आचिनोत्यर्थान्'।

३. उसकी बुद्धि को विशद बनाना — 'आचिनोति बुद्धिमिति वा।'

---

१. द्र. नि० ३ ८ में ऋ. सं. १०.५४.४ की व्याख्या।

२. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
अमूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

स्वयं यज्ञादि धार्मिककृत्य करना तथा गृहस्थ का पुरोहित बनकर उनके यज्ञादि धर्म-कृत्य कराना भी ब्राह्मण का प्रमुख कृत्य होता था। यज्ञादि धार्मिक प्रसंगों में पुरोहित को सबसे प्रथम प्रमुख - स्थान मिलता था। इसका संकेत यास्क ने नि. २.१२ में इस प्रकार किया है — 'पुरोहितः पुर एनं दधति'।

लोगों में आपेक्षिक श्रेष्ठता विद्या के आधार पर ही मानी जाती थी। किसी एक विद्या में निपुण पुरुष का बहुत सम्मान होता था। उससे अधिक सम्मान होता था पारोवर्यवित् अर्थात् शास्त्र के पारदृश्वा विद्वान् का। पारदृश्वा विद्वानों में भी जो जितना अधिक ज्ञानी होता था, उसका उतना ही अधिक सम्मान होता था:— 'यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।' नि० १.१६)

क्षत्रियः— क्षत्रियों में राजा का बहुत सम्मान होता था। राजा को अत्यन्त ऐश्वर्यशाली माना जाता था। जैसा कि निरुक्त और निघण्टु मे लिखा है—(१) राजा राजतेः (नि० २/१२) (२) इरज्यति। पत्यते। क्षयति। राजति। इति चत्वारः ऐश्वर्यकर्माणः। (निघण्टु २.२१)

३. वैश्य— उस समय वैश्य के लिए आम शब्द वणिक् था। व्यापार करना ही उसका प्रधान व्यवसाय होता था। माल को साफ-सुथरा रखना (ताकिग्राहक का आकर्षण हो) उसका प्रमुख गुण-होता था—'वणिक् पण्यं नेनेक्ति' (नि० २.१७)

—५. शूद्र और निषाद की सामाजिक स्थिति, उनके कर्त्तव्य आदि पर और कुछ प्रकाश डालने का अवसर निरुक्त में नहीं आया है। अतः हम उस पर अधिक कहने की स्थिति में नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त लगभग २० प्रामाणिक संकेतों से निरुक्त में प्रतिबिम्बित यास्ककालीन सामाजिक वर्णव्यवस्था की एक धुंधली-सी झलक मिलती है, जिससे तत्कालीन भारतवर्ष के सामाजिक संगठन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

वैदिक साहित्ये वर्णव्यवस्था

डा० वेदप्रकाश उपाध्याय: आचार्यत्रय:
एम्०ए०डी० फिल्०, डी० लिट्०
अध्यक्ष:- संस्कृत विभागे, पंजाब विश्वविद्यालयीये चंडीगढस्थे

वैदिक साहित्ये वर्णव्यवस्थाया: वैज्ञानिक आधार: प्राप्यते । 'वर्णोवृणोते[1] रिति निर्वचनाद् वर्ण शब्द: वरणत्वावच्छिनत्वव्यवच्छिन्नतत्रावच्छिन्न त्वव्यवच्छिन्नत्वममि-व्यञ्जयति न तु जन्मत्वावच्छिन्न त्वमवबोधयति । वर्णो वरणाद् जातिश्च जन्मना इति वर्णजातिशब्दद्वयं परस्परं भिन्नार्थबोधकतां गतम् इत्यत्र न काचिद् विप्रतिपत्ति:। 'गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णा:' इति महर्षिदयानन्दसरस्वती सम्मतं वर्णशब्दार्थबोधकं निर्वचनम् ।

शतपथब्राह्मणस्य पञ्चम काण्डे 'ब्रह्महिब्राह्मण:' इत्युक्त्वा ब्राह्मणस्य ब्रह्मत्वभाव: प्रतिपादित: ।[2] ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वर स्योपासनेन च सह वर्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्त: पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति[3] इति तु सर्वथा सत्यम् । क्षत्रियार्थवाचक: राजन्यशब्द: ऋग्वेद यजुर्वेदयोरुपलभ्यते । 'बाहू राजन्य: कृत:' इत्यत्र शतपथब्राह्मणे उक्तं वीर्यं वा राजन्यस्य यद्बाहू ।[4] ऋग्वेदादिभाष्यभूविकायामुक्तं महर्षिदयानन्द सरस्वतीमहोदयेन य: पुरुष इन्द्र: परमैश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्पर: क्षत्रियो भवितुमर्हति ।[5] वैश्यश्च परमेश्वरस्योरूस्थानीयो मत: । 'पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च[6] इति मनुस्मृतौ वैश्यकर्म प्रतिपादितम् । 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इति श्रुते: शूद्रवर्णस्य परमेश्वर पादस्थानीयत्वं पुष्यति । यथा शरीरस्याधाररूपेण पादौ मन्येते तथैव शूद्रोऽपि समाजस्याधार: परमेश्वर पादस्थानीयत्वात् ।

---

१. निरुक्त २.३
२. शब्रा., ५.१.१.११
३. ऋग्वेदादि० पृ० २६७
४. शब्रा ५.४.३.१५—१७
५. ऋग्वेदादि. पृ० २६७
६. मनु० १ ९०

स्मृतिग्रन्थेष्वपि ब्राह्मण क्षत्रियाद्यर्थे वर्णशब्दः लालभ्यते। पुलस्त्यस्मृतौ प्रोक्तम्–वर्णमेकं समाश्रित्य योऽधिकारः प्रवर्तते। वर्णधर्मः स विज्ञेयो यथोपनयनं त्रिषु। (पुलस्त्य स्मृति ४)। वर्णविषये उच्चावचत्वनियमो नैव प्रवर्तनीयः। सत्यौदार्याहिंसादि-गुण सम्पन्नः शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवितुमर्हति। क्षत्रियकुले जातेन विश्वामित्रेण ब्राह्मणकर्म समाश्रितं स्वजीवने।[1] द्रोणाचार्यः कृपाचार्यः अश्वत्थामा जन्मना ब्राह्मणाः सन्तोऽपि कर्मणा क्षत्रियत्वं गता इति महाभारतस्य शल्यपर्वणि विशदीकृतम्।[2] क्षत्रियकुलोत्पन्नः गार्ग्यः ब्राह्मणः अभवदिति भागवत पुराणे स्पष्टम्।[3] पिशग्रनामा क्षत्रिय कुलोत्पन्नो राजकुमारो कर्मणा शूद्रतां जगाम। कैवर्तकन्यायां जातं व्यासं को न वेद। उर्वश्याः पुत्रं वशिष्ठं ब्राह्मणत्वेन सर्वे विद्वांसः जानन्ति। वज्रसूच्युपनिषदः शाङ्करभाष्ये एतादृशाः अनेके दृष्टान्ताः प्राप्यन्ते, येषु कर्मणा वर्णस्वीकारः समाजे प्रतिष्ठापितो बभूवेति सिद्धं भवति।

वैदिकसंहितासु प्रतिपादिता वर्णव्यवस्था वैज्ञानिकी वर्त्तते सार्वभौमसमाजस्य आधार त्वेन च स्वींकर्त्तु शक्यते। न केवलं भारतवर्षे अपितु ईरानदेशेऽपि समाजस्य विभाजनं चतुर्ष वर्णेषु आसीत्। पुरोहितः योद्धा–व्यापारी सेवकः इति चत्वारो वर्णाः इस्लाम–धर्मप्रचारात्पूर्वं तत्र तथैव आसन् यथा भारतवर्षे श्रुतिपादिताः चत्वारो वर्णाः स्वस्वकर्मणि निरताः प्रतिपादिताः। येन केनचिदपि पुरुषेण यः वर्णः क्रियते, तस्मिन् रतेन स्वकीय कर्माणि कर्त्तव्यभावनया विधेयानि। चतुर्षु वर्णेषु उच्चावचभावस्त्याज्यः, यतः सर्वे एक वर्णाः परस्परं पूरकत्वेन मता

एव वर्णाः परस्परं पूरकत्त्वेन मताः।

१. वाल्मीकीयं रामायणम् बालकाण्ड ७.४

२ महाभारत, शल्यपर्व ३०.१०–११

३. भागवतपुराण ९.२१, १९

'वैदिक वर्ण-व्यवस्था वैज्ञानिक आधारः'

डॉ० हरिगोपाल शास्त्री
प्राचार्यः
महाविद्यालय ज्वालापुरस्य

इदं नास्ति तिरोहितं समस्त शास्त्राटवी परिभ्रमण लब्धमहाविभूतीनां महतां सतां विदुषां यत् निर्धारित विषय घटकानां पदानां व्युत्पत्तिनिमित्तं प्रवृत्तिनिमित्तं वा यावज्जनो न जानीयाद् तावत् असौ विपन्नो वराको वक्ता यदा स्वमपि बोधयितुं न शक्नुयात् कथं तावत् परान् प्रत्यययायितुमसौ प्रयतेत। प्रथमं मया वैज्ञानिक आधारः इति सम्यक् विचारयतैव अग्रे धावितुं पार्यते नान्यथा।

कमनीय गुणालया महानुभावाः। प्रथमहम् वैज्ञानिक शब्दरहस्य जातमेव स्वलेखनी प्रचारणेन प्रकटयामि। वैज्ञनिक शब्दस्तावत् दाक्षिपुत्रानुसारेण समस्ताष्टाध्यायी घटकेन 'प्रयोजनम्' इति सूत्रेण प्रसिद्धिमाप्नोति, तेन च विज्ञानन्-प्रयोजनम् अस्य इति समुचितां व्युत्पत्तिमनुसरन् विज्ञानशब्दः प्रतीतिपथमलङ्करोति।

समस्त सारस्वतपारावारीणेन तत्र भवता भगवता महाभाष्यकृता 'गोनर्दीयेन' सूत्रेऽस्मिन् भणितं यत् प्रयोजनं फलं च कारणञ्च। तच्चेत्थम् प्रयोजयते तत् प्रयोजनम् उताहो प्रयोज्यते अनेन तदीय प्रयोजनम्। फलं साधनञ्च व्युत्पत्तिरियं प्रतीतिपथं अवतरत्येव शाब्दिकदार्शनिकालंकारिकादि समस्त शास्त्रार्णव मन्थायमान बुद्धिवण्डानामपरोक्षोऽयमर्थः।

महामहिमशालिनः अमूल्यमणि-माक्षिणयनिधयः, सरस्वती समुपासकाः सज्जनाः। प्रस्तुत विषयो गम्भीरो विचारणीयश्च। इदं तावत् अतिस्फुटं यत् विचारविषयतायाः संदिग्धतायाश्च कश्चनातिनिकटो अविनाभावसम्बन्धो धूम-धूमध्वजयोरिवास्ति। तथा च न्यायविदां रहस्यमय वचनम्-नासंदिग्धोविचार्यते। परन्तु विलसतिभिः तर्कप्रमाथ युक्तिभिः प्रमाणयितुं साधयितुमिवं शक्यते यद् वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्थाया वैज्ञानिकता अनिच्छद्भिरपि सर्वैर्मानयितव्या। यदा भवद्भिः वैदिक वर्णव्यवस्था इति कथ्यते तदा अमुष्या प्रमाणिकता सुतरामेव स्वतः सिद्धां सम्पद्यते।

'यतोहि वेदे भवा वैदिकी' इति 'अध्यात्मादिभ्यः ठञ्' इति ठञ् प्रत्ययेन वैदिकी शब्दो सिद्धयति, वेदानां स्वतः प्रामाण्यम् सनेऽपि उच्चैशिशरसो दार्शनिक मन्यन्ते एव। यदा च प्रतिपादकस्य प्रामाणिकता कस्यापि नास्ति संदिग्धा तदा प्रतिपाद्यस्य वर्णव्यवस्थादिकस्य प्रमाणिकता विषये सन्देहोऽपि न जागर्ति कुतो विचारणीयता। बहवः खलु उच्चावच्च यज्ञानुष्ठानादयः मानवानां दैनन्दिनिक नित्य-नैमित्तिक आचारादयः आत्मानात्ममोक्षविद्या प्रभृतयः ऐहिकमुष्मिक फलकाः अनेके अन्ये च सिद्धान्ता विषयाश्च वेदे प्रतिपादिता, समेऽपि विषया सहृदयैर्विद्वद्भिरहम-हमिकया स्वीक्रियन्ते विशिष्ट ज्ञान जनकाः विलक्षणज्ञानफलकाः चामी इति मन्यन्ते। यथाहि दार्शनिकानां तत्त्वमस्यादि महावाक्यानां परिशीलनेन सर्वैरपि निरतिशय सुखरूपं मोक्षफलं बुध्यते।

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत एवं प्रभृतिभिः ऐहिक परलौकिक फलं प्रयच्छद्भिः अनुष्ठाने प्रतिपादितम् सम्पन्नञ्च फलं, सत्यमेक असंदिग्धमेव मन्यन्ते भवन्तः तर्हि किमपराद्धम् वैदिकवर्णव्यवस्थाया वैज्ञानिकता भवनेन।

महानुभावा विद्वांसः मदीय विचारसरण्याम् इदमेव केवलं एकं विदुषां महनीयम् कर्तव्यमस्ति इत्याभति यद् जनतासु तत्तद् विषये प्रसृता प्रसारिता च भ्रान्तिरेव अपसारणीया। तथा च वैज्ञानिक शब्दस्य यथा मया शब्दानुशासन शास्त्रमनुसरता व्युत्पत्तिर्निवेदिता तदनुसारेण संक्षेपेण वैज्ञानिकतालंकृतया वर्णाश्रम व्यवस्थाया वैज्ञानिकता वैज्ञानिक शब्दान्वर्थकता च सुतरामेव विलसति। अनयैव व्यवस्थाया अनेकशोभारतस्य भारतस्य प्राचीना दार्शनिकाः औपनिषदिकाः कर्मकाण्डविषयकाश्च पन्थानः अनादिकालतः प्रचलिताः। अद्यावधि यावत् रेखामात्रमपि स्वावलम्बितम् अध्वानं विमुञ्चन्ति। यदा तु एतादृशीभिः व्यवस्थाभीर हीतानां अन्येषां पश्चिमादि देशानां प्राचीना व्यवस्थाः कस्मिंश्चिदन्धकारगर्ते निमग्ना न खलु जगति स्वजीवित चिह्नं धारयन्ति। अमूषु वर्णाश्रमादि व्यवस्थासु स्वार्थान्धरैव कैश्चिद् स्वदुरभिसन्ध्या जनतासु व्यामोहो वितान्यते। उचितं तु इदं यत् सम्प्रति सौमनस्य समन्वितया यया व्यवस्थया प्रजासु स्नेहस्य परस्पर भ्रातृभावस्य प्रबलः समुन्मेषो भवेत् सा सरणिः सर्वैरपि सज्जनै जनैः सम्मिलित प्रयासेन अङ्गीकर्तव्या अङ्गींकरणीया च। नास्ति जगति इद्दशोरोगो यस्य न स्यान्निदानम्। अस्मिंस्तु लघुतम लेखे विचारणीय विषयस्य सत्यपि बाहुल्य विस्तरादहम् बिभेमि। अतः यथा समयं व्याख्याय विषयं विरमामि। इत्यलम्।

"Scientific Base of Vedic Varna System"

Nagendra Nath Misra

HINDU SOCIETY is very ancient and complex. With the passage of time, many traditions and ideas, have got roots in our social organisation. Varna vyvastha, Dharma, Karma and Ashramas are some such systems, which cannot be seperated from our social organisation. With the advancement and spread of education, every system is being scientifically examined and put to the test of time. On the whole the Hindu Society's faith in Dharma and Karma remains unshaken and highly firm and every Hindu is bound to believe basically in the theory of Dharma end Karma.

MEANING OF VARNA

In Nirukta Shri Yaskacharya evolved the word Varna, from the root "Vri" giving the meaning of choice of Varna In this way, Varna is that which a person chooses according to his nature and his work. According to P.V. Kane the word V rna was applied to white complexioned Aryans and black complexioned slaves. At a later stage the word came to be used for the four social classes ie. Brahmin, Kshatriya, Vaishya and Shudra.

DIVISION OF LABOUR

The aim of the four Varna system in India was division of labour, similar to the division of labour of Plato and wells. The theory of division of labour is one of the fundamental theories of social organisation. It propounds that for an orderly progress of work in society, it is necessary that it be divided into classes according to natural tendencies. Dr. Bhagwan Das has divided labour under the Indian Varna system in the following classes :-

1) Teacher Class
2) Governing Class
3) Business Class
4) Physical Labourer Class

These are respectively the Brahmins, the Kshtriyas, the Vaishyas and the Shudras. Thus the responsibility of the Brahmins was to see to the proper execution of works like study for knowiedge and teaching, and other religious activities. The governoment of the state. defence and direction were left to the Kshatriyas while the Vaishyas carried on the Agriculture dairy farming and business. The Shudras served the other three Varnas. It is pertinent that this class division is not peculiar to India, it has been the comman feature of all the organised societies of the world.

EXCELLENT AND DEVELOPED SOCIAL ORDER

The Varna system is a developed social system. Social Stratification is found in all the societies but it is difficult to find one as systematic as the Indian Varna system. The object of this system is to put the different powers of man to proper and productive uses in order to maintain the solid, organised and balanced state of society. The Indian scholars-ancient medieval and modern, like Plato of Greece and other world-wide experts gave the highest position in society to Brahmins, experts in the field of thought and spirit. The second place was given to the protectors the Kshatriyas and third to the producer, the Vaishyas and the servants of the society in the fourth place. In the Varna system the higher classes get special rights and prerogatives but special responsibility corresponding to their authority is also attached to it. This is clear from the provision for punishment made by the penal authorities According to MANU, the retribution made for theft should be of the value of 8 times in the case of Shudra, 16 times if the person is a Vaishya, 32 times if a Kshatriya and 64 or 100 times If a Brahmin.

DECENTRALISATION

In this modern age we often talk of decentralisation of power and authority. In the Varna system there was clear glimpse of decentralisation of power. Cetralisation of all the powers of the society in the hand of one class may lead to exploitation and despo-

tism. In the Varna system the bower of shastra or power of know ledge. Power of arms, Powər of wealth, and power of labour were evenly distributed among the Brahmins, the Kshtriyas, the Vaishyas and the Shudras respectively.

In this way, society is made safe from the evil results of centralisation. The reward of their work differed. The Brahmins were rewarded in the form of respect, the Vashyas in wealth and Shudra in rest etc. Thus, by keeping respect authority and wealth seperate, the society was saved from the present day defects of cetralisation or localisation of power. In this way the Varna system showed a fine synthesis of the fundamentals of social organisation.

The system also resulted in harmonious division of work in the society. Each Varna had its own funtions to perform with the result that there was no vocational disharmony. The system thus helped in the preservance of social integrity. It provided such a sound constitution to the society that it saved it from shattering into pieces, inspite of many political and religious upheavals, which rocked the country during the post thousand years. Thus the system was rightly responsible for stability and contentment by which Indian society has been traced for centuries by others for dignity and decency of head and heart, at all levels.

FOOT NOTES

Since Independence in India every governoment is trying to end cast-system but still it persists because there were and still are certain favourable conditions for it. Some important changes in castesystem, which are evident in India presently are :—

a) The Brahmanic-cult has been challanged. However I feel the pros and cons of the particular issue should be studied before raising an issue just for the shake of opposition. I feel only the scientific analysis is the only solution, instead of fighting issues by differedt groups which will only divided our society.

b) Inter-cast marriages are increasing and should be encouraged as far as possible is healthy—spirit.

c) Orthodoxy of the orthodox people have come under severe criticism.

d) Criticising the Varna-system oulv for the shake of criticism, gives a sense of advancemet to few, who have attained power, Latest example - The removal of Sri T.S.R. Subramaniyam the chief secretary of Uttar-Pradesh (U.P.), only because he was a Brahmin and was not liked by particular section of the Ruling party members of U.P. Governoment. I feel the only solution is that "work-culture" should be gived credence than the Birth on the Varna of the person. It is time we should not stretch things too far only to create distrust among the Varnas.

e) It is pertinent and healthy that today people meet quite frequently irrespective of Varna-consideration at several functions. It is mainly owing to industrialisation and cosmopolitanism way of life.

f) Similarly—owing to scientific advancement and rapid technology and computer envirnoment the people do not follow the Varna-system rigidly. They follow concerned occupations of their choice. The parents irrespectives of Varna system should not be very rigid and allow ther children to choose their subject of study and career, with freedom. Any imposition and regimentation by parents to choose a career of their own liking for the sons and daughters will be counter productive. In fair play it is better to leave it to children However the parents can give guidence or can take the help of teachers, psychologists or career guidence bureau establised in the town or cities.

g) The political people often exploit the caste and Varna system to grind their own axe. Often we hear of "Vote-banks", where elections are fought on caste consideration. On the one hand owing to political patronage they talk of "Mandal Commission" while in reality they perpetuate their own family creed. It is time that the benefit should reach the common man, living in village.

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम– ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन।

लेखक– डा० बलवीर आचार्य

प्रकाशक– विद्यानिधि प्रकाशन D– १५४८, गली नं. १०
समीप श्री महागौरी मन्दिर खजूरीखास
दिल्ली—११००९४

वैदिक साहित्य के बारे में भिन्न–भिन्न मत हैं। कुछ विद्वान् अपौरुषेय कहते हैं और कुछ जिनमें कि पाश्चात्य विद्वानों का बहुमत है उन्हें तत्कालीन जीवन का आर्थिक सामाजिक व सांस्कृतिक वर्णन मात्र मानते हैं।

प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डा० बलवीर आचार्य वैदिक साहित्य व संस्कृत साहित्य के विद्वान् हैं। उनका अध्ययन भी गुरुकुलीय परम्परा से हुआ है। वर्तमान में वे महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में रीडर है।

प्रस्तुत पुस्तक में पशु हिंसा व पशुयज्ञ पर आठवें अध्याय में विशेष वर्णन किया गया है जो कि अब तक प्रकाशित अन्य ग्रंथों में अप्राप्य है।

प्रथम अध्याय विषय प्रवेश का है। इससे सांस्कृतिक ज्ञान की आवश्यकता, संस्कृति शब्द का अर्थ, ब्राह्मण शब्द का अभिप्राय, वर्ण विषय, ब्राह्मण साहित्य, रचना काल, ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थो का परिचय और भौगोलिक तत्त्व का वर्णन है। इसमें ब्राह्मण शब्द का वर्णन करता हुआ लेखक लिखता है— समाज का कथन है कि "जो परम्परा से मन्त्र नहीं वह ब्राह्मण है और जो ब्राह्मण नहीं वह मन्त्र है।" आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र की व्याख्या में कपर्दी का कथन है कि "मनन करने से मन्त्र होते हैं तथा अभिधान करने से मन्त्र ब्राह्मण।" बौधायन धर्म सूत्र में 'वाक् को ब्राह्मण कहा है। उव्वट तथा महीधर ने श्रुति शब्द का अर्थ ब्राह्मण किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द "ब्राह्मण ग्रन्थ" तथा "सन्दर्भ विशेष" को द्योतित करता है। वेबर ने ब्राह्मण शब्द का अर्थ प्रार्थना किया है।

द्वितीय अध्याय में पारिवारिक संगठन का वर्णन है। इसमें गोत्र, प्रवर, परिवार में विघटन, दाम्पत्य जीवन एवं विवाह, धर्म का पालन आदि का वर्णन है। इसमें लेखक अध्याय के प्रारम्भ में लिखता है— परिवार का आधार यौन सम्बन्ध है, जबकि स्त्री–पुरुष के संयोग से सन्तान उत्पन्न होती है। तदनन्तर परिवार के माध्यम से ही सन्तान का लालन-पालन, भारण–पोषण, सेवा–शुश्रूषा होती है। परिवार ही गृहस्थ जीवन में मनुष्य अपने समस्त उत्तरदायित्वें का निर्वाह निठणपूर्वक करता है

और सभी पारिवारिक सदस्यों से व्यक्तिगत और भावनात्मक रूप में आबद्ध होता है। पारस्परिक सहयोग–भावना एवं कर्त्तव्य–बोध परिवार के सदस्यों का मूल आधार है।

तृतीय अध्याय में सामाजिक संगठन वर्णित है। इसमें संकलित विषय है—वर्णव्यवस्था का प्रारम्भ, सामाजिक स्थिति, धार्मिक कर्मकाण्ड का योग, राजसंस्था का योग, ब्राह्मण और राजनीति, क्षत्रिय शूद्र और वैश्यों के गुण कर्त्तव्य और सामाजिक स्थिति।

चतुर्थ अध्याय में तत्कालीन राजनीतिक संगठन का विषय संकलित है। इसमें राज्य की उत्पत्ति स्थापना, शासन पद्धति, साम्राज्य पद्धति, भौज्य पद्धति, स्वराज्य पद्धति, वैराज्य पद्धति, पारमेष्ठ्य पद्धति, राज्य पद्धति, राजा के गुण, कर्त्तव्य, शक्ति और अधिकार, राज्य की आर्थिक स्थिति आदि।

पञ्चम अध्याय में आर्थिक स्थिति के अन्तर्गत कृषि, पशु, वाणिज्य, शिल्पकला, आवास, परिधान, आदि।

षष्ठ अध्याय में वर्णित विषय है— ज्ञान एवं विज्ञान। इसके अन्तर्गत शिक्षा, शिक्षा केन्द्र, अध्यापन पद्धति आदि का वर्णन है।

सप्तम् अध्याय के अन्तर्गत ऋषि और देवता का वर्णन है। ऋषि नाम-गुणवाचक और संज्ञावाचक ऋषि मन्त्रद्रष्टा, मन्त्रकृत् शब्द पर विचार, देव शब्द का अर्थ आदि का वर्णन है।

अष्टम् अध्याय के अन्तर्गत यज्ञ का वर्णन है। इसमें देव पूजा, सङ्गतिकरण, दान, ऋग्वेदादि संहिताओं में द्रव्य यज्ञ का विधान नहीं, याज्ञिक कर्मकाण्ड का विकास और पशुहिंसा का प्रारम्भ, ऋग्वेदादि संहिताओं में पशु–यज्ञ का विधान नहीं है आदि का वर्णन है। ऋग्वेदादि संहिताओं में पशु यज्ञ का विधान नहीं इसके पक्ष में लेखक ने विद्वत्तापूर्वक तर्क दिये हैं।

शशिभानु विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

गुरुकुल-पत्रिका

शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल पत्रिका

शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य एम. ए. पी-एच.डी.
प्रोफेसर—वेद विभाग
एवं
निदेशक—श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन केन्द्र

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मार्च, अप्रैल, मई, जून १९९६	वर्ष–४७	संयुक्तांक चैत्र, बैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ २०५३

मूल्य— २५ रुपये मात्र

सम्पादक मण्डल :

प्रकाशक : प्रो० श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव
गु० कां० वि० वि०, हरिद्वार

मूल्य : २५ रुपये (वार्षिक)

मुद्रकः– किरण प्रिंटिंग प्रैस, कनखल हरिद्वार ☎ : 425975

विषय सूची :-

श्रुति-सुधा

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा।

वर्चसा दधातु ॥ अथर्व १३.१.१७ ॥

हे (वाचस्पते) वाणी के स्वामिन्! (नः पृथिवी स्योना) हमारे लिए पृथिवी सुखकर हो। (योनिः स्योना) हमारे लिए हमारा घर सुखदायी हो। नः तल्पा सुशेवा) हमारे लिए बिछौने सुखदायी हों। (इह एव नः सख्ये प्राणः अस्तु) यहां ही हमारे सख्य में प्राण रहे। हे परमेष्ठिन् (तं त्वा अग्निः आयुषा वर्चसा परि दधातु) तुझको यह अग्नि आयु और तेज से धारण करें।

हे वाणी (वेद) के प्रकटकर्ता परमात्मन्! अथवा आचार्य! यह सम्पूर्ण बिस्तारवती भूमि हमारे लिए सुखदायी हो। इस राष्ट्र में हमारे लिए कहीं भी किसी भी प्रकार का दुख न हो। हमारे घर व हमारे विश्राम के क्षण व साधन हमारे लिए कल्याणकारी हों। हे परमात्मन्! तुम्हारे सखा भाव से ही हमारे प्राण इस शरीर से संयुक्त हैं। हे परम सत्तावान्! इस अग्नि के माध्यम से हम दीर्घायु एवं तेज को धारण करें।

सम्पादकीय

वर्तमान में सम्पूर्ण राष्ट्र में जो उथल-पुथल मची है उसका मूल कारण है अलक्ष्मी! यह अलक्ष्मी है दूषित एवं भ्रष्ट तरीके से कमाया गया धन ! व्यक्ति जिस समय इसका संचय करता है उस समय वह इसके परिणाम के प्रति बिल्कुल नहीं सोचता । इसका एक निश्चित विधान है क्योंकि धन की तीन ही स्थितियां होती है । दान-भोग और नाश । दान के प्रति हम उदासीन हो गए हैं । उदासीन ही क्यों उसके प्रति उपेक्षाभाव करने लगे हैं । भोग की एक सीमा है, परन्तु मनुष्य के लोभ की कोई सीमा नहीं है । अतः नाश ही उसका निश्चित परिणाम होता है । हमारे नेतृत्व की यह दुर्बलता जग-जाहिर हो रही है । अभी न जाने कितने पर्दे उठने शेष है ।

यह देश सभी का पेट भरने में समर्थ है । परन्तु जब अन्न उत्पन्न करने का उद्देश्य सबका पेट भरना न होकर निर्यात करके पैसा कमाना हो, और वह पैसा विदेशी बैंकों में जमा करके राष्ट्र को नरक बनाता हो तो वह और भी निकृष्ट हो जाता है । नरक का अर्थ है नीचे गिरना इसकी भी कोई सीमा नहीं है । इस देश का आदर्श रहा है कि तेन व्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् । अर्थी की क्षुधा का निवारण करके ही हम भोग करें । यह भूमि विश्व भरा है । यह सबका पेट भर सकती है । परन्तु लालसा एक को भी पूरी नही कर सकती है यह भोग की ओर खींचती हुई अप संस्कृति शीघ्र समाप्त होनी चाहिए । वेद के ऋषि के शब्दों में हमें यही कहना चाहिए ।

"या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमि गोंष्वप्यन्ने दधातु"

वैदिक सात मर्यादायें

डॉ० दिनेश चन्द्र 'धर्ममार्तण्ड'
गु०कां० विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विधाता की इस विभूतिमयी विश्वभूति में विविधता देखने को मिलती है। पदे-पदे परिवार समाज, संस्था और देश अपने-अपने नियम, कानून, व्यवस्था एवं सिद्धान्तों में आबद्ध दीखते हैं। नियमों के अनुसार समाज फलता-फूलता है। नियम रहित समाज जंगली और उच्छृङ्खल हो जाता है और वहां अराजकतत्व स्वतः ही पैदा हो जाते हैं। वेद इन नियमों को 'मर्यादा' नाम से अभिहित करता है। आचार्य यास्क ने मर्यादा को सीमा का पर्यायवाची शब्द माना है। और इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'सीमा मर्यादा। विरतिव्यति देशाविति'।[1] एक भाष्यकार के अनुसार 'मर्यादा' उसको कहते हैं जो मानव का नाश करे या खाये।[2] श्रीपाददा सातवलेकर के अनुसार पाप से बचने की व्यवस्था को 'मर्यादा कहते हैं।[3]

मनुष्य इस सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट[4] सुव्यवस्थित और अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सुघटित (मर्यादित) कृति है। वह मनुष्य समाज की एक इकाई है। उसको भी अपनी मर्यादा (सीमा) में रहना पड़ता है। जो व्यक्ति मर्यादा में रहता है, नियमों में चलता है, वह मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाता है। जिस प्रकार नदी का जल जब तक अपने तटों के मध्य में, मर्यादा में बहता है तभी तक वह जीवन दायिनी व्यक्ति के रूप में स्वीकृत होता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति सामाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालन में अनुशासित होकर कार्य करता है तभी वह अपने जीवन को तो महान बनाता ही है बल्कि अपने समाज देश और जाति को भी ऊंचा उठाता है। वेद के अनुसासर सदाचार की ये मर्यादायें सात है—

"सप्त मर्यादाः कवयस्तत क्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥"
(ऋ. १०.५.६, अथर्व. ५.१६)

---

१. निरुक्त १६
२. देखो दयानन्द संस्थान, दिल्ली से प्रकाशित ऋग्वेद १०.५.६ का भाष्य।
३. देखो अथर्ववेद ५ १ ६ का सुबोध भाष्य।
४. नहि मानुजात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् (महाभारत)।

अर्थात् तत्वदर्शी ज्ञानियों ने सात मर्यादायें (पाप से बचने की व्यवस्थाएँ) बनाई हैं। उनमें से एक का भी जो कोई उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है और जो मनुष्य सातों मर्यादाओं से बचता हुआ पाप का भागी नहीं बनता, वह निश्चय से जीवन के स्तम्भ, उच्चतम शक्ति के धाम और जहां अनेक मार्गों की विसृष्टि नहीं, ऐसे सर्वाधार परमेश्वर में और धारक शक्तियों में स्थित होता है।

भाष्यकारों ने इन सात मर्यादाओं की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना की है। आ. यास्क ने अपने निरुक्त[1] में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए इन मर्यादाओं को इस प्रकार परिगणित किया है— "स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्यां, भ्रूणहत्यां, सुरापानं, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां, पातके ऽनृतोद्यम् इति।" (१) चोरी न करना (२) व्यभिचार न करना (३) ब्रह्महत्या न करना (४) गर्भपात (भ्रूणहत्या) न करना (५) मद्यपान न करना (६) किसी बुरे काम की आदत न पड़ना, और (७) पाप हो जाने पर झूठ न बोलना।

सायणाचार्य्य ने अपने ऋग्वेदकभाष्य में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए एक तो सात मर्यादायें वे ही स्वीकार की हैं जो आ. यास्क ने लिखी है। दूसरे मनु आदि ने अपने शास्त्रों में जो त्यागने योग्य कामज और क्रोधज दोष लिखे हैं उनमें से प्रधान सात को छाँटकर उनके परित्याग को सात मर्यादायें माना है[2]। वे हमेशा बचना चाहिये इस प्रकार हैं[3]— (१) मद्यपीना (२) जुआ खेलना (३) स्त्रियों में अत्यशक्ति (४) शिकम् खेलना (प्राणियों की हिंसा करना, मांस-भक्षण करना) (५) निरपराध को दण्ड देना (६) कठोर वाणी बोलना, और (७) दूसरों पर मिथ्या दोषारोप कदना।

---

१. नि० ६.२७

२. कामजेभ्यः क्रोधजेभ्यश्चोद् धृताः पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्डः पारुष्यमन्यदूषणमिति सप्त मर्यादाः। यद्वा 'स्तेय गुरुतल्पा-रोहणं ब्रह्महत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः-पुनः सेवां पातके ऽनृतोद्यम्' (नि. ६ २७) इति निरुक्ते निर्दिष्टाः सप्तमर्यादाः। (द्र. ऋ. १०.५.६, सायण भष्य।

३. पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥ मनु. ७ ५१

आचार्य उद्गीय[1] ने यास्काचार्य द्वारा परिगणित और वेङ्कट[2] ने मनुमहाराज द्वारा प्रतिपादित मर्यादायें ही स्वीकार की हैं। चाहे हम यास्क का अर्थ स्वीकार करें और चाहे सायण उद्गीय एवं वेङ्कट का। सभी ने जो मर्यादायें प्रतिपादित की है वे पूरी तरह से अनुकरणीय एवं पालन करने योग्य है। उनमें से किसी एक का उल्लंघन करना भी हमारे जीवन को घोर पापी बनायेगा। उनमें से अधिकांश के या सबके उल्लंघन का तो कहना ही क्या। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के शब्दों में तब तो मनुष्य का जीवन पाप से सना हुआ हो जायेगा[3]। इन मर्यादाओं का उल्लंघन मानव को अधोगति की ओर ले जाने वाला है। जिससे जीवन का तात्पर्य संयम से रहना है। संयम से जीवन व्यतीत करने से जीवन का आधार शक्तिशाली होता है और उत्तम दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। इसके साथ ही साथ जो धर्मानुकूल व्यवहार करके अपने जीवन का आधार स्तम्भ बनता है, वह सबके लिए उपमा देने योग्य परमात्मा के स्थान में, स्थिर रहता है। यहां हम निम्न मर्यादाओं पर विस्तार से विचार करते हैं—

पहली मर्यादा है चोरी न करना, दूसरों का धन न चुराना। जो अपने अधिकार में वस्तु है केवल उसका ही उपयोग करना। दूसरों की वस्तु ढेले के समान देखनी और समझनी चाहिए। जैसा कि कहा भी है— 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्।' यजु. ४०.१ 'मागृध कस्य स्विद्धनम्'-केअनुसार-दूसरे के धन को ललचाइ दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। धर्मशास्त्र कहते हैं—

"अन्यायेनागता लक्ष्मीः, खद्योत इव दीप्यते।
क्षणं प्रकाश्य वस्तूनि निर्वाणं केवलं तमः॥"

---

१. सप्त मर्यादा··· स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां (या. ६.२७) इति। द्र.- ऋ. १०.५६ पर उद्गीथभास्य।

२. कामजेभ्यः क्रोधजेभ्यश्चोद्धृताः 'पानम् अक्षाः स्त्रियो मृगया दण्ड पारुष्यं वाक्पारुष्यम् अर्थभूषणम् (मनुस्मृ० ७/४८,५०) इति सप्तमर्यादाः ···। (देखो, ऋ. १०.५.६ पर वेङ्कटभास्य)।

३. वरुण की नौका, द्वि. भाग, पृ० १७३

अन्याय से आया धन खद्योत (जुगनू) की न्याईं चमकता है परन्तु देर तक प्रकाश कर पुनः अन्धेरा हो जाता है। अतः—

अकृत्वा पर संतापं, अगत्वा खल न म्रताम्।
असत्यञ्च सताम्मार्गम्, यत्स्वल्पं तद्बै वसु॥"

किसी को कष्ट न देकर, दुर्जनों के सामने न झुककर, और सन्मार्ग को न छोड़कर जो थोड़ा भी कमाया जाता है, वही बहुत है।

योगदर्शन के अनुसार 'अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्' (साधनपाद-उन)— चोरी न करने (की मर्यादा) में स्थित हो जाने पर सब रत्न प्राप्त होने लगते है। संक्षेप में अस्तेय (चोरी न करने) का अर्थ यह है कि मन, वाणी और कर्म द्वारा चोरी न करना। मनुष्य अनुचित लोभ और राग न करे, चोरी न करे, डाका न डाले, घूस न लेवे, चोर बाजारी न करे, धोखा न देवे। इन सभी तथा इस प्रकार के कुकर्मो से बचना ही सात मर्यादाओं में से पहली मर्यादा 'अस्तेय' है।

दूसरी मर्यादा है- व्यभिचार न करना, सदाचार का पालन करना। 'मातृवत्पर-दारेषु'-दूसरी स्त्रियों को माता के समान देखना चाहिए। यदि यह मर्यादा न हो तो समाज में चरित्र हीनता फैल जावे। ऋग्वेद में दुराचारी (व्यभिचारी) की बड़े ही कठोर शब्दों में निन्दा की गई है—'मां शिश्न देवा अपि गुऋतं नः' (ऋ. ६.२१.५) अर्थात्, व्यभिचारी पुरुष तथा व्यभिचारिणी स्त्री सत्यधर्म यज्ञ के, अधिकारी नहीं बनते अथवा व्यभिचारी हमारे यज्ञ में न आवे। 'अनर्वायिच्छत दुरस्य वेदो ध्नञ्छिश्न देवां अभि वर्पसा भूत।' (ऋ. १०.९९.३)— वह कहीं न रुकने वाला (अनर्वा) इन्द्र व्यभिचारियों को मारकर, और उनके अनेकों द्वारों वाले गढ़ों को तोड़कर धनों को दबा लेता है।' अतः धर्मशास्त्रों ने कहा है—

नहीदृशमनामुख्यं लोके भवति किञ्चन।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥ (मनु. ४.१३४)

अर्थात्, संसार में आयु के घटानेवाला और कोई ऐसा पाप-कर्म नहीं है, जैसा कि पर स्त्री- सेवन।

हरणं च पर स्वानां पादाराभिमर्षणम्।
सुहृदश्च परित्यागः त्रयो दोषाः क्षयावहाः॥

दूसरों के धन को छीनना, दूसरों की स्त्रियों से संसर्ग करना और सुहृदों को त्यागना-ये तीनों दोष नाश करने वाले होते हैं।' अतः पुरुष को पुरुषोत्तम बनने के लिए आवश्यक है कि-वह मन से किसी को—

त्रीण्येव पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत्॥

धोखा न दे-शरीर से दान करे-और सदा सत्य वक्ता बने।

मनु महाराज ने व्यभिचारिणी स्त्री और परस्त्रीगामी व्यभिचारी पुरुष दोनों को ही महापापी माना है। ऐसे पुरुष और स्त्री अगले जन्मों में घोर नीच योनियों में जन्म लेकर बड़े भारी कष्ट भोगते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि व्यभिचारी पुरुष अगले जन्म में ब्रह्मराक्षस[1] (प्रेतयोनिवाला ब्राह्मण) और व्यभिचारिणी स्त्री गीदड़ की योनि[2] प्राप्त करती है, तथा 'पर स्त्री को लोभ देकर बलात्कार करना'[3] तथा 'किसी भी कन्या को दूषित करना अर्थात् उससे सम्भोग करना[4]' महापाप है।

तीसरी मर्यादा है सुरापान (मद्यपान) न करना। धर्मशास्त्रों के अनुसार सुरापान महापाप है[5]। क्योंकि सुरा पीने के पश्चात् मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, और बुद्धि व शरीर उसके नियन्त्रण में नहीं रहते जिसके फलस्वरूप उसके मन में कुविचार आते, वाणी अपशब्द बोलती है, तथा वह कुकर्म करने लगता है। मनुष्य पवित्र कार्य तभी कर सकता हैं, जब उसकी बुद्धि पवित्र हो तथा उसका शरीर व मन उसके नियन्त्रण में हो परन्तु मदिरापान के बाद तो मन, बुद्धि और शरीर तीनों ही कुमार्गी हो जाते हैं, अपवित्र हो जाते हैं, तथा नियन्त्रण से बाहर हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य कभी सत्कर्म नहीं कर सकता। वह जो कुछ भी सोचेगा, जो कुछ भी कहेगा और जो कुछ भी करेगा—वह सब अपवित्र होगा, कुकर्म होगा। अतः पाप होगा। गुरु नानक देव ने मदिरापान के सम्बन्ध में कहा है—

---

१. मनु. १२.६०
२. वही ९.३०
३. वही, ११.५९
४. वही, ११.६१
५. वही, ११.५४

माड़ा नशा शराब दा, उतर जाए परभात।
नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिनरात ।।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि चोरी करने वाले, मदिरा पीने वाले और वेश्यावृत्ति करने वाले महापापी हैं।[1] प्रस्तुत वेद-मन्त्र के अनुसार तो उपरोक्त सप्त मर्यादाओं में से यदि एक का भी कोई उल्लंघन करता है तो वह पापी कहलात है।

चतुर्थ मर्यादा है जुआ न खेलना। वेद का उपदेश है कि "अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषस्व" (ऋ. १०.३४ १३)– पासों से मत खेल, प्रत्युत खेती करके ईमानदारी से कमा और खेल।' जुआरी अपना सब-कुछ लुटा देता है। युधिष्ठिर और नल आदि राजाओं के राज्य, स्त्री आदि जुए के कारण लुटे। जुए से बेईमानी बढ़ती है। जुआ खेलना महापाप है। जुआरी मनुष्य का सारा परिवार दुःखी रहता है इस कारण जुआ कभी नहीं खेलना चाहिए।

पांचवी मर्यादा है कठोर वाणी न बोलना। मनुस्मृति में बताया गया हे कि कठोर वाणी का प्रयोग विल्कुल नहीं करना चाहिए। सत्य भी प्रिय ही बोलना चाहिए—

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्,
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' (मनु. ४.१३८)

सन्त कवीर ने कहा है—

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय ।।'

हिन्दी के एक अन्य कवि ने दृष्टान्त देकर समझाया है कि—

"कौआ किसका धन हर लेता कोयल किसको दे देती है।
केवल मीठे वचन सुनाकर सबको वश में कर लेती है ।।"

यह मधुर वाणी का ही प्रभाव है कि पत्थर दिल पुरुष भी पिघल जाते हैं। तभी तो इसकी महिमा में कहा गया है—

"पत्थर को पिघलाकर मोम बनाने वाली।
मुहं खोलो तो तुम भी मीठी बोली बोलो प्यारे ।।"

---

१. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वाङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ।। (मनु० ११.५४)

वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें कठोर वाणी को छोड़कर मधुर वाणी प्राप्त करने की प्रार्थना है। जैसे— 'वाचं वदत भद्रया'– वाणी सेभद्र बोलो। 'वाचस्पते! वाचं नः स्वदतु– हे वाणी के पति! हमारी वाणी मधुर हो। 'वाचं वदामि मधुमत्'– मैं वाणी से मधुर बोलूं। 'स्वाद्मानं वाचः'– वाणी हमारी मिठास से भरी हो। 'मधुमतीं वाचं वदतु' (अथर्व ३.३०.२) वह मधुर वाणी बोले।

महाराज भर्तृहरि के अनुसार वाणी एक ऐसा आभूषण है, जो कभी नष्ट नहीं होता। संस्कृत-वाणी ही पुरुष को अलङ्कृत करती है—

केयूराणि न विभूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं, नालंकृता मूर्धजा।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं, या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणम्॥"

छठी और सातवी मर्यादाऐं हैं— बारंबार दुराचार न करना, और पाप होने पर असत्य बोलकर उसको न छिपाना। यास्क प्रतिपादित उपरोक्त सात मर्यादओं में ये दोनों बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य के हाथ से किसी न किसी कारण पाप हुआ, तो वह यदि आगे बचने का यत्न करेगा, तो बहुत हानि की संभावना नहीं है। परन्तु यदि वह बारंबार दण्ड मिलने या मना करने पर भी वही कुकर्म फिर करने लगा, तो उसकी अवनति की सीमा नहीं रह सकती। इसलिए उन्नति चाहने वाले लोगों को उचित है कि वे अज्ञान से एकबार दोषमय आचरण हुआ भी, तो उसको बारंबार न करें और जो कुछ दुराचार अपनी असावधानी से होगा, तो उसको असत्य बोलकर छिपाने का भी यत्न न करें। क्योंकि ऐसा करने से वह कलंक बड़ा गहरा हो जाता है और इससे अधिक पाप होता जाता है। इसलिए दोष होने पर सत्य बोलकर उसको यथार्थ समय में प्रकट करना ही उचित है। मनुष्य की उन्नति के लिए ये दोनों मर्यादायें अत्यन्त सहायकारी हैं, इसलिए कोई मनुष्य किसी भी कारण इनका उल्लंघन न करें।

सात मर्यादाओं की अन्य कल्पना— आचार प्रियव्रत वेद-वाचस्पति ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वरुण की नौका' भाग दो में पृ० १७४ पर सात मर्यादाओं की कुछ अन्य ही प्रकार से व्याख्या की है। उन्होंने यजु०[1] ३४.५५ और अथर्व०[2] १०.८.९ के

१. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे।

२. अत्रासत ऋषयः सप्तसाकम्।

अनुसार, शरीर में निवास करने वाले सात ऋषियों के आधार पर सात मर्यादाओं की कल्पना की है। ये सात ऋषि हैं आंख, कान, नाक, रसना त्वचा (पांच ज्ञानेन्द्रिय) मन और आत्मा। हमें संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान इन सात ऋषियों के द्वारा ही होता है। क्योंकि 'ऋषि' शब्द का अर्थ होता है देखने वाला[1]— जानने वाला। आ. यास्क ने सात ऋषियों का यही अर्थ किया है।[2] शरीर में रहने वाले सात ऋषि अर्थात् ज्ञान के साधन इन सातों से भिन्न और कोई हो भी नहीं सकते। इन सातों ऋषियों के हमारे जीवन में अपने-अपने निश्चित कार्य हैं। जिनसे हमारा जीवन चलता है। इन ऋषियों का अपना-अपना जीवनोपयोगी निश्चित कार्य ठीक प्रकार से, जैसा चाहिये वैसा, होते रहना तो मर्यादा है और इनका कार्य ठीक प्रकार से जैसा चाहिये वैसा, न होना मर्यादा का उल्लंघन है। परमात्मा ने इन सातों को शरीर में अपना-अपना काम सौंप रखा हैं। इनके उस काम का भली भांति होते रहना मर्यादा है। और उनका भली भांति न होना, इस प्रकार होना जिससे जीवन हीन, पतित और संकटग्रस्त हो जाये, मर्यादा का भंग है।

संसार के जितने भी पाप हैं वे इन्हीं सातों मर्यादाओं के भंग से होते हैं। इनसे बाहर कोई पाप नहीं रह जाता। आ प्रियव्रत वेद वाचस्पति-कृत सात मर्यादाओं की यह व्याख्या स्वीकार कर लेने पर ये मर्यादयें एक निश्चित आधार पर आश्रित हो जाती हैं। फिर इनकी भिन्न-२ कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती। नहीं तो सदा यह प्रश्न रहेगा कि अमुक-अमुक सात पापों का वर्जन ही मर्यादा क्यों है दूसरे पापों का क्यों नहीं? फिर यह भी प्रश्न रहेगा कि भगवान् की बांधी हुई सात मर्यादायें कौन-सी हैं? आचार्य जी की व्याख्या में इन प्रश्नों का स्थान नहीं रहता। यास्काचार्य तथा सायणाचार्य द्वारा प्रतिपादित मर्यादयें तो उन मर्यादाओं के भंग के कुछ स्थूल उदाहरण मात्र समझे जा सकते है।

---

१. ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। (नि० २ ३)

२. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि। (नि० १२.४)

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति की व्याख्या में इतना विशेष है कि उन्होंने 'विद्या' के स्थान पर आत्मा का ग्रहण किया है।

उपसंहार— परन्तु हम तो इन मर्यादाओं का भग प्रायः करते रहते हैं। और इसलिए पाप के भागी बनते रहते हैं। इस मर्यादा भंग से- इस पाप में गिरते रहने से- हमारी रक्षा कैसे होगी ? पाप के इस मार्ग पर चलने से हमें कौन रोकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्द्ध में दिया गया है। मन्त्र कहता है कि मनुष्य को पाप के गड्ढे में गिरने से रोकने- थामने वाला सहारा एक ही जगह है। वह जगह है प्रभु का आश्रय। इस आश्रय को ढूंढ़ने के लिए हमें कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रभु का यह आश्रय हमारे अत्यन्त समीप है। प्रभु हम सबके घट-घट के वासी हैं। उन्हें अपने हृदय में ही पा लेना होना है। जब मनुष्य इस सहारे को पा लेगा, जब वह इस स्कम्भ से—स्तम्भ से—अपने आप को बांध लेगा तो विषयों की बाढ़ उसे पाप में गिराने के लिये बहाकर नहीं ले जा सकेगी। पाप से बचने के लिए प्रभु का आंचल पकड़ लेना ही एक मात्र रास्ता है जिस पर चलने से हम पाप से बच सकते हैं। परमात्मा से भिन्न पदार्थों की उपसना के जितने भी मार्ग है उन सबका हमें परित्याग कर देना होगा। अन्य सब मार्गों का परित्याग करके हमें प्रभु की उपासना में, प्रभु की संगति में जाना होगा। तभी हमारा पाप से परित्राण हो सकेगा।[1]

संक्षेप में सदाचार की ये मर्यादायें है। इनका उल्लंघन करने से मनुष्य पापी होता है और इन मर्यादाओं में रहने से मनुष्य पुण्यमार्गी होता हुआ उन्नति को प्राप्त करता है।

---

१ वरुण की नौका, द्वि. भाग, पृ० १८२।

स्वर्गीय पूज्य पिता पण्डित देश बन्धु विद्यालंकार के जीवन का संक्षिप्त परिचय

जन्म १८९५ ७-६-९५ मरण १९९६ ६-६-९६

लाल कुमार कश्यप

सिर्फ छ: या सात वर्ष की आयु में सन् १९०२ के अन्दर बालक देश बन्धु ने गुरुकुल कांगड़ी जो कांगड़ी ग्राम के निकट घने जंगलों के मध्य-गगा की धाराओं के बीच स्थित है प्रवेश पा लिया था, प्रारंभ से ही वो स्वामी जी को अत्यन्त प्रिय हो गये थे कारण स्पष्ट था एक तो उनकों इस छोटी सी आयु में अनेकों श्लोक कन्ठस्थ थे, दूसरे अष्टाध्योगी भी उनको काफी याद थी ये सब बाबा जी ने उसी विद्वान पंडित को घर ठहरा कर याद करवाया था वो चाहते थे उनका बालक विद्वान बलवान और धर्म निष्ठ बने पिताजी के पिता का पूरा नाम था शंकर प्रसाद तिवारी वे कानपुर के पास किसी गांव के रहने वाले काश्तकार किसान के परिवार के थे धनाभाव के कारण उन्हें किसी ममरे मोसरे बड़े भाई ने नौकरी के वास्ते कलकत्ते ले जाकर वायसराय से मिलता दिया वायसराय ने जब उनका कद, शरीर और पर्सनेलिटीं के साथ ईमानदारी और सरल स्वभाव देखा तो इतना पन्सद आया की तत्काल उनको अपना पर्सनल खजांची (कैशियर) बनाकर अपने पास घर में रख लिया इसके बाद उनको काम चलाऊ लिखना पढ़ना सिखलाकर तहसीलदार बना दिया साथ ही पांच गांव बिहार प्रदेश में टिकारी स्टेट में आती नामक स्थान पर बोध गया से २० या पच्चीस मील की दूरी पर भेज दिया गया इससे पहले बाबा जी कलकत्ते में रहते थे वहीं रहते समय एक दिन बाबा जी को दयानन्द सरस्वती के दर्शनों के अलावा उनका प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तभी से ये सोचने लगे थे चलो मेरा जीवन तो बांय सराय की चापलूसी और जी हजूरी में चला गया पर अपनी संतानों को ऐसा घिनोना काम जबरदस्ती नहीं करवाऊंगा, कोई लड़का जमीदारी करना चाहे तो भले ही करता रहे। इसी जमीदारी के समय सन् १८९५ में पिताजी का जन्म हुआ था। बाबा जी ने अपने निश्चय के अनुसार बड़े पुत्र देश बन्धु को दयानन्द जी के सच्चे शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द जो तब मुन्शीराम कहलाते थे, उनके पास गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार जाकर प्रतिबन्ध करवा दिया।

बाबा जी दादी जी का प्रण था, वह बार-बार गुरुकुल आकर अपने बालक का मन उचाट नहीं करेगें इसके अनुसार वह चौदह वर्ष विद्याध्ययन के बीच सिर्फ एक या दोबार गुरुकुल आकर मिले थे। नवीं दशवीं में आने के बाद पिताजी के हाथ एक जर्मन वाड़ी बिलडर का चित्र लग गया जिसका शरीर और मसलस सांचे में ढले हुए थे जो सुडोल और सुन्दर थे पिताजी इस तस्वीर को देखकर दिन रात यही सोचने लगे मुझे भी ऐसा बन जाना चाहिये ?

उन्हीं दिनों स्वामी जी के बुलाने पर जगत प्रसिद्ध राममूर्ती पहलवान खेल तमाशे दिखलाने गुरुकुल आया उसको देखने के बाद तो पिताजी के मन में यह बात जम कर बैठ गई, जब मैं साधारण सा नजर आने वाला राममूर्ती पहलवान भारतीय सैन्डो इतने करतब दिखला सकता है तो मैं क्या नहीं कर सकता ?

इसके बाद तीन चार लड़कों की टीम बनाकर स्वामी जी की अनुमती और आशीर्वाद के साथ खेलकूद जमनास्टिक व्यायाम और प्राणायाम के साथ धनुर विद्या के गहन अध्ययन के साथ अभ्यास शुरु कर दिया। स्नातक होकर निकालने के पूर्व और बाद में भी उनके शारीरिक प्रदर्शनो वाले खेल गुरुकुल कालेजों में विशेष स्थान रखते थे, जिनको समय-समय पर महात्मा गांधी पण्डित जवाहर लाल नेहरू तथा लार्ड बेवल ने भी गुरुकुल आकर देखा था।

स्नातक बनने के बाद वे भारत वर्ष में घूम-२ कर यह खेल दिखलाते रहे, पांच वर्ष बाद उनका विवाह पण्डित राम चन्द्र जी इंगलिश टीचर की कन्या शकुन्तला देवी के साथ हो गया रामचन्द्र जी नाटन के राजा के पास फोरेस्ट अफसर थे, एक बार स्वामी जी का भाषण था प्रजा अपना पद छोड़कर स्वामी जी के पास पच्चीस रुपये मासिक लेकर गुरुकुल की सेवा में जुट गये साथ ही तन मन धन से अपना जीवन गुरुकुल को समर्पित कर दिया तभी तो बुद्ध देव विद्यालंकार जो बाद में समर्पणा नन्द बन गये थे ऐसा यशस्वी पत्र प्राप्त हुआ था। अनेकों वर्षो तक भारत वर्ष में धूम मचाने के बाद पिताजी पानी के जहाज द्वारा १९२६ में अमेरिका के वास्ते प्रस्थान गये उस समय तक उनकी दो सन्ताने थी, बड़े भाई जी वीर बन्धु और बहन चंचल मेरा जन्म तो तीसरे भाई अभिमन्यु के बाद १९३१ में हुआ था अमेरिका जाकर पिताजी ने एक वर्ष तक अपने खेलों प्राणायाम धनुर विद्या का ऐसा प्रदर्शन किया

की सारा युरोप चका चौध होकर आश्चर्य में डूब गया था न्यूयार्क टाइम्स अच्छी अखबारों में प्राय इन खेलों की प्रशंसा के लेख छपते रहते थे, खेलों में विशेष खेल यह थे हाथी को बांधने वाली लोहे की जंजीर तोड़ना धनुष बाण से आंखों में पट्टी बंधवा कर शब्दभेदी वाण द्वारा सामने बैठे आदमी के चेहरे पर लगे चश्में पर से दो मार कर एक साथ गिराना, दो दो मोटरें एक साथ रोकना तथा सामान से लदी गाड़ी या मोटर को अपने खुले सीने पर से उतरवाना इस प्रकार से स्पष्ट और चालाकी रहित खेलों को देखकर विदेशी लोग उनकी सिद्वता मान गये थे एक वर्ष से भी अधिक अमेरिका रहने के बाद पिताजी लगभग खाली हाथ लौटे थे हां इनाम के मैंडल सिक्के और सार्टीफिकेट पर्याप्त मात्रा में साथ थे स्पष्ट है पैसा कमाना अथवा धनोपार्जन एक कला है, जिसको हर कोई नहीं जानता नाहीं ये सीखने से आती है।

अस्तु भारत लौटकर फिरसे खेलों का कार्यक्रम चल पड़ा जिसका समापन सन १६३१ में जाकर हुआ, पिताजी को सर श्री राम ने दिल्ली क्लॉथ मिल, डी०सी०एम० में बुलाया गया वह उनके नाम की शौहरत पढ़ और सुन चुके थे, बात आ जाने पर पिताजी कहा करते थे लाल तेरे जन्म के बाद मुझे यह स्थिर काम मिला है। मेरी पूरी सफलता के साथ ग्यारह व्यक्ति पिताजी ने डी०सी०एम० में वेल फेयर अफसर का कार्य अकेले १४ विभाग सम्हलते रहे साधना मन्दिर व्यायाम शाला की स्थापना की जिसमें छोटे बड़े सभी बगैर भेदभाव से व्यायाम किया करते थे, उसी जगह आर्य समाज की स्थापना कर दी थी, पांच साल तक स्वयं जांघिया पहन कर व्यायाम करवाने के बाद यह काम ओम प्रकाश त्यागी को सोंप दिया था, वह एम०ए० पास नौजवान पिताजी के पास काम खोजने आया था सात साल तक उन्होंने व्यायाम करवाने के अलावा लाठी जमनाष्टिक आदि सिखलाने का काम किया था बाद मे ओम प्रकाश त्यागी ओम प्रकाश प्रसशोधी वनकर सार्वजनिक के प्रधान व मन्त्री भी वने थे ?

पण्डित इन्द्रजी के बार-बार बुलाने और आग्रह पर पिताजी कुछ शर्तों के साथ गुरुकुल कांगड़ी एक बार फिर लौट आये, यहां आकर अपनी पसन्द की गउशाला बनवाई साई बाल मौन्टगुमरी वीश्नी गाये लाये चारों तरफ फलों के वृक्ष लगवाये, अमन चौक से चारों तरफ पक्की सड़क का श्रमदान के साथ मिलकर निर्माण करवाया

सैकड़ों एकड़ खेती की जमीन खरीदवाई जिससे भीख मांगने या चन्दा करके गुरुकुल न चलना पड़े उसकी आय पर निर्भर होना चाहिए फिर दुख की बात है लोगों की असहमती और स्वार्थ पारायणता के कारण अपना दस वर्ष का काम ट्रैक्टर बीच में ही छोड़कर अपने पुराने सहपाटी विनायक रात विद्यालंकार मुख्यमंत्री आन्ध्र प्रदेश के बुलाने पर गुऊशाला खुलवाने के लिए हैदराबाद जा पहुंचे जहां पच्चीस वर्ष तक रहकर अपनी गऊशाला खुलवाई गुरुकुल घटकेसर के आचार्य रहे फिर तीन वर्ष बाद हरिद्वार आये वानप्रस्थ आश्रम में आकर अपने प्रवचनों और अनुमती से सबको लाभ पहुंचाया।

माता जी पिताजी की आयु अधिक हो जाने से वह अस्वस्थ रहने लगे उनको सहारे की आवश्यकता हुई तब मैं उनका पुत्र लालकुमार सन् १९८४ में अपना काम आई०टी०आई० ट्रांस्पोर्ट कम्पनी के मैनेजर शिवस्वयम छोड़कर अपनी पत्नि रश्मि कश्यप की सहमती से हरिद्वार वानप्रस्थ आश्रम आ गया था और आज भी गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय में काम कर रहा हूं।

विज्ञानवाद

डॉ० भगवन्त सिंह
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययन शाला,
पं० रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय
रायपुर (म०प्र०) ४९२०१०

विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एक मात्र सत् है। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं है। चित, मन, विज्ञप्ति आदि विज्ञान के ही पर्याय हैं। इसके व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखकर इसे योगाचार भी कहा जाता है जबकी पाश्चात्य जगत में इसे प्रत्यवाद (Idealism) ही कहा जाता है जिसके अनुसार ज्ञाता और उसके अनुभवों (प्रत्ययों) के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है। वर्कले ने स्पष्ट कहा है कि इन अनुभवों (प्रत्ययों) के कारण-स्वरुप किसी भौतिक वस्तु की ज्ञाता-निरपेक्ष सत्ता सम्भव नहीं है।

सामान्यतः योगाचार विज्ञानवाद और बर्कले की प्रत्ययवादी अवधारणाओं में समानता दिखती है। विज्ञानवादी चेतना से स्वतंत्र वस्तु का अस्तित्व नहीं मानते हैं तो बर्कले भी इसी प्रकार स्पष्ट रुप से मानते हैं कि वस्तुओं का अस्तित्व किसी ज्ञाता द्वारा उनके अनुभूत होने पर निर्भर है तथा ज्ञाता की चेतना से स्वतंत्र उनका अस्तित्व नहीं है। इन समानताओं के होने के बावजूद योगाचार विज्ञानवाद एवं बर्कले की मौलिक अवधारणाओं में अंतर है और यही इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है।

वस्तुतः प्रत्ययवाद के दो रूप है—

(१) ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद और (२) तत्वमीमांसीय प्रत्ययवाद। ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद इस प्रश्न का उत्तर देता है कि ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञाता के संबंध में ज्ञेय पदार्थ की क्या स्थिति होती है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व ज्ञाता पर ही निर्भर करता है। उसकी स्थिति ज्ञाता से स्वतंत्र नहीं है। दूसरी तरफ तत्वमीमांसीय प्रत्यवाद मौलिक सत्ता के स्वरुप से सम्बन्धित प्रश्न का उत्तर देता है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि मौलिक सत्ता का स्वरुप मन, चेतना या प्रत्यय अथवा बुद्धि का स्वरुप है। चूंकि योगाचार विज्ञानवाद और बर्कले का प्रत्ययवाद दोनों ही ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद के सिद्धांत है, इसलिए भी हम इनका तुलनात्मक अनुशीलन (इस परिप्रेक्ष्य में) करना अपेक्षित समझते हैं।[1]

---

१. केशोण्ड्रकप्रख्यमिद मरीच्युदकविभ्रमात्।
त्रिभवं स्वप्नमायाख्यं..........।। लंकावतार सूत्र– २/१५०।

योगाचार विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एक मात्र सत् है। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं है। विविध वस्तुओं के नाम से अभिहित किये जाने वाले बाह्य जगत मे उपलब्ध विषयों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे चित्तमात्र की प्रतिमाएं (प्रतिविम्ब) हैं तथा मायामरीचिका के समान निस्स्वभाव एवं स्वप्नवत् निरुपाख्य है। इन्हें ही हम अज्ञानवश बाह्य वस्तु मान लेते है। चित्त या विज्ञान ही तदाकार प्रतिभासित होता रहता है। आचार्य बसुबन्धु ने स्पष्ट कहा है, "समस्त भासमान विषयों के असत् होने के कारण सब कुछ विज्ञप्ति मात्र ही है।[1]

योगाचार विज्ञानवाद की मान्यता है कि क्षणिक विज्ञानों के सतत् प्रवाह के अतिरिक्त अन्य कोई सांसारिक वस्तु नहीं है। किन्तु इस धर्म-नैरात्म्य का यह अर्थ नहीं है कि सर्वथा कोई भी धर्म नहीं हैं। इसका तात्पर्य केवल यही है कि सविकल्पक बुद्धि द्वारा कल्पित द्वैत यथा—विषय और विषयी, जगत और जीव आदि धर्म नहीं है। ये सब हमारे अज्ञान की परिणति हैं लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अनुभवसिद्ध जगत और उसके प्रपन्च का पूर्ण विनाश हो जाता है। त्रिंशिका में आचार्य बसुबन्धु ने स्पष्ट किया है, "आत्मा तथा धर्म सम्बन्धी जो विविध उपचार किये जाते हैं वे विज्ञान परिणाम के अन्तर्गत आते हैं।[2]

विज्ञानवाद के अनुसार तत्वतः विज्ञान प्रवाह रुप होते हुए भी तीन रूपों में अभिव्यक्त होता है और इन्हीं तीनों रूपों को परिणाम कहा जाता है। ये हैं-विपाक, मनन तथा विषय-विज्ञप्ति।[3] विपाक को आलय विज्ञान, मनन को क्लिष्ट मन या सप्तम् विज्ञान तथा विषय विज्ञप्ति को प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं। विज्ञान के आठ प्रकार होते हैं— आलय विज्ञान, क्लिष्टमन, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र विज्ञान, घ्राणविज्ञान, जीह्वाविज्ञान, काय विज्ञान और मनोविज्ञान। चक्षुः विज्ञान सहित अंतिम छः प्रकार

---

१. विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्। विन्शतिका काररिका–१

२. आत्मधर्मोपचारी हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञान परिणामेऽसौ ·······॥ त्रिंशिका कारिका–१

३. विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च। वही–१

सर्वास्तिवाद तथा स्थविरवाद परम्पराओं में भी स्वीकृत हैं किन्तु अन्य विज्ञानों के साथ-साथ आलय विज्ञान तथा विलष्ट मन की कल्पना मात्र विज्ञानवाद की ही कल्पना है। अर्थात् योगाचार विज्ञानवाद विज्ञान के सभी आठों प्रकारों को स्वीकार करता है।

अब एक सहज व स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या इन सतत् प्रवाहमान क्षणिक विज्ञानों का कोई आधार भी है ? इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक देते हुए योगाचार विज्ञानवाद स्पष्ट करता है कि न तो इन विज्ञानों का आधार कोई अलौकिक व अतीन्द्रिय सत्ता है और न ही कोई भौतिक वस्तु, वरन इनका आधार आलय-विज्ञान ही है। आलय का आशय गृह, स्थान अथवा आधार[1] है जब कि विज्ञान का आशय है- वह जो जानता है।[2] अर्थात आलय विज्ञान भी एक विज्ञान ही है किन्तु वह मूल विज्ञान है और अन्य सभी विज्ञानों का उत्पत्ति स्थान या आधार है। अन्य समस्त विज्ञान इसमें कार्यभाव से उपनिबद्ध होते हैं अथवा अन्य सभी विज्ञानों में यह कारणभाव से उपनिबद्ध होता है। आचार्य बसुवन्धु ने त्रिशका में आलय विज्ञान का बड़ा ही सुन्दर व स्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार आलय विज्ञान सभी धर्मों (विज्ञानों) को आश्रय तथा अनादिकालिक धातु है जिसके होने से संसार की प्रवृत्ति अथवा निर्वाण की प्राप्ति होती है।[3] चूंकि आलय विज्ञान में संस्कार, वासना अथवा विपाक संगृहीत होते है इसलिए उसे गृह या सर्वबीज[4] भी कहते हैं।

अब एक अन्य प्रश्न उठता है कि चूंकि आलय-विज्ञान में सभी विज्ञानों के बीज विद्यमान रहते हैं इसलिए सभी विज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ ही होनी चाहिए अथवा सभी विषयों का ज्ञान समग्र रूप से एक साथ ही होना चाहिए। योगाचार विज्ञानवादी इसका सन्तोषजक उत्तर देते हैं। उनके अनुसार जिस समय आलय विज्ञान में जितने विज्ञानों के कारण सन्निहित रहते हैं उस समय उसमें उतने ही

१. आलयः स्थानमिति पर्यायौ। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, ३६
२. विज्ञानातीति विज्ञानम्। वही
३. त्रिशिका, ३६
४. विपाकः सर्वबीजकम्। त्रि० का.-२

विज्ञानों की उत्पत्ति होती है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि सभी विज्ञान-बीज या वासनायें आलय विज्ञान में विद्यमान रहती हैं किन्तु जिस क्रम से जिस क्षण जिस वासना का परिपाक हो जाता है उसी क्रम से उस क्षण वही विज्ञान उत्पन्न होता है। अतः विज्ञान की उत्पत्ति के लिए तत्सम्बन्धी वासना का पारिपाक भी आवश्यक है। वासना की उपस्थिति मात्र ही पर्याप्त नहीं है।

पाश्चात्य दार्शनिक बर्कले भी ज्ञाता से स्वतन्त्र वस्तु के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। वे मेज, पुस्तक आदि भौतिक वस्तुओं के अनस्तित्व का प्रतिपादन नहीं करते वरन् उनके अनुसार ऐसी किसी भी भौतिक वस्तु का अस्तित्व नहीं है जो ज्ञाता (आत्मा) से स्वतन्त्र (निरपेक्ष) होकर अस्तित्ववान हो। बर्कले यह मानते है कि यदि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व है भी जो ज्ञाता से स्वतन्त्र हो तो भी समस्या में कोई अन्तर नहीं आता है क्योंकि उस परिस्थिति में हमें उसका ज्ञान नहीं हो सकता। विपरीततः जब हमें ज्ञान होता है तब हम उस वस्तु के साक्षात् सम्पर्क में नहीं होते। उनके अनुसार ज्ञाता और उसके प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। बर्कले के अनुसार "मेज का अनुभव" कहना उचित नहीं है क्योंकि इसका आशय यह होगा कि पहले मेज है फिर उसका अनुभव। वे इसे भाषायी त्रुटि मात्र मानते हैं तथा इसे "मेज का अनुभव" न कहकर 'मेजानुभव" (Tablish Expesience) कहना उचित मानते हैं। वे भौतिक वस्तु का तात्पर्य इन्द्रियानुभव का समूह या परिवार (Group or fiomily of sinse-Experience) मानते हुए हमारे अनुभवों विज्ञानों या प्रत्ययों) के कारण-स्वरुप किसी ज्ञाता-निरपेक्ष वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। चूंकि प्रत्ययवाद अनुभव-निरपेक्ष सत्ता का निषेध करता है इसीलिए बर्कले भी मानते हैं कि "अनानुभूत (Uüperceived) भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है" यह कथन असंगत (Repugnant) है

अब प्रश्न उठता है कि यदि अनुभव के कारण–स्वरूप कोई ज्ञाता-निरपेक्ष भौतिक-वस्तु नहीं हैं तो इन अनुभवों का कारण क्या है ? बर्कले का स्पष्ट उत्तर है कि हमारे अनुभवों का मूल कारण ईश्वर है न कि कोई अनुभव स्वतंत्र भौतिक वस्तु। ईश्वर

स्वयं, विना किसी माध्यम के, इन्हें हमारी आत्मा में आरोपित करता है। अत: आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) तथा उसके अनुभवों के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है। ईश्वर (परमात्मा) असीमित आत्मा है तथा अन्य जीवात्माएं सीमित। परमात्मा हमारे अनुभवों को उसी क्रम में उत्पन्न करता है जिस क्रम में हम उन्हें प्राप्त करते है। इस प्रकार बर्कले जड़-जगत का खण्डन कर "दृश्यता ही सत्ता" (Esse Est Pereipi) की स्थापना करते है।

तत्वमीमांसीय प्रत्ययवाद को मानने पर यह आवयश्क नहीं है कि ज्ञान मीमांसीय प्रत्ययवाद को भी माना जाय जबकि ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद के मानने वाले को तत्वमीमांसीय प्रत्ययवाद स्वीकार करना ही पड़ता है। योगाचार एवं बर्कले दोनों ही यह मानते हैं कि वस्तुओं का अस्तित्व चेतना से स्वतन्त्र नहीं है इसलिए यह भी मानना पड़ता है कि वस्तुओं का मूल स्वरुप चेतना या प्रत्यय का रूप हैं। अर्थात दोनों ही ज्ञान मीमांसीय प्रत्ययवाद को अपनाते है और परिणति तत्व-मीमांसीय प्रत्ययवाद को अपनाने में होती है।

अब ज्ञान की वस्तुनिष्ठता (Objectioity of Knowledge) से संबंधित चर्चा अत्यन्त प्रासंगिक प्रतीत होती है। योगाचार विज्ञानवादी ज्ञान की वस्तुनिष्ठता "मानसिक संरचना" (Mental Struetune) में पाते हैं जबकि बर्कले इस समस्या के समाधानार्थ ईश्वर की शरण में जाते हैं और यह मानते हैं कि ज्ञान व्यक्ति (जीवात्मा) के प्रत्यय न होकर ईश्वर (परमात्मा) के प्रत्यय है। इस प्रकार बर्कले ज्ञान को आत्म-निष्ठता के दोष से बचाकर वस्तुनिष्ठ मानते हैं। यदि हम बर्कले की इस पलायनवादिता को ज्ञान की वस्तुनिष्ठता के परिप्रेक्ष्य में स्वीकार कर ले तो भी प्रकारान्तर से बर्कले पर ज्ञान की आत्मनिष्ठता (Subjectivity of Knowledge) का आरोप सिद्ध होता है। चूंकि प्रत्यय अभी भी किसी के मन के प्रत्यय ही रह जाते हैं भले ही वह मन ईश्वर का ही क्यों न हो, इसलिए प्रकारान्तर से इसे आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद कहा जा सकता है यद्यपि इस प्रकार का प्रकारान्तर दोष विज्ञानवाद पर भी लगाया जाता रहा हैं किन्तु ज्ञान की वस्तुनिष्ठता का संरचनात्मक भेद योगाचार और बर्कले के प्रत्ययवाद का मूल अन्तर है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की मरम्मत

डॉ० सन्त राम वैश्य
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार–२४६४०४

[१] इस्त्वार दला लितरेत्यूर ऐन्दूई ऐन्दुस्तानी (Historidela literature Hindaui Hindustance)

गार्सां द तासी

पेरिस विश्वविद्यालय में उर्दू के प्रोफेसर तासी (१७९४-१८७८ ई०) ने इसे फ्रेंचर भाषा में लिखा। इसका प्रभाव निस्कारण दो भागों में प्रकाशित हुआ। पहला भाग १८३९ ई० में और दूसरा भाग १८४७ ई० में। पहले भाग में कुल ७३८ कवियों और लेखकों का परिचय है, जिनमें हिन्दी के केवल ७२ कवि हैं। दूसरे भाग में कवियों व लेखकों की रचनाओं के उदाहरण हैं जो फ्रेंच भाषा में अनूदित हैं।

तासी का हिन्दुई से अभियाम हिन्दी से है जबकि हिन्दुस्तानी का उर्दू और पाकिस्तानी हिन्दी से।

तासी के ग्रंथ का द्वितीय संस्करण तीन भागों में पेरिस से प्रकासित हुआ। प्रथम एवं द्वितीय भाग १८७० ई० में तथा तृतीय भाग १८७१ ई० में। तीनों भागों में कुल १२२४ कवियों एवं लेखकों का परिचय है। प्रथम संस्करण के द्वितीय भाग में उदाहरण वाली जो सामग्री थी उसे द्वितीय संस्करण में सम्बन्धित कवियों के विवरणों के पश्चात् संलग्न कर दिया गया।

डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इस ग्रंथ में आए हिन्दी के कवियों एवं लेखकों सम्बन्धी विवरण का हिन्दी अनुवाद हिन्दुई साहित्य का इतिहास नाम से किया है जो सन् १९५२ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इस अनुदित ग्रंथ में कुल ३५८ कवियों और लेखकों का विवरण है जिनमें से शुद्ध साहित्य की सर्जन करने वाले मात्र २२० रचना कम है।

तासी की रचना कालक्रमानुसार न होकर लेखकों वर्णानुक्रम से है, जबकि इतिहास के लिए कालक्रम पहली शर्त है।

इसमें उर्दू के कवियों-लेखकों की संख्या बहुत अधिक है, हिन्दी के कवियों-लेखकों की बहुत कम।

इसमें तिथि सम्बन्धी, कवि नाम सम्बन्धी, ग्रंथ विवरण सम्बन्धी, तथ्य सम्बन्धी तथा भाषा सम्बन्धी बहुत सी अशुद्धियां मिलती हैं।

इसके बावजूद तासी के इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्व है। यद्यपि तासी ने कालविभाजन नहीं किया है, तथापि उन्होंने रचनाओं को विभिन्न वर्गों में रखने का प्रयास किया है। तासी ने काव्य का रूपात्मक एक वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है जो साहित्योतिहास में मौलिक वस्तु हैं।

[२] 'तबकातुश्शुअरा' या तजकिरा-ईशूअरा-ई-हिन्दी'

(A History of Urdu Poets)

मौलवी करीमुद्दीन

यह १८४८ ई० में देहली कालेज द्वारा प्रकाशित हुआ यह मुख्यालय तासी के ग्रंथ के प्रथम संस्करण का अनुवाद है। यह अनुवाद बिहार के शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर फैलन साहब ने किया। इस अनुवाद में करीमुद्दीन ने बहुत कुछ अपनी ओर से जोड़ा है। यह जोड़ इतना अधिक है कि इसे अनुवाद नहीं कहा जा सकता तासी प्रथम संस्करण में कुल ७३८ कवि थे। करीमुद्दीन के इस तजकिरे में कवि संख्या १००४ है। इनमें हिन्दी के कवियों की संख्या ६०-६२ ही है।

करीमुद्दीन अपने ग्रंथ को इतिहास का ठीक रूप नहीं दे सके। यद्यपि उन्होंने कालक्रम पर चलने का प्रयास आभाव किया हैं, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली है। उर्दू कवियों की अधिकता है। इनके बीच-बीच में हिन्दी कवियों का विवरण है।

इस ग्रंथ का महत्व इस दृष्टि से है कि स्वयं तासी ने इस ग्रंथ का उपयोग अपने इतिहास ग्रंथ के द्वितीय संस्करण में किया है। मौलवी करीमुद्दीन ने अपने इस ग्रंथ में यथासम्भव काल क्रम का भी ध्यान रखा है। साथ ही कवियों के जन्म-मृत्यु के संवतों उनके वैभक्तिक जीवन तथा काव्य संग्रहों का भी उल्लेख करने का प्रयास किया है।

[३] शिव सिंह सरोज — शिव सिंह सेंगर

सन् १८७७ ई० (डा० धीरेन्द्र वर्मा के मतानुसार) में शिवसिंह सेंगर ने 'शिव सिंह सरोज' नामक इतिहास ग्रंथ नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित कराया इस ग्रंथ में ८३८ कवियों की रचनाओं के नमूने एक में दिये गए हैं जिनकी संख्या प्राय: दो हजार है। काव्य संग्रह के उपरान्त ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में १००३ कवियों का जीवन चरित्र भी अकारादि क्रम से दिया गया है।

शिव सिंह सरोज में काल विभाजन का स्पष्ट निर्देश नहीं है। कवियों का परिचय काल क्रमानुसार नहीं, बल्कि अकारादि क्रम से दिया गया है। इसके साथ ही इसमें वर्णानुक्रम सम्बन्धी, संख्या व पृष्ठ निर्देशन सम्बन्धी, मुद्रण सम्बन्धी, सन्-संवत् सम्बन्धी, कवियों के नाम एवं उनके व्यक्तित्व सम्बन्धी तथा तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियां भी देखने को मिलती हैं।

इसके बावजूद सरोज को हिन्दी साहित्योतिहास का प्रस्थान विन्दु माना जा सकता है सेंगर जी ने अपने समय तक उपलब्ध हिन्ही कविता सम्बन्धी ज्ञान को संकलित किया है। सेंगर जी को इतिहास बोध भी था। ग्रंन्थ की भूमिका के अन्तर्गत एक-एक शती में होने वाले कवियों की परिगणना की गई है जिससे यह संकेत मिलता है कि संग्रहकर्त्ता के मन में शताब्दियों से अनुसार विभाजन करने की योजना थी। ग्रिमसन ने अपने इतिहास ग्रंथ के अधिकांश कवियों का विवरण सरोज से ही लिया है। मिश्र बन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य परवर्ती इतिहास लेखकों ने इस ग्रंथ से सहायता ली है।

[४] द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान

जार्ज अब्राहम ग्रिमर्सन

यह ग्रंथ सर्वप्रथम द जर्नल आफ द रायल एशमिटिक सोसायटी आफ बंगाल (भाग-१, सन् १८८८) के विशेषांक रूप में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर १८८९ ई० में इसी संस्था से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल ९५१ कवियों का विवरण हैं। ग्रिमर्सन ने हिन्दुतान शब्द का प्रयोग हिन्दी भ.षा-भाषी प्रदेश के अर्थ में किया

हैं। इस ग्रंथ में मारवाड़ी, ब्रजी, अवधी तथा बिहारी के लिखित साहित्य का उल्लेख है। ग्रंथ को प्रस्तुत करने में शिव सिंह सरोज से सर्वाधिक सहायता ली गयी है।

ग्रिमर्सन के इतिहास में तथ्य सम्बन्धी, सन् संवत सम्बन्धी व नाम सम्बन्धी अनेक अशुद्धियां मिलती हैं। कहीं-कहीं 'सरोज' का सीधा अनुवाद कर दिया है। यद्यपि ग्रीमर्सन ने काल विभाजन करने का प्रयास किया है, पर वह किसी वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित नहीं है। उसमें बिखराव है।

इसके बावजूद ग्रिमर्सन के इतिहास का ऐतिहासिक महत्व है। इसकी कई विशेषताएं हैं—

१. हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न काल विभाग किये गये हैं।
२. कवियों का विवरण कालक्रमानुसार प्रस्तुत किया गया है।
३. कुछ कालों की सामान्य प्रवृतियां भी दी गयी है।
४. प्रत्येक कवि की एक संख्या दी गयी है। बड़ी आसानी से उस कवि को उस संख्या पर देखा जा सकता है।
५. १८ महत्वपूर्ण कवियों का विवरण मर्यादा विस्तार से दिया गया है।
६. सरस तथा साहित्यिक शैली में कुछ कवियों की आलोजना भी प्रस्तुत की गयी हैं।
७. इस ग्रंथ के माध्यम में ग्रिमर्सन ने साहित्योतिहास में तुलनात्मक आलोचना-पद्धति की नीव डाली।
८. ग्रिमर्सन ने ही सर्वप्रथम भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहा। चरण कमल और निति काव्य नामों का प्रयोग सर्वप्रथम इन्होंने ही किया।

ग्रिमर्सन का इतिहास नींव का वह पत्थर है जिस पर आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास का भव्य भवन निर्मित किया। इसने मिश्राबन्धु विनोद और शुक्ल जी के इतिहास को प्रभावित किया। किशोरी लाल गुप्ता ने इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास नाम से किया है जो सन् १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ।

[५] 'मिश्रा बन्धु विनोद' अथवा हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि कीर्तन मिश्रा बन्धु (पं० गणेश बिहारी मिश्रा तथा रामबहादुर डा० शुकदेव बिहारी मिश्रा)

'मिश्रा बन्धु विनोद' चार भागों में प्रकाशित हुआ। इसके तीन भागों का प्रकाशन १९१३ ई० में तथा चौथे भाग का प्रकाशन १९२४ ई० में हुआ। चारों भागों में कुल मिलाकर ४५९१ कवियों एवं लेखकों का विवरण संगृहीत हैं। श्याम बिहारी मिश्रा तथा शुकदेश बिहारी मिश्रा सन् १९०९ से १९१६ तक नागरी प्रचारिणी सभा में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों के खोज कार्य के निरीक्षक थे। अतः सभी उपलब्ध सामग्री का लाभ उठाया। विभिन्न साहित्य प्रेमी बन्धुओं ने इनके पास पर्याप्त सामग्री भेजी थी।

यद्यपि मिश्र बन्धुओं ने अपने 'विनोद' में हिन्दी साहित्योतिहास का लम्बा-चौडा काल विभाजन प्रस्तुत किया है किन्तु वह विभाजन किसी सुनिश्चित आधार पर नहीं है। इसके लिए जो मानदण्ड अपनाये गए हैं उनमें युग एवं कवि के अनुरुप उल्ट-फेर भी किया गया है। मिश्र बन्धुओं ने साहित्यिक मूल्यांकन में प्राचीन समालोचना पद्यति का आश्रय लिया हैं।

इतना होने के बावजूद इस ग्रंथ की कई महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं—

१. इसमें सामग्री का विपुल सम्पन्न किया गया है।
२. इसमें प्रमुख कवियों के विवरण समालोचना सहित विस्तारपूर्वक दिये हैं।
३. प्रत्येक कवि की एक सुनिश्चित संख्या।
४. साहित्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है।

आचार्य शुक्ल ने मिश्राबन्धुओं के इतिहास से काफी सहायता ली है—"कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्राबन्धु विनोद से ही लिए हैं।"

[६] ए स्केच आफ हिन्दी लिटरेचर
पादरी एडविन ग्रीब्ज

११२ पृष्ठों का यह इतिहास ग्रंथ १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें पिछली सभी सामग्री से सहायता लेकर साहित्यिक गतिविधियों का परिचय दिया गया है। इसमें काल विभाजन भी है जो ग्रिमर्सन का प्रतिबिम्ब है। ग्रीब्ज ने पहली बार हिन्दी साहित्य के इतिहास में हिन्दी भाषा के इतिहास को भी स्थान दिया है।

[७] ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर
पादरी एफ० ई० की (F.E. Keay)

यह ग्रंथ १९२० ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें हिन्दीं भाषा और साहित्य का सामान्य सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए काल विभाजन एवं नामकरण का सार्थक प्रयास किया गया है। नामकरण में कृतिकार, कृति, इतिहास, भाषा तथा प्रवृत्ति को आधार बनाया गया है।

[८] हिन्दी साहित्य का इतिहास
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

यह १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ। आचार्य शुक्ल की सूचना के अनुसार इसका प्रारुप छात्रों के उपयोग के लिए संक्षिप्त नोट के रुप में तैयार किया गया था जो बाद में कुछ संशोधनोंपरान्त कभी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सभा' की भूमिका के रूप में हिन्दी साहित्य का विकास' शीर्षक से १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ तदनन्तर उसी वर्ष कुछ और संशोधन तथा परिवर्धन के साथ सभा से ही 'हन्दी साहित्य का इतिहास' नाम से पुस्तक रुप में प्रकाशित हुआ। पुनः १९४० ई० में इसका संशोधित और परिवादित संस्करण निकला। यही सस्करण सर्वाधिक प्रचलन में है। आचार्य शुक्ल के इस इतिहास ग्रंन्थ को सर्वाधिक लोक-प्रियता मिली। साहित्य मनीषियों ने इसे हिन्दी का प्रथम सुव्यवस्थित इतिहास कहा है। इसके गुणदोषों की भी बहुत चर्चा हुई। यद्यपि यह ग्रंन्थ अपने में सर्वांगपूर्ण नहीं है फिर भी इसका अपना साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व है। शुक्ल जी के बाद के सभी इतिहासकारों ने इसे अपना-अपना ग्रंथ माना है। आज भी शुक्ल जी का इतिहास मील का वह पत्थर है जिसे कोई अपनी जगह से हटा नहीं सका है। आज भी इतिहास लेखकों के लिए यह प्रकाश स्तम्भ का कार्य कर रहा है।

[९] हिन्दी भाषा और साहित्य
बाबू श्याम सुन्दरदास

यह ग्रन्थ १९३० ई० में निकला, जो बाद में 'हिन्दी भाषा' और 'हिन्दी साहित्य' नाम से अलग-अलग प्रकाशित हुआ। कुछ विद्वानों ने इनके इस इतिहास ग्रन्थ की प्रशंसा की। पर इसमें आचार्य शुक्ल जैसी गहराई और प्रतिपादन कुशलता नहीं मिलती इनके कालविभाजन पर भी आचार्य शुक्ल की स्पष्ट छाप हैं।

[१०] हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
- सूर्यकान्त शास्त्री

यह इतिहास ग्रंथ सन् १९३० ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुख कवियों पर लम्बी एवं तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। शास्त्री जी का वर्गीकरण पादरी एफ०ई० की से प्रभावित है। इस ग्रंथ की भाषा भी चमत्कार वृत्ति की ओर अधिक उन्मुख है।

[११] हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास
अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध

हरिऔध जी ने पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में कुछ भाषण दिये जो १९३१ ई० में 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इसमें कवियों की भाषा के सम्बन्ध में विशेष कथन है। सुन्दर उदाहरण भी दिये गये हैं। सन्-संवतों का अभाव इसका बहुत बड़ा दोष है।

[१२] हिन्दी साहित्य का इतिहास
रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

यह ग्रंथ १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के आरम्भ में साहित्येतिहास पर विस्तार से चर्चा की गई है। कुछ इसमें पूर्णवर्ती इतिहास ग्रंथों की आलोचना भी है। कुछ महत्वपूर्ण कवियों पर इन्होंने सतही विचार व्यक्त किये हैं। इनका इतिहास आचार्य शुक्ल के इतिहास से अत्यधिक प्रभावित है।

[१३] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
डा० रामकुमार वर्मा

यय ग्रंथ १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें संवत ७५० से १७५० तक के कालखण्ड को ही लिया गया है। वर्मा जी ने कालविभाजन एवं नामकरण में आचार्य शुक्ल का ही अनुसरण किया है। इन्होंने वीरगाथा काल को चरणकाल नाम दिया है

और उससे पूर्व एक सन्धिकाल और जोड़ दिया है । ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी शाखा की जगह संतकाव्य और प्रेमकाव्य नाम का प्रयोग किया हैं । स्वयं को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हुए वर्मा जी ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ ६६३ ई० से स्वीकार किया है ।

विद्वानों ने इस इतिहास ग्रंथ को आचार्य शुक्ल के इतिहास के गुण दोषों का विस्तार माना है । कवियों के मूल्यांकन में वर्मा जी ने सहृदयता और कालात्मकता का परिचय दिया है । इसी कारण यह ग्रंथ को पर्याप्त लोकप्रियता भी मिली। विस्तृत सामग्री भी इसकी महत्ता का एक प्रमुख कारण रही हैं ।

[१४] हिन्दी साहित्य का इतिहास

मिश्रा बन्धु

यह गंगा पुस्तक कला लखनऊ से १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ । इसे 'मिश्राबन्धु विनोद का संक्षिप्त रूप माना जा सकता है । इसका ढांचा भी मिश्राबन्धु विनोद जैसा ही है ।

[१५] हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

चतुरसेन शास्त्री

यह १९४६ ई० में प्रकाशित हुआ । लेखक के अनुसार—"इस ग्रंथ में मैंने अपने पूर्णवर्ती और समकालीन प्राय ! सब हिन्दी इतिहास–लेखकों की प्रचलित परम्परा का उल्लंघन करके अपने कुछ नए ऐतिहासिक दृष्टि कोण निर्धारित किये हैं, और उनके समर्थन में इतिहास की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि की रेखाएं दी है।" पर ग्रंथ को पढ़ने से ग्रंथकार की किसी मौलिक धारणा का परिचय नहीं मिलता ।

[१६] १– हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९४० ई०)

२– हिन्दी साहित्य का आदिकाल (१९५२ ई०)

३– हिन्दी साहित्य ,' उसका उद्‌भव और विकास (१९५५ ई०)

हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी साहित्य की भूमिका में द्विवेदी जी की साहित्योतिहास लेखन सम्बन्धी मौलिक दृष्टि का परिचय मिलता है। इसमें हिन्दी साहित्य को भारतीय चिन्तन आधार के साथ जोड़कर उसका मूल्यांकन करने की बात उठायी गई है। इस ग्रंथ मे द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की कई मान्यताओं का खण्डन किया है।

'हिन्दी साहित्य का आदि काल' इसी क्रम की दूसरी महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसमें भी द्विवेदी जी ने अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय देते हुए आदि कालीन हिन्दी साहित्य विषयक कई भ्रांतियों का निराकरण किया है। डा० हरमहेन्द्र सिंह बेदी के शब्दों में—"भाषण शैली मे लिखा गया यह ग्रंथ मध्ययुगीन भाषा काव्य की आन्तरिक चेतना और बाह्य स्वरुप तथा उसके विकास को समझने की कुंजी है।" (हिन्दी साहित्योतिहास : पश्चात्म स्रोतो का अध्ययन पृ०-६८)

'हिन्दी साहित्य: उसका उद्‌भव और विकास' विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इसमें सुबोध भाषा में हिन्दी साहित्येतिहास के विभिन्न कालखण्डों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए तद्‌युगीन साहित्य का परिचय दिया गया है।

[१७] 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास

डा० गणपति चन्द्र गुप्ता

इसका प्रकाशन १९६५ ई० में हुआ। इसमें गुप्ता जी ने वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी साहित्येतिहस की परख की है। इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या में इन्होंने विकास-वादी सिद्धांत को आधार बनाया है। इनके ग्रन्थ में इतिहास दर्शन की विस्तृत पीठिका भी है। गुप्त जी ने हिन्दी साहित्य को तीन काल खण्डों में विभक्त किया है—

१– प्रारम्भिक काल (११८४-१३५० ई०)
२– मध्यकाल (१३५०-१८५७ ई०)
३– आधुनिक काल (१८५७ से अब तक)।

"मैंने इन कालखण्डों के नामकरण में ऐसी सामान्य संज्ञाओं का प्रयोग किया है जिससे हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण एवं व्यापक रुप में तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों को सर्वांगीण रुप में प्रस्तुत किया जा सके।"

(प्रथम सस्करण की भूमिका)

कुछ विद्वानों ने डा० गुप्त के इतिहास के व्यवहारिक पक्ष की आलोचना की है। पर इतना तो मानना ही चाहिए कि डा० गुप्त ने अपने इस इतिहास ग्रंथ के माध्यम से वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के द्वारा खोले है और अनुसंधान के आयामों को विकसित किया है।

सम्पादित इतिहास ग्रंथ —

[१८] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (१६ भागों में)
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

ना० प्र० सभा ने हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास सोलह भागों में प्रकाशित किया है। प्रत्येक भाग अलग अलग विद्वानों के सम्पादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निर्मित हुआ है। इतिहास के स्थूल ढांचे के रुप में इसमें आचार्य शुक्ल के इतिहास को ही किंचित् संशोधन के साथ अपनाया गया है। इसके कुछ भाग काफी लोकप्रिय हुए हैं। इस इतिहास ग्रंथ में एकरुपता, अन्विति तथा सजीवता की कमी है।

[१९] हिन्दी-साहित्य (३ खंड) सामा० डा० धीरेन्द्र वर्मा
भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद

इसमें हिन्दी साहित्य को तीन कालों आदिकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल में विभाजित करते हुए प्रत्येक काल की काव्य परम्पराओं का विवरण अविच्छिन्न रुप में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही ग्रंथ में नवीन उपलब्ध शोध सामग्री का भी उपयोग किया गया है। इस ग्रन्थ में विभिन्न अध्यायों के विभिन्न लेखक हैं जिनहोंने विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों का उपयोग किया है जिससे इसमें एक रुपता, अन्विति तथा संश्लेषण का अभाव मिलता है।

[२०] हिन्दी साहित्य का इतिहास–सम्पादन डा० नगेन्द्र

इसका प्रथम संस्करण १९७३ ई० में निकला यह एक सम्पादित ग्रन्थ है जिसका संकलन अनेक लेखकों के सहयोग से हुआ हैं। सम्पादक के अनुसार सभी लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान है और उन्होंने अपने लेखन में नवीन शोध परिणामों का विवेक पूर्ण उपयोग किया है। ग्रंथ में सम्पादक ने एक रुपता स्थापित करने का भरसक प्रयास किया है। पर 'पंचायती' कार्य की कमियां इसमें भी कहीं-कहीं देखने को मिलती हैं। छात्रों के बीच यह इतिहास काफी लोकप्रिय है।

हिन्दी साहित्येतिहास सम्बन्धी विवेचना में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रा के 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग– १, २, तथा डा० रामस्वरुप चतुर्वेदी के 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' ग्रंथ की भी चर्चा होनी चाहिए।

मिश्रा जी ने आचार्य शुक्ल के इतिहास की सीमाओं-संभावनाओं को दृष्टी में रखकर हिन्दी 'साहित्य के अतीत' की रचना की। इसमें उन्होंने हिन्दी की व्याप्ति, साहित्य की निरुक्ति और अतीत की अलक्षित विशेषताओं को दृष्टि में रखकर उन विवेच्य विषयों पर विचार किया है जिनके नियत रूप में मतभेद है। मिश्रा जी ने अद्यतन पोथों के आधार पर इतिहास सम्बन्धी कई भ्रांतियों का निराकरण करते हुए तत्सम्बन्धी विवादों पर तथ्यपरक निर्णायक टिप्पणियां दी हैं। इनका इतिहास ग्रंथ शृंगार काल तक ही सीमित है।

'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' का प्रथम संस्करण १९८६ ई० में निकला। इसमें हिन्दी साहित्य के साथ उसकी संवेदना के इतिहास को भी रेखांकित किया हैं। लेखक के अनुसार—"भाषा साहित्य और संस्कृति के अन्तर सम्पर्क में हिन्दी क्षेत्र और वहां के जन समुदाय की संवेदना कैसे विकसित होती गई है, और साहित्य उसे किस रुप में प्रतिफलित करता है, यह इस समूचे अध्ययन की अंतर्वस्तु है।

(आमुख)

अभी तक के इतिहासों में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विवेचन अलग से होता रहा है, और साहित्य-छाया का दिग्दर्शन अलग से। इस इतिहास में पहली बार साहित्य और संवेदना को एक साथ देखा-परखा गया।

शुक्ल जी के बाद शताधिक छात्रोपयोगी संक्षिप्त, सुबोध, समग्र तथा प्रवृत्तिपर, इतिहास ग्रंथ लिखे गए, पर उनका विवेचन करना यहां अभीप्ट नहीं है।

विभिन्न काल खण्डों, प्रवृतियों तथा विद्याओं पर भी कई अच्छे इतिहास ग्रंथ लिखे गए हैं। इन सबकी अपनी अच्छाइयां हैं और सीमाएं भी। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की प्रक्रिया निरन्तर जारी है।

महात्मा गांधी

सत्य और अहिंसा का मसीहा

Prophet of Non-Violence & Truth

मुकेश चन्द्र डिमरी
क्षेत्रीय युवा कल्याण अधिकारी
पौड़ी-गढ़वाल

आधुनिक भारतीय विचारकों में मोहनदास करमचन्द गांधी (सन् १८६९-१९४८) को अनन्य स्थान प्राप्त है। गांधी जी एक शास्त्रीय दार्शनिक नहीं थे परन्तु उन्होंने दो सद्गुणों सत्य के प्रति निष्ठा तथा प्राणिमात्र के प्रति प्रेम का परीक्षण करके एवं अपने व्यवहारिक जीवन में इसे ढाल कर अपने आप को भारत के ही नहीं अपितु विश्व के महान् चिन्तकों की पंक्ति में अपना स्थान बना लिया है।

महात्मा गांधी पर उपनिषद, गीता, रामायण और अन्य भारतीय धर्म ग्रंथों के अतिरिक्त पश्चिम के मैक्समूलर की 'India; what it can Teach us (इंडिया हाट इटकैन टीच अस) आर्नल्ड की 'Light of Asia' एनी बैसेन्ट की 'How Ibecame a Theosophest'

रस्किन की 'Unto This Last' कालाईन की 'Heroes and Hero Worship की पुस्तकों ने भी प्रभावित किया। गांधी की कृतियां हैं—'An Autobiography' 'Hindudharm' 'Discourses on the Bhagwadgita' गांधी जी के विचारों को मुख्यतः तत्व सम्बन्धी नीति सम्बन्धी एवं समाज सम्बन्धी विचारों में रखा जा सकता हैं।

गांधी जी द्वारा बताये गये उपदेशों या व्रतों को विनोबा कृत श्लोक में गूंथा गया है जो गांधी जी के सम्पूर्ण नैतिक विचारों के स्वरूप को स्पष्ट करता है।

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह, शरीर श्रमअस्वाद सर्वत्र अपवर्जन।
सर्व धर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना, ही एकादश सेवावी नम्रत्व व्रत निश्चये।

सत्य — अहिंसा

ब्रह्मचर्य | अस्वाद | अस्तेय | अपरिग्रह | अभय | शरीर श्रम | सर्वधर्म | स्वदेशी | अस्पृश्यता
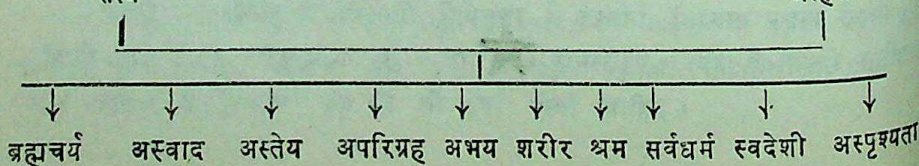
गांधी जी के अनुसार अहिंसा का मूलभूत आधार यह हैं कि यह व्यक्तिगत लाभ के अलावा समस्त विश्व को लाभ पहुंचाती है। गांधी जी के सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्तों की वर्तमान युग में सार्थकता को हम नीति दर्शन में रख सकते हैं। नीति से यहां पर अर्थ नैतिकता से है। नैतिकता का सम्बन्ध मानव जीवन से है एवं दर्शन का अर्थ गहन चिन्तन शीलता से हैं। इस प्रकार नीति दर्शन को हम आचरण का शास्त्र कहें तो गलत नहीं होगा। **Ethics is the study of Conduct** सत्य एवं अहिंसा का सम्बन्ध भी विवेकशील प्राणी के वैयक्तिक जीवन से है।

गांधी के विचार में नीतिशास्त्र या आचार दर्शन, जीवन की उसी प्रकार महत्वपूर्ण आवश्यकता है जिस प्रकार शरीर के लिये भोजन आवश्यक है। नैतिक आचरण श्रम पूर्वक कर्तव्य पालन करना है। इसे हम निष्काम कर्म भी कह सकते हैं। नीति एवं धर्म में घनिष्ठ सम्बन्ध है। नैतिकता के लिये धर्म वैसे ही है जिस प्रकार से उस बीज के लिए पानी होता है जो मिट्टी में बोया जाता है। जो लोग धर्म को नीति से भिन्न समझते हैं वह लोग धर्म के वास्तविक अर्थ को नहीं जानते हैं। भारतीय अर्थ में भी धर्म और अधर्म एवं अनीति में कोई अन्तर नहीं माना गया है।

सर्व प्रथम हम गांधी जी के सत्य के सिद्धान्त को लेते हैं। सत्य को गांधी जी ने साध्य **(Aim)** माना एवं सत्याग्रह और अहिंसा को सत्य प्राप्ति का साधन **(Means)** स्वीकार किया। सर्वप्रथम सत्य का अर्थ स्पष्ट करना उचित होगा।

सामान्य रूप से गांधी जी का तात्पर्य था कि जब हम हां या नहीं कहें तो उसका अर्थ वही होना चाहिये। अन्य शब्दों में हम वैसे प्रकट हों जैसे हैं। सत्य से अर्थ सहयोग या सामंजस्य से भी है। अर्थात हमारे विचार, शब्द और कार्य में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। असामंजस्य का दूसरा नाम असत्य है। असत्य का मूल भय है और भय का अर्थ गोपनीयता हैं। गांधी के विचार में सत्य खुलापन हैं। सत्य प्रतिक्षण परिवर्तित रूप मेंप्रगट होता हैं। इस सत्य को पहचानना और अपने जीवन में ढलना मनुष्य का कर्तव्य है। यंग इण्डिया में उन्होंने लिखा था कि सत्य और अहिंसा मेरा ईश्वर है। जब मैं अहिंसा की खोज करता हूं तो सत्य कहता है कि इसे मेरे द्वारा प्राप्त करो। पारमार्थिक

अर्थ में गांधी सत्य को सत् या ऋत (नैतिकता) या ईश्वर मानते थे ईश्वर का विरोध महान विद्वानों ने भी किया है। इसलिए वह ईश्वर को सत्य कहने की अपेक्षा सत्य को ईश्वर कहते थे। और इसी सत्य की प्राप्ति करना मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

संस्कृत में सत्य का अर्थ सत्य अर्थात जो वस्तुत: है और सत्य वचन दोनों ही हैं गांधी के मत में सत्य के प्रति आदर भाव हमारे विचार, वाणी और व्यवहार को सत्यनिष्ठ बनाता है।

गांधी जी का द्वितीय सिद्धांत अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है किसी भी प्राणी की हिंसा न करना। उपनिषद बौद्ध जैन दर्शन तथा मनुस्मृति में अहिंसा को इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। गांधी जी के विचार में हिंसा का सम्बन्ध मनसा: वाचा कर्मणा से है। अर्थात मन, वाणी एवं कर्म से भी किसी की हिंसा न करना, उसे दुख न पहुंचाना।

अपने संकर्ण अर्थ में अहिंसा का अभिप्राय अधिकतर कार्य और दैहिक हिंसा न करने से रहता है। महात्मा गांधी ने अहिंसा का व्यापक अर्थ लिया। अहिंसा के व्यापक अर्थ में मानवता के कल्याण के लिये विश्व प्रेम करूणा, सेवा और नि: स्वार्थ भाव को अपनाने की लोगों से प्रार्थना की। महात्मा गांधी ने **Young India, Aug. 11,1920** १९२० में लिखा है कि— "अहिंसा हमारी जाति का नियम है जैसे हिंसा पशुओं का" **(Non Violence is the law of our Species as Violence is the law of Brutes).**

गांधी के मत में मानव जाति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य आध्यात्मिक विकास कर रहा है और वह हिंसा से अहिंसा की ओर निरन्तर अग्रसर हो रहा है क्योंकि अहिंसा का आधार प्रेम है। सहानुभूति का व्यवहार है। अहिंसात्मक व्यक्ति के लिये राग, द्वेष, क्रोध, मोह, लोभ और घृणा आदि मन के विकार है, अधर्म है। जीवन रूपी कर्म क्षेत्र में मानब को हिंसा तथा असत्य के विरूद्ध निरन्तर संग्राम करना चाहिये।

गांधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए एन.के. बोस ने लिखा है कि— "अहिंसा एक एकात्मक शक्ति है। प्रेम और धैर्य इसकी आधार शिला है। पूर्ण सत्य और अहिंसा में कोई भेद नहीं है। फिर समझने के लिये सत्य साध्य और अहिंसा को साधन मान लिया गया है प्रेम और अहिंसा भिन्न नहीं है प्रेम का शुद्ध व्यापक रूप .....

संस्कृत विभाग

रामस्य आदर्शसाम्राज्यस्थापने सीतायास्सहयोगः

Dr. P. Jhamsi P. Kshmi B an (Summary)
Jilblemudi A.P.

प्रकृतिपुरुषयोस्संयोगः यथा लौकिकसृष्टौ अनिवार्यस्सन् सकलकार्यसाधकः तथा स्त्रीपुरुषयोस्संयोगः सांघिकजीवने सकलकार्यासाधकः। न हि तां विना सः, तेन विना सा वा सकलकार्यकरणकुशलौ भवतः। यज्ञादिष्वपि कर्मसु तयोस्सहाधिकारः एव विहितः, न स्वतन्त्रः। सांघिकजीवनेऽपि स्त्रियं विना पुरुषो न तथा सेत्स्यति। तस्य सार्वत्रिकजीवने सर्वविजयेषु च स्त्रीसहकारः नान्तरीयकः—इति सर्वानुभवसिद्धो विषयः।

प्रकृतपत्रे रामस्य आदर्शसाम्राज्यव्यवस्थापकत्वप्रतिष्ठायां सीतायास्सहयोगः महत्तरः इत्यंशः सोदाहरणं प्रस्तूयते। यद्यपि भूमिमिमां मनुप्रभृतयः मान्याश्चक्रवर्तिनः बहवः पर्यपालयन्, तथापि आदर्शसाम्राज्यव्यवस्थापकत्वप्रतिष्ठा तु रामैकसाध्याऽभूत्। रामसमकाले "रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः" तेन जगदेव राममयमभूत्किल। अद्यापि स्वार्थैकपरायणेषु प्रकृतराजेषु सैव रामकथा पुनः पुनरावृत्ता भवति। एवं भविष्यति कालेऽपि भवेत् इत्यत्रम कोपि संशयलेशः।

एवं प्रतिष्ठा सत्यधर्मपराक्रमस्य सकलजीवलोकरक्षकस्य रामस्य स्वतो व्यक्तित्वेन न लब्धा, किन्तु साम्राज्यव्यवस्थाकृते, केवलं रजकवचनादरणाय प्राणेभ्योऽपि गरीयस्याः सीतायाः शाश्वतिकपरित्यागेन लब्धा। रामेण लोकराधनकृते निरपराधं परित्यक्ता सीता नु प्रजाभिप्रायादरणाय शश्वत् राममेव न तत्याज, अपितु स्वप्राणमपि तत्याज। अत दावोक्तं लङ्कायां क्लिश्यन्त्याः सीतायाः प्रथमदर्शनसमये धीमता हनूमता—

"दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया विभुः।
धारयत्यातानो देहं न दुःखेनावसीदति ॥" इति।

तत्रैव सीतां, राज्यं च तुलयन् हनुमान् पुनरेवमपि वदति—

"राज्यं वा त्रिषु लोकेषु ? सीता वा जनकात्मजा ?
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात्कलाम् ॥" इति।

'परिग्रहीतुः अपेक्षया दाता गरीयान्' — इति सार्वत्रिकं सत्यम्। त्रैलोक्यसाम्राज्यव्यवस्थासंरक्षणार्थं स्वप्राणं तृणं मन्यमानां सकलगुणाभिरामस्य रामस्य पत्नीः जनकात्मजां संस्तुवन् सम्मुग्धहृदयः सन्मार्गदर्शी सुदीर्घदर्शी महर्षिर्वाल्मीकिः—

"कृत्स्नं रामायणं काव्यं,
सीतायाश्चरितं महत्"— इति व्याहरति।

आदर्शसाम्राज्यस्थापने सीतायास्सहयोगः

वाल्मीकिरामायणमिदं न केवलं रामस्य चरितमात्रप्रतिपादकं, सुशीलायाः सीतायाः अपि सुचरितप्रचारकम् । अस्याः पातिव्रत्यम्, आदर्शमहिलात्वं, धर्ममर्मज्ञत्वं, नैकंकष्टसहिष्णुत्वं, सर्वविधसामर्थ्यवतीत्वेऽपि नित्यं पत्यधीनत्वं, पत्याज्ञाकारिणीत्वं, नित्यं परार्थजीवितत्वम्—इत्यादयो नैके लोकोत्तरगुणाः दृश्यन्ते । लोकोत्तरगुणवतीमेनां ग्रन्थादौ प्रस्तुवन् कविरेवं वदति— "सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः"—इति । श्री रामायणस्य यथा रामचरित 'तत्परत्वं, एवं रामायाः, सीतायाः चरितप्रतिपादन-तत्परत्वमप्यस्तीत्ययमंशः "रामायाः अयनं"—रामायणं, रामश्चं रामा च रामौ, तयोरयनं रामायणं, रामायाः लक्ष्म्याः इदं रामं, रामं च तदयनं च रामायणम्"- इत्यादि व्युत्पत्तिभिः अभिव्यज्यते । रामायणस्य प्रख्यातव्याख्याता श्रीगोविन्दराजः रामायणंस्य सीताचरितैकपरत्वमेवं अवबोधयति–'इदं च रामचरितप्रतिपादनमप्राधान्येन प्राधान्येन च सीताचरितमेव प्रतिपाद्यते इत्याह – 'कृत्स्नं सीतायाश्चरितम्'- इति । कृत्स्नं रामायणं सीताचरितपरम् । अतएवोक्तं श्रीगुणरत्नकोशे 'श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणिति त्वच्चरित्रे'–इति । आभाणकश्च 'प्रातर्धूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गतः। रात्रौ चोरप्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम्"–इति । उपायपुरुषकारयोर्मध्ये उपायस्वरूपं भारते दर्शितम् । पुरुषकारस्वरूपं श्रीमद्रामायणे इति रहस्यपदवी । अत एव कृपावान-विकत्थनः इत्याद्युक्तलक्षण धीरोदात्तरूपो रामः कुशलवाभ्यां रामायणं श्रुतवान् । रामायणस्य रामैकपरत्वे स्वेनैव सदसि श्रवणं न संगच्छते, सीतापरत्वे तु संगच्छते विरहिणः कामिनीकथाचरितश्रवणस्य स्वाभाव्यात्" ? इति ।

एवं शिरोमणिटीकायामपि "सीतायाश्चरितं महत्"-इत्ययमंशः एवं व्याख्यातः- सीतायाश्चरितं सीतासम्बन्धिचरितविशिष्टं, अत एवं महत् = सर्वश्रेष्ठतम्, अत एवं कृत्स्नं सम्पूर्णम्, एवञ्जातीयकादन्यत् सर्वं न्यूनमित्यर्थः । तथा च सीताचरितवर्णन-तत्परत्वेन रामावर्णस्य चरमोत्कृष्टता सम्पादिता । वाल्मीकिरामायणस्य आत्मभूतो यः करुणो रसः वर्तते सः एतादालम्बनक एव वाल्मीकिः स्वेनानुभूतं रामचरितोत्कृष्टत्वं वाच्चतया प्रतिवादयन् व्यङ्ग्यवैभवगम्यमस्याः उदारचरितं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति । अन्ततः परिशील्यमाने तु रामायणनामकरणस्वारस्यमेवं प्रतिभाति यत्–'यथा सीतारामौ

अविभाज्यतया, सुखःदुःखयोः अद्वैतं वर्तेते, तद्वत् अनयोः रामयोः चरितमपि तयोरविभक्तं अद्वैतं बोधयत्, तच्चरितानुरूपं (अविभाज्यतया) विहितानुपूर्वि सत् तयोर्नित्यसहचरत्वं बोधयत् तुल्यप्रधानतया उभयोर्महत्वं भिन्नभिन्नढक्कोर्णैः प्रदर्शयति" इति ।

सीतारामयोरन्योन्यं अपृथग्भूतत्वं कविः द्वयोस्सन्दर्भयोः स्वतः सीतारामाभ्यामेवं ज्ञापयति—सीता आत्मानं प्रणयप्रार्थनां कुर्वन्तं रावणं तृणाय मन्यमाना स्वस्य रामतत्परत्वं निवेदयन्ती—'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा' इत्येयं वदति । रामः प्रजाभिप्रायादरेण सीतां शीलशुद्धिप्रख्यापनाय समादिश्च तथा हुताशने प्रविशन्तीं पश्यन् साक्षिमात्रतया वर्तमानः पश्चात् ख्यातिवशीलां तां प्रशंसन्—'अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा इत्येवं इति । एवमन्यत्रापि त्रिजटा सीतायाः पातिव्रत्यं प्रशंसन्ती – 'अनन्या राघवेणैषा भास्करेण प्रभा यथा–इत्येवं वदति । उपमा कालिदासस्य' इति प्रसिद्धिं गतस्य, कालिदासस्य गुरुभतोऽपि वाविदांवरो महर्षि–बाल्मिकिः प्रभाभास्क सैपभ्यं तयोर्दाम्पत्यस्याभिवर्णयन् तद्दापत्यफलं भास्करप्रभयोरहीं-योगस्येव लोककल्याणलक्षणमभिव्यनक्ति, पुनरुक्ति तद्विषये दोषतया न विगणयति ।

सुन्दरकाण्डेतस्यास्सौन्दर्यं त्रिशिष्य वर्ण्यते,' येन काण्डस्थास्य सर्वाङ्गसोदर्यं संप्राप्तम् । अत्र सीतायाः क्लेशसहिष्णुत्वं, धर्मज्ञत्वं, पतिपरायणत्वं, नीरत्वं चाभिव्यज्यन्ते ।

प्रकृतिपुरुषयोश्शिवस्त्रीपुंसोः सहयोगः नित्यः सत्यः सकलकार्यसाधकश्च इत्ययं विषयः सर्वानुभवसिद्धः । बहुभिर्भूपतिभिः परिपालिता भूमिः रामेणैव राजन्वती भूत्वा आदर्शसाम्राज्यव्यवस्थां काञ्चन सुस्थिरां सकललोकसुखदां व्यवस्थां लब्धां । सर्वलोक हितकरः नित्यं सत्यधर्मपराक्रमः रामः तां सर्वलोकअनुकरणं व्यवस्थां संस्थापयामास । रामराज्ये जनानां रोगजरामरणादि भीतिः नासीत् । सर्वो लोकः मुदित एव आसीत् । राममेवानुपश्यन्तो सर्वे सर्वधर्मपरायणाः दृश्यन्ते स्म । प्रजाश्च परस्परं नाभिहिंसन्ति, नाभिद्विषन्तिस्म, रामस्य आर्शसाम्राज्यव्यस्थापकत्वप्रतिष्ठा सीतायास्सहयोगैकलब्धा, विवाहकालात् आरभ्य सर्वदा सीता रामस्य छायेव सतधर्मचारिणी भूत्वा सिषेवे, रामस्य कृते वेठितो वनवासः सीताया नानुभवनीयः, तथापि रामनान्तरीयकहृदया

सती सीता क्लिष्टदशासु वनेषु तमतोषयत्, धीरगभीरहृदया सा "रामेण उच्यमानान् वनवासक्लेशान् न गव्ययति। रामस्य अरण्यगमनमार्गे कुश कण्टकान् मृदन्ती मार्ग" सुगमं करोति। तस्य अयोध्यपुरी संस्मरणक्लेशं परिहरति। रामं रमयन्तीं बालचन्द्राननां सीतां बाल्मीकिः—

"बालेव रमते सीता बालचन्द्रनिभानना।

रामा रामे ह्यदीनात्मा विजनेऽपि वने सती"—इत्येवं वर्णयति।

एवं तस्याः वनवासजीवितमभिवर्णितम्।

जारेण रावणेन हृता सीता स्वसौशील्यं संरक्षन्ती बहून् क्लेशान् अनुभवति। ताम् सर्वान् क्लेशान् रामैकहृदया सा अनुभवति। तस्याः राममयजीवितत्वं वर्णयन् वाल्मीकिः—

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्।

एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति॥" — इति वदति।

उपवासकृशां, दीनां, सपङ्कां, अनलङ्कारां, दुःखसन्तप्तां, परिम्लानां, तपस्विनीं, अश्रुपूर्णमुखीं, दीनां प्रियं जनमदश्यन्तीं, पश्यन्ती राक्षसीगणं, सुखार्हां दुःख सन्तप्तां तां सीतां पूर्वं चित्रादिना अज्ञातामपि हनुमान् विशिष्टैरुक्तलक्षणैः ज्ञातवान्। तां तथा पवित्रां सतीं आञ्जनेयः मनोमात्रगम्यां वाचामगोचरां वर्णयन्—

"आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव।

संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तिरे गताम्॥

प्रभां नक्षत्रराजस्य कालमेघैश्चिवावृताम्" — इत्येव अनुपमां तां मनोमात्रगम्यवस्तुभिःतुलयति।

तस्याः भर्तृवाल्लभ्यमेव प्रस्तौति—

"इयं सा यत्कृते रामः चतुर्भिः परितप्यते।

कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च।

स्त्रीप्रनष्टेति कारुण्यात् आश्रितेत्यानृशंस्यतः

पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च॥" इति।

"प्रनष्टापि सती यास्य मनसो न प्रणश्यति" इति। अन्योन्यप्रियतमयोः तयोः जीवितमेव दुर्घटमित्याशङ्क्य तयोरन्योन्यहृदयसंवादं वर्णयन् तयोः दाम्पत्यं मन्त्रसम्मितमेवं वदति—

"अस्या देव्या मनस्तस्मिन् तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्।
तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति॥" इति।

लोकाराधनतत्परः लोकाभिरामः श्रीरामः सीताकृते चतुस्समुद्रमुदितां मेदिनीं यदि परिवर्तयेत, तद्युक्तमेव मन्यमानो हनुमान्—

"यदि रामस्समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत्। ५-१५-४६
अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः॥" इति जगतः विशालस्य जनकात्मजायाः तुल्यत्वं प्रबोध्य, अन्ततः त्रैलोक्यराज्यादपि विशिष्टत्वमस्या एवं प्रतिपादयति—

"राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा?
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात्कलाम्॥" इति (वा. रामायणं ५-१६-१४)

मान् सीतायाः आभिजात्यादि गुणांश्च—"धर्मशीलस्य महात्मनो मैथिलस्य जनकस्य दुहिता, क्षेत्रे मेदिनीं भित्वोत्थिता, विक्रान्तस्यार्यशीलस्य दशरथस्य स्नुषा, धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य आर्यस्य रामस्य पत्नी, राक्षसीवशमागता भर्तुः स्नेह-पुरस्कृता पतिशुश्रूषणे रता वनेऽपि भवने इव वशं प्रीतिं भजते इत्येवं स्मृत्वा स्मृत्वा विलपति।

एतावता तस्याः केवलं कौटुम्बिकजीवने आदर्शत्वं उक्तम्, न तावता कोऽप्युपयोगो लोकस्य। तस्याः आदर्शमहिलात्व—आदर्शसाम्राज्ञीत्ववर्णनाय तु सोदाहरण प्रसङ्गः एवं दृश्यते—पिता "रामस्य सहधर्मचरी भव" श्रुत्वा धर्मिष्ठस्य रामस्य धर्मनिष्ठां स्थूणानिखननन्यायेन परीक्षितुमिच्छन्ती पुंसां कामजानी त्रीण्येव व्यसनानि—मिथ्यावाक्यं परदाराभिगमनं विना वैरं रौद्रता" इत्येव रूपाणि भवन्ति। भवानधुना तृतीयदोषेण समाविष्टो भवती। त्वं धनुः जहाहि, क्षत्रियाणां धनुः हुताशनस्य इन्धनानि च समीपतः स्थितं तेजः, एवं बलं भृशं इच्छूयते। क्व च शस्त्रं? क्व च वनं? क्व च क्षात्रं तेजः।

क्व च तप: ? अत: जानीहि शस्त्रसेवनात् ते बुद्धि: कलुषा जायते[1] - इत्येवं धर्ममुपदिशन्तीव रामस्य धर्मनिष्ठां जिज्ञासति । धर्मस्वरूपं विवेचयन्ती चैवमुपदिशति—

धर्मादर्थः प्रभवते धर्मात्प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।।[2] इति ।

"प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभ्यते सुखम् ।"[3] इति च । रामश्चास्या: विपुलतरेण धर्मोवन्यायेन तुष्ट: तदीय धर्मज्ञतां प्रस्तुवन् —"धर्मज्ञे । धर्मचारिणि: जनकात्मजे! कुलं, हितं व्यपदिशन्त्या: त्वया सदृशां वच: उक्तम्, ते रजहात, सौहार्दाच्च परितुष्टोऽस्मि, त्वं हि मे प्राणेभ्योऽपि गरीयसी"[4] इति तामभिनन्दति ।

दुर्बुद्धिना जारेण रावणेन प्रणयप्रार्थनां क्रियमाणा, रामपरायणा सा उपवासेन, ध्यानेन, शोकेन च, मदनेन च कृशा सा स्वेन शीलेन स्वयं रक्षिता वर्तते । यद्यपि सा स्वतपश्शक्त्या पतिव्रत्येन च तं रावाणं भस्मसात्कर्तुं शक्ता तथापि रामाज्ञां विना किमपि कर्तुमनिच्छन्ती सा तदीयवाक्यानि श्रुत्वापि तूष्णीमास्ते स्वशक्तिं रावणाय विज्ञापयन्ती सा—

"असन्देशातु रामस्य नतपसश्वान्तुपालयात ।
न त्वं कर्मि दशग्रीव ! भस्म भस्मर्हितेजसा ।।" —इत्येवं वदति ।

रावणनियुक्ताभि: राक्षसोभि: सामदानभेदोपायै: वशङ्गयितुं प्रयतिता सा—

भिन्ना भिन्ना नमिता प्रतिज्ञा वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता ।
रावणं नोपसिष्ठेयं किं प्रलापेन वरिवरम् ।।"[5] – इत्युक्त्वा धैर्येण तास्समादधाति ।

सुन्दरकाण्डे रावणभटैर्हनुमल्लाङ्गलनिसृष्टाग्निनां निश्शेषं लङ्कायाः दाहेऽपि नैषा दग्धा भवति । हनुमान् आदौ तां दग्धां गत्वा, पश्चात् युक्तिभिः तस्या अदाह्यत्वं एवं विभावयति—

"अथवा चारुसर्वाङ्गी रक्षिता स्वेन तेजसा ।
न नशिष्यति कल्याणी नाग्निरग्नौ प्रवर्तते ।। इति

१. वा. रा. ३.१. ३ त: २६
२. वा. रा. ३ १-३०
३. वा. रा. ३.१-३१
४. वा. रा. ३.२०-२०,२२,२२
५. वा. रा. ६.३२

१. वा. रा. पृ–२६.२२ २०
२. वा. रा. पृ-पृपृ.२३

किञ्चस्धारस्सर्वात्मना अग यदाह्यत्वं विशिष्य अग्नेर्दाहकत्वञ्चोद्दिश्य—

"तपसा सत्यवाक्येन अनन्यत्वाच्च भर्तरि ।
अपि सा निर्दहेदग्नि न तामग्निः प्रधक्ष्यति ।।" –इत्येवं समर्थयति ।

सीतायाः अदर्शमहिलात्वस्य वर्णनीयत्वेन कविरादौ तां "सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः"–इति प्रतिजानीते । सुन्दरकाण्डे सीतासौन्दर्यं पराकाष्ठभूते भुते हनुमानपि तस्याः स्थिति वर्णयन् रामं प्रति—

"निवतस्समुदाचारः भक्तिश्चास्यास्तथा त्वयि ।
एवं मया महाभाग ! दृष्टा जनकनन्दिनी ।।
इम्रेण तपसा युक्ता त्वदाक्त्या पुरुषर्षभ. !"[1] –इत्येवं तस्याः

पत्यनन्यात्वं मुख्यतया वर्णयति । सा इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव"–इति पित्राज्ञां यथोक्तमनुपालयति । रावणवधानन्तरं रामादेशानुसारं सालङ्कृता सीता स्नेहात्, प्रहर्षात्, सौम्यानना पतिदेवता पतिमुखं पश्यति । तदा रामः–अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा"[2] इति, 'तां स्वतः स्वेन तेजसा रक्षितां'–इति, 'त्रिषु लोकेषु जनकात्मजा मैथिली शुद्धा'[3] इति जानयति केवलं प्रजाभिप्रायमाहत्य—

"प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्पिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढम् ।।"
तद्गच्छह्यम्यनुज्ञाता यथेष्टं जनकाऽऽत्मजे ।
एता दशदिशो भद्रे ! कार्यमस्ति न मे त्वया ।।
कः पुमान् हि कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहृल्लेख्येन चेतसा ।।
रावणाङ्कपरिभ्रष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन् महत् ।।

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गः यथेष्टं गम्यतामितः"[4] इत्येवं तां परुषं वदति । सातु वस्तुनः शुद्धशीला, अत एव खिन्ना रामाभिप्रायमाहत्या स्वपेनशीलशुद्धि प्रकटयितुं कृतनिश्चया 'हे महाभाग ! न तथास्मि, यथा त्वं मामवगच्छसि पृथक्स्त्रीणां चरित्रेण जाति परिशङ्कसे, यद्यहं विवशा परगात्रसंस्पर्शं गतास्मि, तत्र मे कामकारो नास्ति, मदधीनं यदिदं हृदयं तत् । त्वनि गतो त्वया प्रेषितः हनुमान् लङ्कस्थां मामवलोकयत्खलु ।

१ वा. रा. ७.६ प्र. २७
२. वा. रा ६.२२१.२१
३. वा. रा. ६.२२२.२०
४. वा. रा ६-२२२.२० तः २२

मम भक्ति, शीलं सर्वते पृष्टतः कृताम्" इत्युक्तवा अग्निसाक्षिकं स्वशीलं संशुद्धिं प्रख्यापयति एवं प्रख्यापितशीला सीता, वार्ताहरेण श्रुतात् लोकापवादवाक्यात् भीतेन रामेण पुनराश्रमे वने परित्यक्तु समादिष्टा भवति, या पूर्वं कैकेयी वाक्यानुपालनाय वनं गच्छन्तं भर्तारं अरण्यमागन्तु प्रार्थिता सती, बहुधा वानवासक्लेश विशङ्कित मानसेन राक्षेण भृशं निविद्धसते निषिद्धाते। सा रामेण केवलं लोकापवाद जीतेन परित्यज्यते। परित्यागपूर्वदिवसे सीता रामेण सह विहरन्ती स्वान्तर्वर्तनीत्वं पुरस्कृत्य वनवासं सकृत्प्रार्थयति। अतश्च सा लक्ष्मणेन रामानुशासनाद्वनं नीयमाना न किञ्चिदनुचिन्तयति। वने आत्मानं जहतो लक्ष्मणस्य अस्वस्थत्वं दृष्ट्वा— "किमिदं नावगच्छामि ब्रूहि तत्वेन लक्ष्मण ! पश्यामि त्वां न च स्वस्थं अविक्षेमं महीपतेः"[1]- इति प्रष्टवा, परित्यागकारणं श्रुत्वा रामसहधर्मचारिणी सा रामाय अकुप्यन्ती प्रजापालनविषये रामस्य जागृतिं प्रबोधयन्ति—

"यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा।
परमोह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा॥
यत्तु पौरजनो राजन् धर्मेण समवाप्नुयात्।
अहन्तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ।
यथा अपवादः पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादसमुत्थितम्।

मया हि तत्परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः॥"[2] — इत्येवं धर्मिष्ठा जनकजा राजधर्मं रामं प्रत्युपदिशन्ती स्वशरीरक्लेशं सुतरां न गणयित्वा छायेव रामस्य सहधर्मचारिणी भवति। यज्ञसंविधाने रामः कुशलवाभ्यां गीतां स्वकथां रामयणाख्यां निशम्य कौतुहलपरः महामुनीन् पार्थिवन् तच्छ्रवणाय समावेशयति। तत्र शिष्याभ्यां समागत महर्षि मुखात् सीतोदन्तं श्रुत्वा कुशीलवौ स्वपुत्राविति ऋषिणोक्तो रामः

१. वा. रा. ३.२२१:६ तः २६
२. वा. रा. @ ४७.७

पुरा सुरसन्निधौ वैदेह्या: प्रत्यय: कृत:, तत्र शपथ: कृत: तेन, वेश्म प्रवेशिता। लोकापवादो बलवान्, येन मैथिली, सेयं लोभयादब्रह्मन् ! अवापेत्यभिजानता परित्यक्ता यथा सीता तद्वावन् क्षन्तुमर्हति। इमौ पुत्रौ कुशीलवौ यमजातौ मे पुत्रौ जानामि, शुद्धयां जगतो मध्ये मे तस्यां रस्तु"[1]—इति बाल्मीकि प्रत्युक्त्वा सीतायाश्शीलशुद्धि परीक्षते। तदा जानकी—

> मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समचते।
> तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति"[2]

इत्येवं वादिनी भूतलादुत्थितं विमानमधिरुह्य स्वमात्रा धरण्या परिगृहीता रसातलं प्रयाति। एवं बाल्मीकि रामायणे सीता त्रि: कृत्व: प्रजाभिप्रायरक्षणीय। रामेण परीक्ष्यते। त्रिष्वंपि सन्दर्भेषु सा राघवं आद्रियमाणैव वर्तते। आदौ अग्नौ प्रविशन्ती आत्मन: भर्तु: अतिचारशङ्कां निराचिकीर्षन्ती—

> यथा में हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
> तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वत: पातु पावक:॥
> कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्।

राघवं सर्वधर्मज्ञ तथा मां पातु पावक:॥"[3] – इत्येवमुत्वा राघवस्य प्रजाप्रीतिं वर्धयन्ती हुताशने प्रविशति। एवं लोकापवादात् वने विजने लक्ष्मणेन परित्यज्यमाना सा स्वराज्ञी धर्मोचितं धर्मनिष्ठ रामं प्रति–'यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा'-इत्येवं राजधर्ममुपदिशन्ती राघवे गौरवं प्रदर्शयति। दावं रसातलं प्रविशन्ती सा न राघवं परुषं किञ्चद्वक्ति किन्तु तस्मिन् रामे प्रवृद्धं प्रेमातिशयं प्रदर्शयन्यी—

> "मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
> तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥"—इत्येवं कथयन्ती प्रजाभि

प्रायं रात्यन्तमाद्रियते रामाय तनमनस्समर्पणपुरस्सरं आत्माऽऽर्पणं कुर्वन्ती स्वधर्मं सर्वात्मनानुसरति। रावणवधानन्तरं प्रथमत अग्निपरीक्षासमये एव सा किञ्चिदिव निष्ठुरतया–"न तथास्मि महाबाहो ! यथा त्वमवगच्छसि"–इत्येवं भाषते, ततश्च रामधर्ममर्मज्ञा द्वि: कृत्व: विजनं वनं, तथा रसातलं प्रविशन्ती न सा निष्ठुरं भाषते, प्रत्युत राजधर्मं समुपन्यस्यन्ती स्वधर्मं सदानुपालयन्ती वर्तते।

एवं सा रामपत्नी जानकी "नारीणामृत्तमा वधू: "भूत्वा "सीतायाश्चरितं महत्" इति बाल्मीकिवचनस्य यथार्थतां स्वचारित्र्येण प्रकटयति।

---

१. वा. रा. @ ४१.२३ त: २@
२. वा. रा. @ १@.३ त: ६
३. वा. रा. @. २२१.२४,२६

संस्कृतवाङ्मयस्य विकासः परिरक्षणञ्च

डा० श्री वासुदेव शास्त्री

महतः प्रमोदस्यारामवसरः यत् भारतस्य संमानिते च हरिद्वारस्थ् अस्मिन् गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालये अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलनस्थाऽवसरे समवेताः वयमद्य स्वदेशस्य स्व भाषायाः संस्कृतेश्च सम्बन्धे परस्परं विचार सम्मेलनं कुर्तुं प्रवृत्ताः। अद्यतनेऽस्मिन् समायोजने प्राचीनतमस्य भारतस्य राष्ट्रस्य मूल भूतां भाषां संस्कृतिञ्च संरक्षितुं व्यहारपदेषु भावं प्रवर्तयितुं कश्चन तादृशो मार्गोः अन्वेषणीयो वर्तते यो हि व्यवहारिक; समयानुकूलश्चः भवेत्। यथोन्तरं भौतिकविज्ञानस्य विकासेन प्रभावेण च भारतीया जीवन पाद्धेति सर्वथा विपर्यस्ता श्लयस्वभावा च समपद्यत।

अतः अस्याश्चिकित्सा पद्धिति आधुनिकैः प्रकारैः सह संवादमादधाना एव अस्यानुपकरोति—ननु स्वतन्त्रता विपरीतस्वभावा वा। इत्यंभूते व्यतिकरे भारतस्य गौरव वाहिन्याः संस्कृत भाषायाः प्रचार प्रसारोपायमवलम्व्य किमपि नूतन विधानं अवश्यकर्तव्यतया शिरस्या पतितम् इतिमत्वा प्रमादम पहाय युद्धाय कृतानिश्चयः इति भगवद्गीतोपदेशं स्मृत्वा सामयिकः जनतन्त्रानुकूलः समन्वयस्थायकस्य कश्चन प्रकार विशेषः एवं हितावहो भावितुमर्हते।

संस्कृत भाषा भारतराष्ट्रस्य भारतीया संस्कृतेश्च प्राणभूता इति सर्वेऽपि स्वीकुर्वन्ति किन्तु साम्प्रतं संस्कृतस्य प्रतिपदं वर्धमानो ह्रासः दृष्टिपथमायाति तेन सर्वेऽपि संस्कृत सेविनः चिन्तातुशः खिन्नचिन्ताश्च दृश्यन्ते परं न केवल या निष्क्रियक्रियया कश्चन लाभः संभवति, तदर्थं तु प्रतीकार एव चिन्तनीयो भवति, किं बहुना, संस्कृतस्य ह्रासे भारतराष्ट्रस्य सर्वविद्या सर्वदेशीया च मूलक्षतिरिति निष्कर्षः प्रतिफलित। इति संस्कृतस्य महत्वाख्यानेन केवलेन संस्कृतस्य समस्या नं कथञ्चिदपि समाधातुं शक्यते तदेतदास्ता नाम।

संस्कृत भाषामुद्दिश्य पुरातनं राष्ट्र व्यापकं संस्कृतस्य महत्वं वर्चस्वञ्च अस्ति। वर्तमानेऽस्मिन् काले संस्कृत भाषायाः तत् प्रतिबिंब भूतायाश्च संस्कृतेश्नुदिनं संजायमानौ ह्रासः समग्रस्यापि राष्ट्रस्य कृते गंभीरायाश्चितायाः विषयः यतोहि भारतस्य सर्वस्वं निर्विरूपेण अस्यामेव सुरक्षितं वर्तते "यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

इत्याभाणकेनापि एतस्याः व्यापकत्वं राष्ट्रस्य आत्मनः सूक्ष्मां स्थूलां आन्तरिकं बाह्यं वा अनुभूतिः कर्तुं शक्या स्पष्टतया निर्दिष्टम् ।

अतोऽत्र संस्कृत भाषायाः विषये प्रधान भूताः विचार विन्दवो विमृष्टाः पर्यालोचिताश्च सन्ति, तानेव प्रधानतया ऽवलम्ब्य संक्षिप्तां स्वारस्य बहुलां विचार सरणिं पुरस्कृत्य किंचिद् वच्मि ।

संस्कृत भाषायाः समृद्धि गौरवं दक्षिणोत्तर प्रान्तेषु व्यापकं संस्कृतिमूलकं परस्पर स्नेहबन्धनं ऐकात्म्यभावश्च समानरुपेण अनुभूयते । या हिन्दी भाषा संविधाने देशस्य राष्ट्र भाषात्वेन प्रतिष्ठापिता तत् आरभ्य राजनीति क्षेत्रे विद्वेषकरः राष्ट्र विघटन करश्च कश्चन दूषितः विचार प्रवाहः प्रादुर्भूतः । यत इतः पूर्वं वैदेशिके शासने आंग्लभाषैव प्रसासनतन्त्रे साम्राज्ञी भावमापन्ना तत्र व्याप्त प्रसरा आभिजात्यवर्गं आत्मसात् कुर्वती पदप्रतिष्ठार्थं अभिलषिता अर्थला भाय च प्रभवन्ति सर्वेषामेव आकर्षणस्थलीव समजायत । आंग्ल भाषायाः प्राधान्ये च चतुर्दिक्षु च व्यापृते सति प्रान्तीयभाषयैव सहज भावेन समपहाते । एतश्च सर्वथा स्वभाविकमेव भवति । किन्तु भारताद् बहिः समागतानां शासकपदमधिष्ठितास्त्वीयो भाषानुरागः प्रबलतमोऽभयत् । अत्रत्ययाः प्रादेशिकभाषायाः तन्मूल भूतायाः विविधतायाः विधानमकरोत् एतन्नैव इष्टयामपेक्षते—अपितु प्रत्यहं सर्व रस्माभि प्रत्यक्षी क्रियते अनुभूयते च ।

इतस्ततो अत्र । निःक्षिप्यते दृष्टिः तत्र च महाकवे भर्वभूतेरुच्यनुसारं "विपर्यस्तो जीव लोकः ।" इति सत्यापयत् सर्वमधरोत्तरं अन्यादृशामेव संवृत्तम् तत्र चेद् कारणं मृग्यते तर्हि आंग्ल भाषैव कारणम् । यस्याः आत्यान्ते केन प्रभावमहिम्ना वयं आत्मानं विस्मृत्य पथभ्रष्टाः दिशाहीनाश्च संजाताः । आचरेण व्यवहारेण वेषभूषया इंगितेन चेष्टितेन च सर्वथा वयम् भारतीयता मापन्ना-इति निर्मत्सरेण अन्तः करेण परेषां संस्कृति संसर्गेण स्व संस्कृतेः विस्मरणेन तत्र च अवज्ञा भावेन कारणान्तरेण वा यथारुचितेन कल्पनीयं भवेत्, किन्तु वस्तुस्थितिस्तु नैव प्रत्या ख्यातुं शक्या । अत समासतो विचर्येत, सम ग्रस्य राष्ट्रस्य एक सूत्राणां ऐकात्म भावना च सम्पादायेतुं संस्कृतं विहाय नान्या कापि भाषा दक्षिणोत्तरयोरभिन्नतां राष्ट्रैश्च भावनां च संवर्धयितुं समर्था । अतः यदि राष्ट्रस्य ऐकात्म्यम भीष्टं तदा संस्कृतमेव एतद् सौहार्द बन्धुत्व भावनां च प्ररोहयितुं सक्षमम्-

नान्या कापि भाषा। पर यादृशी राष्ट्र निर्माण कल्पना स्वातन्त्र्योत्तर काले महात्मगांधि-प्रभृतीनां राष्ट्र कर्म धाराणाम भिलषिता आसीत् सा व्यतीतेषु वर्षेषु नास्मा भिरुपलब्धा, किंतु सांप्रतं शासन तंत्रस्य परिवर्तनेन तत्र च अनुभ वितां राष्ट्रकर्णधाराणां नेतृत्वेन भारतस्य अभ्युदयावह चिरकांक्षितश्च एतद्देशप्रशामिक विकास: समाजस्य परिस्कार: आर्थिकस्य दैन्यस्य च निराकरणं च यदि समुचितेन देशो त्थानानु कूलेन च यथा सम्भवेत् तदा सर्वमेव पथ्यं हितकरं च स्यात् ऐतेन निर्विवादमेतद् यत् संस्कृत-साहित्ये यन्निहित नात्मत्पूर्व जै: तत् सर्व मानवमात्रस्य अभ्युदयकरं उत्कर्षा धायकं च नात्र कथंचिदापि सन्देहस्यावकाश:। तथा मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, इत्येवं विधाया: मानव संस्कृतेरुपदेशश्च संस्कृतादन्यत्र क्व दृष्ट चरम्। वस्तुत इदं आत्मनो गुण गौरवेण विश्व भाषात्वेन संमान नामर्हति। यतो हि गुणा: प्रियत्वेऽधिशता न सम्भव:। इति कवेरुक्ति: सत्यमेव विवृणोति। तस्मात् संस्कृतं यदि भारतस्य राष्ट्र-भाषा भवेत् तदा सर्वविधो विरोध: सामाजिकं वैषम्यं अन्यश्च या: बाधा: सन्ति संभवन्ति वा तानि सर्वाण्येवं स्वतो निरस्तानि भवेयु:। किंतुमद् विचारेण नायं समय: उपयुक्त: प्रति-भाति। यतो राष्ट्र मानसं आर्थिक विपन्नताकारणेन सामाजिकेन च दुरवस्थाकारणेन सर्वत: आन्दोलितं उद्वेलितं च परीक्ष्यते-इति यावत् समाजगत अर्थसम्बंधं, नैतिक कर्ममार्गानुगतं च सामञ्जस्यं नोत्पद्यते तावदस्य प्रयोगस्य सफलता संदिग्धैव प्रतिभाति।

अपरञ्चेदं विचारणामर्हति यत् संविधाने हिन्दी भाषां राष्ट्रभाषारुपेण सर्वसंमत्या उच्चैरुद्घुष्य पारितेऽपि प्रस्तावे स केवलमद्यापि एकदेशीयो वाचनिक इव प्रतीय मान: प्रचलति, ननु सार्वदेशिकी मान्यताम्। इति यद् वाचा प्रतिज्ञातं तत् कर्मणा म निर्व्यूढम्। इतिका प्रगति: स्वीक्रियते राष्ट्र भाषाया: ? ततश्चायं प्रश्न: समयायेतीति शक्त्या क्रियाकालार्थ यथास्थितस्तिष्ठतु तावत्-यदि हिन्द्यपि राष्ट्र भाषात्वेन व्यावहारिकपदं प्राप्तवान् तदा अस्माकं गन्तव्यमार्ग: सुगमोनिष्कण्टकश्च स्यात्।

किन्त्वयमपि पक्षो विचारणीय: यत् संस्कृतस्य राष्ट्र भाषत्वं तदा एव व्यवहारिकं स्यात् यदेयं सारल्यमानीयेत। अस्याश्च सरली करणं केचन प्रकाश: शक्यसंभवा लोकानुकूलाश्च संभवन्ति। परं सरलीकरणं कापि- लक्ष्मणरेखा निर्देष्टुं ना याति।

अत्र विषये प्रस्तुतः लकाराणां संकोचः सीमित भावेन च तेषां व्यवहारे कार्यनिष्पादनं न नूनं सुकरं सम्भाव्यते–एवमेव अन्य दप्येवं जानीयां सारल्यं तथा क्लिष्ट सन्धीनां दीर्घकरां समस्त पदानां तथा णिजन्तादि साधनेन निष्पन्नानां धातुप्रयोगाणां च संतातेन संस्कृतस्य काठिन्यं सर्वसाधारणो प्रयोगदृष्ट्या काठिन्यं बाधहार्मि–एवमेव कृदन्त–तद्धितादि प्रयोगा अपि–विविधाकाराणां धारयन्तः असौविध्यं किं चिद् जनयन्त्येव तथा च संस्कृतस्य सरली करणं व्यवहार-दृष्टया स्वल्पमात्रयैव संभाव नाम धिरोहित–अथापि निष्कर्ष रुपेण यदि व्याकरण-संवधिनी–दुरुहा प्रक्रिया क्वाचित् प्रयोगमर्यादया क्वचिच्च्च केषाञ्चन प्रयोगाणां परवर्तनेन कमपि मानदण्डं निश्चित्य सरलतां नेतुं शक्यत एव। यदि समीक्ष्यते किंतु वस्तुस्थितिः तदा अत्र पक्षान्तरमपि न निरोद्धुं शक्यते महान् हि शब्दस्य प्रयोग विषयः। स च सर्वोऽपि शास्त्रेषु समादृतो वर्तते-तत्र स्वेच्छाया चारां नैव कर्तुं शक्यये यतः शास्त्रीयं तत्वं तु समग्ररुपेणैव तदाऽएव स्फुटी भविस्यति सदा तद् आमूल चूलं अध्ययन विषयोभूतं भवेत् अतः व्यवहारं भाषारुपेण साहित्य भाषा रुपेणैव चा स्याम् संस्कृतवाचः विभाजनं पार्थक्यं च आवश्यकं प्रति भाति अतो अत्र विषये विचारकैं कोपि मध्यमो मार्गः अगत्या गवेषणीयो भवति।

अन्ये च ये प्रश्नाः संस्कृत सम्बन्धे उद्भवन्ति तेषां निराकरणं नैव कठिनं मन्ये। संस्कृत भाषा तावत् सर्वथा वैज्ञानिकी समृद्धा चिराय च व्यवहार भूमिमागता सुपरिक्षिता च वर्तते–इति तस्यां विज्ञान-विषयाणां समावेशो विवेचनश्च सर्वथा सम्भवत्येव तत्र उदार भावैरष्मा भिर्भ वितव्यम्। नवन बोन्येषाणां वैज्ञानिकानां पारिभाषिक शब्दानां तथा देशभाषाया व्यवहार प्रसिद्धानां च शब्दा नामदानं तेषां मूलरुपेणैव कर्त्तव्यम्। नो चेत् स्वयं तेन डा० रघुवीर महोदयेन यादृशीं नवीन शब्दांग्राहिणी शब्दावली कोषरुपेण निबद्ध-सा मघघामूल-बिडौजा टीकेति वत् उपाहासाय शिरस्तोदाय च सर्वेषां भवति–इति तत्र दुराग्रहो नैव समुचितः यतः समन्वयमन्तरा संस्कृतस्य सरलीकरणं दुरापास्तं भविष्यति।

अथ च अस्माभिः विशेषतश्च संस्कृत क्षेत्रे कार्यरतैः आत्मलोचनं कुर्वद्भिः संस्कृतस्य लोकप्रियत्वं साधयितुं प्रभविस्य यः। अतः एतद् विषयको विचारः अपि व्यापकदृष्ट्वा कर्त्तव्यः येन वद्य संभाविताः बाधाः दूरी कृताः स्यु अत्रशिष्यते च

प्राक्तनस्य विद्या प्रौढैः संरक्षणं तन्तु प्राक्तनैव शिक्षा मार्गेण संभवतियत: प्रौढि संम्पादनार्थं गुरुशिष्यभावस्य संवर्धनं यावन्न क्रियेमत तत् प्रौढि: कथं कुतश्चाधिगम्यते? इत्येष पक्षः कालप्रवाहेण दुर्बल: सन् यथा कथंचित् विफलतां प्राप्तोऽपि जीवत्येव इति सामान्य प्रचारे व्यवहारतः सफले प्रौढ़िरिव कालक्रमेण परिपोषिता भविष्यति इति नात्र सन्देहो विधेय: । प्रचार एव परिष्कारस्य प्रौढेश्च जनक: इति साम्प्रतिके परिवेशे नायमपि-कश्चिन्ता विषय: । एकैव अत्र सन्दर्भे महती बाधा याहि तावत् अर्थ सम्बन्धिनी सा तावत् संस्कृत-शालाषु छात्राणाम भाव:, संस्कृतमध्ययनाद रुचि: जीविका लाभे बहुविधानि संकटानि दूरीकन्तुं शक्यानि । अत: समान पदेयु समान वेतनं प्रतिष्ठा लाभा देवञ्च यथायथं यदि सर्वकारः स्वीकरोति तदा बहूनां प्रश्नानां समाधानं स्वतः स्फूर्त: संजायते समस्याश्च स्वतः पराजिताः भवेयु: । अतो निस्कर्षरुपेण अयमत्र संक्षेप: यत् संस्कृतज्ञैः सर्वतः प्रयत्नं संघटितै र्भवितव्यम्– अन्योन्यं अन्योन्यस्य सहाकारेण विचार–विमर्शेण समये-समये संस्कृत सम्मेलनानां विचार-गोष्ठीनामायोजनेन सह एषु विषयेषु सामूहिकं चिन्तनं विधाय समाजात्य राष्ट्रस्य आत्मनश्च हिताय शिवाय च संघशक्ता कार्य क्षेत्रे अवतीर्य संस्कृत भाषाया: न केवलं भारतभागे प्रत्युत विश्वस्मिन्नपि संस्कृतस्य जय घोष: संचारतामित्येदर्थं प्रमादमालस्यं च विहाय कर्तव्योन्मुखै भवित्तव्यमित्ताम् ।

"जयतु संस्कृतम् जयतु भारतम्"

शाकुन्तलम् में आशीर्वचन

डा० प्रमोद चन्द्र झा
रीडर, अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत विभाग
जे० जे० कॉलेज, आरा, बिहार

विश्व-साहित्य के समग्र रूपकों में महाकवि कालिदास प्रणीत 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' सर्वश्रेष्ठ है, जो नाटकीयता की दृष्टि से भरपूर होते हुए समग्र नाटकों को आदर्श नाटकीयता का समुचित उपदेश प्रदान करता है। निश्चय ही स्वर्गिक या भौतिक आनन्द का स्थल है शाकुन्तलम् जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है जर्मन विद्वान् गेटे ने—

एकीभूतमभूतपूर्वंथवा स्वर्लोकभूलोकयोः।
ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

शाकुन्तल वह नाटक है जिसमें मानवी पात्रों का आकलन तो है ही, साथ ही देवी पात्रों का भी यहां सुशोभन सन्निवेश हुआ है। यद्यपि नारी सहज सौन्दर्य तपोवन का अभिराम स्वरुप प्रकृतिस्थ पशु-पक्षियों का मनोरम चित्रण यहां वर्णित हुआ है, फिर भी विशेषतः विवेचनीय वस्तुओं का भी यहां पर्याप्त साधन है जिसकी सम्पूर्णता का प्रतिपादन सामान्य बुद्धि से सर्वथा परे है। यों तो शाकुन्तलम् की प्रशंसा में आलोचकों ने सूक्तियों का जाल सा बिछा दिया है तथा एक स्वर से यह मान लिया है कि 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्'।

शाकुन्तल में वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, वैवाहिक-व्यवस्था, तपोवन स्वरुप, स्त्रियों की स्थिति, संतान की उपयोगिता, अतिथि का महत्व, धार्मिक दशा, यज्ञों की परम्परा, पुनर्जन्म, तीर्थ, पुरुषार्थ चतुष्टय, राजव्यवस्था, अन्ध विश्वास, दण्डव्यवस्था, राष्ट्रमहत्व, शिक्षा एवं व्यापार-व्यवस्था का ऐकत्र अध्ययन किया जा सकता है। वहीं इन सारी व्यवस्थाओं का आशीर्वादात्मक स्वरुप किसी न किसी रुप में प्रदर्शित हुआ है। निश्चय ही भारतीय परम्परा में छोटे अपने बड़ों से आशीर्वाद प्राप्त किया करते हैं। आशीर्वाद मानसिक, वाचिक एवं सांकल्पिक होता है। निश्चय ही आशीर्वाद देने वाला आशीर्वाद के माध्यम से अपनी शक्ति, सामर्थ्य, वैदुष्य एवं तेज का स्वल्पांश प्रदान कर देता है। आशीर्वाद देने या लेने के लिए उम्र से बड़ा

या छोटा होना ही निश्चित नहीं अपितु एक छोटी आयु वाला तपस्वी, साधु, ब्रह्मचारी या ब्राह्मण भी अपने से बड़े उम्र वाले लोगों को भी आशीर्वाद प्रदान किया करते हैं। वैयक्तिक आशीर्वाद के साथ-साथ सामूहिक आशीर्वाद की परम्परा भी सर्वथा प्राचीन है। आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतांम् आदि वैदिक सूक्त भी यह बतलाते हैं कि आशीर्वाद सर्वथा वेदोपयुक्त है।

आशीर्वाद का प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है जैसे आशीः, प्रसाद, अनुग्रह, कृपा, व्रत, संकल्प, संदेश आदि के रुप में प्रयुक्त होते हैं। आशीर्वाद का प्रसार अर्थ में प्रयोग तथा आशीर्वाद के लिए सर्वथा उपयुक्त वर्ण-विशेष का उल्लेख हम मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की निम्नोक्ति में देखते हैं कि—

विप्रप्रसादात् धरणीधरोऽहं विप्रप्रसादान् कमलावरोहम्।
विप्रप्रसादादजिताजितोऽहं विप्रप्रसादात् मम नाम राम॥

विवेच्य शाकुन्तलम् में आशीर्वचन वस्तुतः इसकी कथावस्तु को एकसूत्रता में सुनिबद्ध किये हुये है जिसे हम नाटक के पूर्वाह्न मध्याह्न तथा अपराह्न में परिव्याप्त पाते हैं। आशीर्वचन का ही प्रभावपूर्ण वैशिष्ट्य है जिसके कारण अभिशप्ता शकुन्तला का अपने पति दुष्यन्त से पुनर्मिलन सम्भव हो पाया है। निश्चय ही आशीर्वचन नाटक को गतिशील बनाने में अपूर्व सहयोग प्रदान करता है।

नाटक के सर्वप्रथम श्लोक जिसे मङ्गलश्लोक कहा जाता है— में ही आशीर्वचन का प्रथम उदाहरण परिलक्षित होता है जहां कविकुलगुरु अपने शाकुन्तल नाटक के दर्शक सामाजिकों को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि जल आदि आठ संख्या वाली सर्वथा पुरोदृश्यमान् मूर्तियों से युक्त परमेश्वर शङ्कर आप लोगों की रक्षा करें—

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

दुष्यन्त-सारथि मृग एवं राजा को देखते हुए कहता है कि—आयुष्मन्।

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्॥

यहां भरतमुनि के वचनानुसार 'आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा'— सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। दुष्यन्त में पिनाकी शङ्कर का अवलोकन वस्तुतः सारथी के आशीर्वचन का ही प्रतिरुप है। गहन कानन की ओर आखेट के लिए निकले हुए राजर्षि दुष्यन्त की दृष्टि में जैसे ही कृष्णसार मृग पड़ता है तथा अपने प्राणहन्ता को देखकर कृष्णसार अथक अनवरत भागते हुए तपोवन की ओर निकल आता है एवं आश्रम-मृग को पहचानकर वैखानस हाथ उठाकर राजा से कहते हैं कि राजन्! आश्रम मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः, और अपने बाण को वापस लेते हुए राजा को देखकर वैखानस उसे आशीर्वाद देते हुए कहते है कि—

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्त रुपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥

यहां एक मृग की प्राणरक्षा के लिए चक्रवर्ती पुत्र—प्राप्ति रूप अमोघ आशीर्वाद देना दुष्यन्त के लिए महान् वरदान के रुप में सिद्ध हुआ है तथा मुनियों की पशु प्रेम भी इससे सूचित होता है।

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यकाहि नः॥

यहां राजा का यह कहना कि चतुर्वर्णों से प्राप्त धन सर्वथा नश्वर होते हैं तथा तपस्वीजन अपनी तपस्या का अनश्वर छठा भाग हमें प्रदान करते है वस्तुतः आरण्यकों से दिया जाने वाला तपोरुप धन का माध्यम आशीर्वचन ही हैं। राजा को याज्ञिक सुरक्षा का भार प्रदान करने के लिए तथा दो-तीन रात आश्रम में ठहरने के लिए निमन्त्रित करते हुए ऋषियों के द्वारा यह कहा जाना कि—विजयस्व राजन्!—आशीर्वचन का ही प्रतीक है तथा राजा के द्वारा इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लेने पर उसके महान् वंश की गाथा का गान, दोनों ऋषि आशीर्वादात्मक शैली में करते हुए कहते है कि—

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरुपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्त्वेषु दीक्षिता खलु पौरवाः॥

अपनी माता के सन्देश में भी दुष्यन्त को आशीर्वादात्मक फल प्राप्त होता है, जैसा कि महाकवि की इन पंक्तियों में परिलक्षित हुआ है— 'आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो में उपवासो भविष्यति, तत्र दीर्घायुषावश्यं सम्भावनीयेति ।"

अनुसूया के द्वारा दुष्यन्त को यह कहे जाने पर कि राजन् ! राजाओं को वहुत सी प्रियतमाएं हुआ करती है अतः आप वह व्यवहार करें कि हमारी सखी (शकुन्तला) के लिए बन्धुजन शोक न करें । यहां शकुन्तला को अपनी दो प्रतिष्ठाओं में एक मानना दुष्यन्त का शकुन्तला विषयक आशीर्वचन ही है—

परिग्रह बहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य में ।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ।।

वियोगिनी शकुन्तला दुर्वासा के तारस्वर 'अयमहं भोः' को नहीं सुन पाती तथा क्रुद्ध दुर्वासा उसे शाप देते हैं कि जिसके स्मरण में लीन होती हुई तुम मुझ महर्षि के आगमन को नहीं जान पा रही हो वह तुम्हें निश्चयेन भूल जायेगा । प्रियंवदा ऋषि को प्रसन्न करती हुई कहती हैं कि 'भगवान् ! प्रथम इति प्रेक्ष्या विज्ञात तपः प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवते कोऽपराधो मर्षयितव्य इति' और उसकी इस क्षमा याचना पर प्रसन्न होकर ऋषि का यह कहना कि 'ततो मे वचनमन्यथा भवितुं नार्हति किन्तु अभिज्ञामाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति' ऋषि का यह अनुग्रह भी आशीर्वचनात्मक प्रतीत होता है । महर्षि कण्व को शरीर रहित छन्दोमयी वाणी के द्वारा शकुन्तला-विषयक ज्ञान कराना भी आशीर्वादात्मक उक्ति ही मानी जायेगी—

अवेहि तनयां ब्रह्मन् अग्निगर्भान् शमीमिव ।

शकुन्तला आज पतिगृह जायेगी यह जानकर तपस्विनियां उसे आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

प्रथमा—जाते ! भर्तुर्बहुमान सूचकं महादेवी शब्दं लभस्व' ।
द्वितीया—वत्से ! वीर प्रसविनी भव' ।
तृतीया—'वत्से ! भर्तुर्बहुमता भव' ।

वन देवताओं ने भी शकुन्तला की विदाई जानकर आशीर्वाद के रुप में अनेक वस्तुओं को प्रदान किया। किसी ने मङ्गल कार्य के योग्य रेश्मी वस्त्र, किसी ने लाक्षारस, किसी ने आभूषण प्रदान किये। आर्शीर्वचन का सर्वोत्तम स्वरुप महर्षि काश्यप के निम्न शब्दों में प्राप्त होते हैं जहां वह उसे चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करने का आशीर्वाद देते हैं—

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरुमवाप्नुहि॥

शकुन्तला को विदारुप आशीर्वाद के सभी वृक्ष कोकिलरव के माध्यम से देते हैं तथा आकाशवाणी के माध्यम से उसकी विदाई मङ्गलमय हो इसकी कामना भी आशीर्वचन का ही प्रतीक है --

भूयात् कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्या
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥

आशीर्वचन का संकल्पात्मक रुप काश्यप की निम्नोक्ति में प्राप्त होता है—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्त्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।

संदेशात्मक आशीर्वचन देते हुए भगवान् काश्यप दुष्यन्त के प्रति कहते हैं कि संयमरुपी धनवाले हमलोगों का अपने उच्च कुल का तथा बन्धुरहित शकुन्तला के प्रति स्वाभाविक प्रेम-व्यापार का विचार कर तुम इसे गौरव के साथ देखना तथा इसके आगे तो इसके भाग्य के अधीन है—

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चै कुलं चात्मनः अपने पिता कण्व से शकुन्तला का यह प्रश्न कि 'तात! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये" के उत्तर में कण्व का उपदेशात्मक आशीर्वचन प्रस्तुत श्लोक में परिलक्षित होता है—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्ता तदर्पित कुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ।।

तथा अन्तिम रुप से विदा लेती हुई शकुन्तला को कण्व आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि — 'गच्छ । शिवास्ते पन्थानः सन्तु ।'

राजभवन में प्रविष्ट होती हुई शकुन्तला की दाहिनी आंख फड़क उठती है जिसके शान्त्यर्थ गौतमी की उक्ति मङ्गलात्मक आशीर्वचन का प्रतीक है—'जाते! प्रतिहतममङ्गलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु ।' शाङ्गरव आदि का अभिवादन करने पर वे ऋषिगण 'इष्टेन युजष्व' कहकर कामनात्मक आशीर्वचन प्रदान करते हैं। अस्वीकृता शकुन्तला को सन्तानोत्पत्तिपर्यन्त अपने यहां रखने का आदर्श पुरोहित के द्वारा देना शकुन्तला के प्रति अनुग्रहात्मक आशीर्वचन का प्रतीक है। सार्थवाह नामक व्यापारी के निधन पर सन्ततिरहित उसके एवं समस्त प्रजाजनों के प्रति दुष्यन्त की यह उद्घोषणा—

येन येन बियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ।।

निश्चयेन सहानुभूति पटक आशीर्वचन माना जा सकता है। कालनेमि सन्तति दुर्जय नामक दानवगण के विनाश हेतु मातलि का दुष्यन्त के प्रति यह कहना कि वह दानव समूह वस्तुतः तुम्हारे मित्र इन्द्र द्वारा नहीं जीता जा सकता, समरभूमि में आप ही उसे मार सकते हैं—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्यः
तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।

में भी दुष्यन्त शौर्य्य का मातलि के द्वारा गुणगान में भी आशीर्वचन की झलक देखने की मिलती है।

महर्षि मारीच के द्वारा दुष्यन्त को देखकर अपनी पत्नी दाक्षायिनी से यह कहना कि दुष्यन्त के पन्दष के सामने तीक्ष्णधार वाला वज्र इन्द्र का आभूषण मात्र रह गया है -

चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्मजातं
तत्कोटिमत्कुलिशमामरणं मघोन: ।।—

परोक्षप्रदत्त आर्शीर्वचन कहा जा सकता है। दुष्यन्त के द्वारा महर्षि मारीच को प्रणाम करने पर ऋषि-दम्पति उसे आशीर्वाद देते हैं—

'मारीचः— वत्स ! चिरं जीव्। पृथिवीं पालय।
अदितिः – वत्स ! अप्रतिरथा भव। और प्रणामार्थ पादपतिता ।।

शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुए महर्षि मारीच कहते हैं कि तेरा पति इन्द्र के सदृश है तथा पुत्र जयन्त के सदृश हैं तुम इन्द्राणी के समान होना—

आखण्डलसमो भर्त्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्यः पौलोमी सदृशी भव ।।

वहीं अदिति भी शकुन्तला को आशीर्वाद देती हुई कहतीं हैं कि 'जाते ! भर्त्तर्वहुमता भव।' अयं च दीर्घायुः वत्सकं उभयकुलनन्दनो भवतु'। दुष्यन्त, शकुन्तला एवं सर्वदमन को एकत्र आशीर्वचन प्रदान करते हुए तीनों को महर्षि श्रद्धा, धन एवं विधि की संज्ञा देते हैं।—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ।।

महर्षि मारीच के द्वारा दुष्यन्त से यह कहे जाने पर कि 'वत्सः ! किं ते भूयः प्रियमुपकरो मि ?' यह सुनकर दुष्यन्त उनसे उनके आर्शीर्वाद के रुप में यह मांगता है कि—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतीं महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।।

वस्तुतः अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रारम्भ से लेकर अवसानपर्यन्त आशीर्वचन की विविध वाणियाँ यह प्रतिष्ठित करती हैं कि सम्पूर्ण शाकुन्तला आशीर्वचन की श्रृङ्खला में सुनिबद्ध है और ये आशीर्वचन ही नाटक की कथावस्तु को निरन्तर गतिशीलता प्रदान करते हैं। निःसन्देह कवि कुल गुरु कालिदास आध्यात्मिक जगत् महान् परिपोषक हैं तथा वे जानते हैं कि आशीर्वचन में वह शक्ति सन्नहित है तृण को भी वज्र बना सकती है।

भर्तृहरिनिरूपिता भारतीया जीवनकला

शोधपत्रलेखकः–डॉ. ई. वें सत्यनारायणमूर्ति
संस्कृतोपन्यासकः मातृश्री संस्कृतकलाशाला जिल्लेल्लमूडि
ग्रामः बापटक मण्डलीलः आन्ध्रप्रदेशराष्ट्रम् पिन्–५२२११३

संस्कृत सारस्वत पयःपारावारे कविचन्द्रो भर्तृहरि विशिष्टं विलक्षणञ्च स्थान माक्रमति। नीति-शृङ्गार-वैराग्यशतकरचनया अयं न केवलं स्वकवितावैभवं, अपि तु भारतीयानामादर्शभूतां जीवनकलां, स्वीयं पाण्डित्यं, तत्त्ववेत्तृता, पुरुषार्थप्रवणताञ्च कान्तासम्मितयां, सरण्या प्रकटय्य कविपण्डितलोकस्यादरपात्र मभवत्। शोधपत्रेऽस्मिन् भर्तृहरिणा स्वीये नीतिशतके निरुपिता आदर्शभूता भारतीया जीवनकला कीदृशीति परिशील्यते।

कविरयं परब्रह्म विचारतत्परः ज्ञानमार्गानुयायी, तत्त्वमीमांसाचतुरः, पुरुषार्थ–प्रवणश्च संलक्ष्यते। अत दावायमादावेव नीतिशतके दिक्कालाद्यनवच्छिन्न चिन्मात्र–स्वरुपं स्वानुभूत्येकमानं प्रशान्तं तेज ब्रह्मारव्य मुपासितवान्। अस्य दर्शने मौर्ख्य–दौर्जन्य-केवलर्थपरता निर्दया स्त्याज्याश्च। पाण्डित्य-मान-शौर्य-सौजन्य यदृच्छालाभ सन्तुष्टि-परोपकार-धैर्यादय गुणा स्सादर मुपसेव्याः दुर्गुणापगमे गुणगणोपार्जने च साधितेऽपि दैवानुग्रहाभावे मानव स्सुखं श्रेयश्च न विन्दतीति भर्तृहरेर्मनीषा। अपिचायं सत्कर्माचरणं दैवस्यापि नियामकं मनुते। अतो-दोषहान-गुणोपादान-दैवानुग्रहा मानवै स्साध्याः। सर्वमाध्यसाधके सत्कर्मणि नैव प्रमादो विधेय-इत्ययं भर्तृहरे र्नीतिशतकसारः। इयमेव भारतीया जीवनकला च। एवं नीतिशतक द्वारेण भर्तृहरिणा धर्म स्तत्सम्बध्दो अर्थश्च सेव्य इति धर्मार्थयोः पुरुषार्थयो रुपदेश स्साधु सम्पादितः। सिद्धान्तस्यास्य प्रतिपादने कविना हृद्याप्यनवद्या, शास्त्रसम्मतापि सरसा प्रणाली रचिता, या सहृदयानानन्दरसमग्नान्वितनोति। भारतीयां जीवनकलाचातुरीं च पुरःस्थापयति। तत्तामेव धुना परिशीलयामः।

सर्वोऽपि जनो दुःखसंस्पर्शविद्वेषी सुखास्वादनसादरश्च प्रतीयते। परं दुःखहाने सुखसंस्पादने चानुसरणीया कला पद्धतिर्वा सर्वै र्न ज्ञायते। केचिद जानन्तोपि ज्ञातुं न समीहन्ते। उपदिष्टा अपि न केवलं विप्रतीया भवन्ति, अपि तूपदेशकानपि खलीकुर्न्ति। अतएवोपदेशका उपदेश्याश्च विरला दृश्यते। तदुक्त भर्तृहरिणा—

> "बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
> अबोधोपहता श्चान्ये जीर्ण मङ्गे सुभाषितम्॥"[2] इति।

---

१. नीतिशतके मङ्गल श्लोकः। २. तत्रैव श्लो-१

अनेन च निर्मत्सरा स्स्मयविदूरा बोधशालिन एवोपदेशाधिकारिण इति स्पष्टं प्रतिपादितम् ।

श्रेयसि कृतमतिना जनेन मूर्खसंसर्गः प्रथमं त्याज्यः । ते हि न केवलं स्वयं नश्यन्ति, परं दृग्गोचरान् स्मरतोऽपि नाशयन्ति । मूर्खसंसर्गत्यागावहितेन जनेन युक्तायुक्तवैचक्षण्यायानवद्या विद्या साधनीया । ययाउत्तरङ्गं विनिर्मलं सत् श्रेयसि गाढ मनुरक्तं भवति, समाजे मान्यता च साधिता भवति । विदुषा पुनश्र्यंसम्पिपाद-यिषयाऽन्यस्माद्वा हेतुना निरभिमानेन शौर्यहीनेन न भाव्यम् । मानशौर्ययोश्भावे विदुषोऽपि जनस्य पराभवपरम्पराऽनिवार्या स्यात् । एवं मानशौर्ययो स्स्वीकारेऽपि जनोऽर्थाभावे व्यर्थो लक्ष्यते । अतोऽर्थसञ्जयः कर्तव्य एवा । परं तत्राऽप्रमन्तताऽऽवश्यकी । यतो लोके जनाः-सर्वेगुणाः काञ्चन माश्रेयन्ति-इतिधिया धर्ममार्ग मविचार्य जाति-कुल-शीलादीन्विनिपात्याऽर्थैकतत्परा इहपरभ्रष्टश्च दृश्यन्ते । अतः कार्याकार्यौ विचार्य धर्ममार्गेणार्या स्सञ्चयाः, यदृच्छालाभ सन्तुष्टिश्च सम्पाद्या । एव मप्यकारणवैरिणां परापक बद्ध-दीक्षाणां दुर्जनानां संसर्ग स्तत्कर्तृका पीडा चानिवार्या दरीदृश्यते । सौजन्याङ्गीकारादन्या प्रतिक्रिया न तत्रोपलभ्यते । न कदापि दौर्जन्यस्य दौर्जन्येनोपशन्ति स्सञ्जच्छाते । अतः प्रियभाषिता-न्याय्य-त्यागादय स्सद्गुणा स्संसेव्याः । सौजन्यस्वीकारेण यद्यपि लौकिकी यात्रा साफलय मश्नुते तथापि परत्र शर्मणे परोपकारपरता स्वीकार्या । तदुक्तं भगवता व्यासेन—

"श्लोकार्धेनं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥" इति ।

परं परोपकारपरताऽङ्गीकारे वित्तहानिः, कष्टपरम्परा प्राणव्ययश्चापि कदाचि-दापतेत् । तदनर्थपरम्परासहनाय धैर्यादन्य उपायो न दृश्यते । धीरस्य हि जनस्य कष्टपरम्परा दूरमेति, तत्सहिष्णुता वा समागच्छति । एवमपि कदाचिद्विधिवशात् अनर्थसम्पातस्याऽवकाशोऽस्त्येव, परं नास्ति तत्र पुरुषलोपः । विचारणे क्रियमाणे नियतेरपि तत्तत्सुखदु खनियमने पूर्वसञ्चितं कर्मैव प्रवर्तक मुपलक्ष्यते । अत स्सर्वेषां सर्वसाधक मिहपर-भोगनिमित्तं सत्कर्म संसेव्यं बुधेन श्रेयःकांक्षिणा । सर्व मेतत् मनसि निधाय शास्त्रकारि भर्तृहरि स्स्वीयं नीतिशतकं, मूर्ख-विद्वद् मानशौर्य-अर्थ-दुर्जन-सुजन-परोपकार-धैर्य-दैव-कर्म पद्धतिभिः विभज्य ज्ञातव्यं वस्तु सक्रमं सयुक्तिकञ्च प्रत्यपादयत् ।

श्रेयसि केन तृप्यते ? मूर्खपद्धत्यादि विज्ञानऽभावे कथं दोषहानं गुणोपादानञ्च कर्तुं शक्यते । कथं वा इहपरयो श्श्रेय स्साध्यं भवेत् ? कथङ्कारं भारतीया जीवनकला विज्ञातुं शक्यते ? तदत्र भर्तृहरिणा तत्तत्पदार्थस्वरूपं कथङ्कारं निरूपित मिति परिशीलयामः ।

मूर्खपद्धतिः— ज्ञानलवदुर्विग्धता-स्मयः-अविवेचकता-लज्जाराहित्यं-अप्रतिकार्यता चेति मौर्ख्यसारः । वस्तुतः पण्डित-समाजे मूर्खाणां मौनमेवालङ्क्रिया । परं मूर्खो मौनं नाश्रयति, न वा उपदेश माद्रियते । तादृशो मूर्खः कथं संस्कार्यः ? वा सन्मार्गेऽव-स्थाप्यः ? इति प्रश्ने अप्रतिकार्य इत्येव युक्ता समाधिः । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

"शक्यो वारयितुं जलेन हुत भुक्छात्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गौ र्गर्दभः ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधै र्मन्त्रैः प्रयोगैर्विषम्
सर्वस्यौषध मस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ।।"[1]

मूर्खजनचित्त समाराधनापेक्षया सिकतासु तैलसम्पादनं, मृगतृष्णिकया पिपासो-पशामनं, शशविषाणसम्पादनं, मकरदंष्ट्रान्तरमणिस्वीकरणं, भुजाभ्यां समुद्रसन्तरणं, कुपित भुजङ्गमस्य शिरसि स्थापनं च सुकरमिति भर्तृहरेस्सिद्धान्तः । एवमपि सुधास्यन्दिभि स्सूक्तै र्यो मूर्खान् बालत्प्रतिनेतु मिच्छति, स बालमृणालतन्तुभि र्मतङ्गजं बध्दुमीहते, शिरीषकुसुमप्रान्तेन वज्रमणिं भेत्तुं सन्नह्यति, मधुबिन्दुना क्षाराम्बुवे र्माधुर्यं साधयितु मिच्छतीति वक्तव्यम् । अतो न कदापि मूर्खजना-राधनक्लेश स्स्वीकार्यः । किन्तु मूर्खजनसंसर्गो युक्त्या प्रयत्नैश्च परिहार्यः । मूर्खजनसंसर्ग मुक्ति श्श्रेयोदायिनी जीवनकला[2] ।

विद्वत्पद्धतिः– शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः, शिष्यप्रदेयाऽऽगमाः, अधिगतपरमार्थाः, नयविनयादिसद्गुण भूषिताः, विद्याऽलङ्काराः जनाः विद्वच्छब्दवाच्याः भवन्ति । विद्याख्य मन्तर्धनं न चोरहार्यं, न च कालनाश्य मपि तु व्यये कृतेऽपि नित्यं वर्धते । हारकुसुम-केयूराद्यलङ्कारापेक्षया विद्यासम्पादितं वाग्भूषण मक्षरं भवति । विद्यैव नरस्य रूप-भोग-यशस्-सुखसम्पादिका बान्धव-देवता-गुर्वनुग्रहप्रसादिनी राजपूज्यता-विधायिनी च दृश्यते । मरालवद्विवेचनशीलया साधनीभूतया विद्यया दया-दाक्षिण्य-

१. नीतिशतके-श्लो—१० ; २. तत्रैव. श्लो १-१०,

नय-शौर्य-आर्जव-क्षमादय स्सद्गुणा स्सम्पादनीयाः। धीजाड्या-पहार-सत्यपालन-मानोन्नति-पापाऽपाकरण-चेतोनैर्मलयादूर्याजि-जीषया तुलयै स्सद्भि स्सङ्गति स्संपाद्या। दाताद्दशा अपि विद्वांसो यत्र स्थले दारिद्र्य मनु भवन्ति, तन्न विदुषां दोषः, परं तत्रत्यानां धनिनां दूषणम्। कुपितोऽपि विधाता विदुषां वैदग्ध्य मपाकर्तु न शक्नोति। निर्धना अपि रससिद्धाः कवयोऽधिगतपरमार्थाः पण्डिताश्च लोकस्य बहुमता भवन्ति। तै स्सह विरोधो यस्य कस्यापि विनाश मेवोपजनयति। अतोऽनवद्या विद्या सद्गुणाश्च साधनीयाः[1]।

मानशौर्यपद्धतिः— सदुपाध्यायो भर्तृहरि रत्र विभागे विदुषा समाश्रयणीयां जीवनशैलीं सविशदं प्रतिपादितवान्। मानवः प्रकृते र्बहून् विज्ञानमयान् विषयान् समधि गतवान्। मानशौर्ययो रपि विषये सिंह-कुसुमस्तवक-सागर-सूर्यकान्तमणिभ्यो बहु ज्ञातुं प्रभवति। तथाहि सिंह स्तावत् क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि कष्टां दशा मापन्नोऽपि, विपन्नदीधितिरपि, प्राणेषु नश्यत्स्वपि, न जीर्णं तृण मत्ति, किन्तु मत्तेभेन्द्र विभिन्नकुम्भपिशितमेव सत्त्वानुरुप माहार मभिलषति। शुनक स्तत्र व्यतिरेकोदाहरणं भवति। स हि स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनं निर्मांस मप्यस्थि प्राप्य, क्षुधा शान्त्य भावेऽपि हीनप्रकृतितया मोदते। पिण्मात्रप्रदस्य पुरतः लाङ्गूलचालन वदनोदरदर्शनादिक्रियः कुर्वन् श्वा स्वचापल माविष्करोति। अतस्सिंहवन्मान शौर्यरीति राश्रयणीया, न तु शुनकसम्मता नीचप्रकृतिः। यथा कुसुमस्तवको शिरसि देवतासन्निधौ वा विराजते, वने वा निर्लिप्तं कालं यापयति, तथा मनस्विना औन्नत्यं वनवासो वाऽङ्गीकार्यः शेषो भुवनश्रेणिं, तं कमठपतिः, तमपि समुद्रः धरते। एवं महतां चरित्र विभूतयो निस्सीमानो भवन्ति। नीचा स्तु-पितरि क्लेश-विवशे प्राणोच्छेदं कुलिशाहतिं वाऽनभ्युपगम्य स्वीयप्राणरक्षण-व्यग्रस्समुद्रपतितो मैनाक इव स्वार्थपरायणा भवन्ति। परिवर्तिनि संसारे जातस्य मरणं, मृतस्य पुनर्जननं च सामान्यं, परं येन जातेन वंश स्समुन्नतिं याति स एव जातः। अचेतनोऽपीनकान्तः सवितुः पादै स्ताडितः प्रज्वलति। तथा मनस्विना निकृतिप्रतीकारपरेण भाव्यम्। मुक्त मूर्खसङ्गस्थापि विदुषो मानशौर्ययो रभावे समुन्नति र्न लभ्यते[2]।

---

१. नीतिशतके-श्लो-११-२०,   २. तत्रैव श्लो २१-३१,

अर्थपद्धतिः—भर्तृहरि र्लोकयात्राया मर्थस्य प्राधान्यं प्रतिपाद्य आर्थ विनियोग पद्धतिं निरुप्य, अन्ततोऽर्थ सम्पादनलालसताया नैरर्थक्य मुपपाद्य धर्माविरुद्धेन मार्गेणार्थस्योपादेयतां स्पष्ट मुपदिदेश ।

केवलार्थतत्परा जना जाति-गुणगण-शील-पराविनाशादीन् अविचार्य, अर्थेनैकेन विना गुणान् तृणलवप्रायान् विभाव्य अर्थार्जनरता दृश्यन्ते । वित्तवानेव नरः कुलीनः पण्डित श्श्रुतवान् गुणज्ञो दर्शनीयश्च संभाव्यते । यत स्सर्वे गुणाः । काञ्चन माश्रयन्ति । अथ मर्थप्रराणां विचारप्रकारः एव मार्जितमपि धनं दौर्मन्त्र्यात् नृपतिरिव, लालनात्सुत इव, अनध्ययना द्विप्र इव, कुतनयात् कुल मिव खलोपासनाच्छील मिव, मद्याद्धीरिव, अनवेक्षणात् कृषि रिव, त्यागप्रमादाभ्यां विनाश मुपैति । यतो दान-भोग-नाशा स्त्रय एव गतयोऽर्थस्या दान भोगयो रभावेऽर्थस्व विनाशोऽनिवार्यः । परं यस्य वित्तं दानायोपयुक्तं, स अपगतधनोऽपि शाणोल्लीढो मणिरिव, आश्यानपुलिना शरन्नदीव कलाशेष श्चन्द्र इव सुरतमृदिता बालवनितेव च तनिम्ना शोभते । आज्ञा, प्रदान-शक्तिः, ब्राह्मणपालनं, सत्पात्रदानं, भोगो, मित्रसंरक्षणं च अर्थैस्साधनीयम् । एषा मुपयोगाना मभावे विद्यमानोऽप्यर्थो व्यर्थः । अर्थपराणां नृपाणां नीति स्तावत्-सत्यानृता, परुषा प्रिय भाषिणी, हिंस्रा दयालु, रर्थपरा वदान्या, नित्यव्यया प्रचुरनित्य धनागमा च सती वाराङ्गना मनुकरोति । एव मर्थस्य प्राधान्ये सत्यपि तदर्थं धर्मभ्रंशः, नीचमार्गप्रवणता च न स्वीकार्या । धर्मानुबद्ध एव मार्ग स्समादरणीयः । कथितं भर्तृहरिणा—

> "यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
> तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ च नातोधिकम् ।
> तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा माकृथाः ।
> कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥[1]" इति[2] ।

दुर्जनपद्धतिः—अर्थे धर्मपथा साधितेऽपि दुर्जनपद्धते रज्ञाने न खलसंसर्गो हातुं शक्यते नापि सुखं लभ्यते जनस्य । यतो दुर्जना बाध्यस्य गुणगणे न विचारयन्ति । अपि च अकरुणत्व मकारण-विग्रहः, परधने परयोषिति च स्पृहा, सुजनबन्धु जनेष्वसहिष्णुता च दुर्जनस्वभावः । अतएव विद्यावानपि दुर्जनो मणिभूषितस्सर्प इव

---

१. नीतिशतके श्लो. ४०   २. तत्रैव ३१-४० श्लो,

परिहर्तव्यः। दुर्जनाना मयं स्वभावो यत् गुणेषु दोषत्वारोपण कुतूहलः। ते हि ह्रीं जाड्यं, व्रतशुचिलं दम्भं, शौर्यं नैष्ठुर्यं, प्रियालपनं दैन्यं, तेजः गर्वं, वक्तव्यशक्ति-स्थैर्यं मुखरत्व च भावयन्ति। परिशीलने दुर्जनै रखलीकृतो गुणो न लक्ष्यते। दुर्जना मौनिनं मूकं वदन्ति। पार्श्वस्थं घृष्टं कथयन्ति, दूरस्थ मप्रगल्भं भावयन्ति, क्षमाशालिनं भीरुं प्रतिपादयन्ति, असहनपर मनभिजातं लक्षयन्ति। एतादृशाः खला यदि राजाङ्गणगता स्तदा जनानां दुरवस्था वर्णयितु मशक्या भवन्ति। दुर्जनमैत्री पुन रारम्भगुर्वी सती पूर्वार्धगता दिनकरच्छायेव क्रमेण क्षयिणी भवति। यथा मृगमीनयो र्लुब्धक धीवरौ निष्कारण-वैरिणौ, तथा सतां दुर्जना निर्व्याजशत्रवः। अतो विदुषा दुर्जनेषु-अप्रमत्तेन भाव्यम्।

सुजनपद्धतिः —: दुर्जनसंसर्गो यथाऽवश्यं त्याज्य स्तया सज्जनसङ्गति रपि यत्नपूर्वकं साधनीया। यतो लोकस्थिते स्सज्जना एवाधारभूताः। सज्जन गुणा हि कल्याणकारका लोकस्य।

सज्जनसङ्गतौ वाञ्छा, परगुणेषु प्रीतिः, विद्यासु व्यसनं, स्वयोषित रतिः, लोकापवादाद्भीतिः, भगवति भक्तिः, इन्द्रियजये शक्तिः, खलेष्वससर्गः, विपदि धैर्यं, अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पाटवं, युधि विक्रमः, यशसि श्रुतौ च व्यसनं, सतां प्रकृतिसिद्धाः। त्यागो विनय स्सत्यपालनं नैर्मल्यं च सता मलङ्काराः। परधन-परयोषित्सु वैमुख्यं, तृष्णाशहित्यं, सर्वभूतानुकम्पा च श्रेयसां मार्गः। सन्तो हि नियन्त्रयया वृत्त्या, सपत्मूलपलकोमलेन हृदयेन, आपत्सु शिलासङ्घात कर्कशया रीत्या, महाजनमार्गानुसरणात्मिकया शैल्या चाऽसि धाराव्रत मनुतिष्ठन्ति। सतां हृदि प्रविष्टं किमपि वस्तु शुक्तिपतित जलमिव मौक्तिकता माधत्ते। परिशीलने सतां व्यवहार स्सर्वोऽपि कष्टसाध्यो विस्मयजनकश्च प्रतीयते। तत्प्रतिपादितं भर्तृहरिणा—

> नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणक यनै स्स्वान्गुणान् ख्यापयन्तः
> स्वार्थान् सम्पादयन्तो वितत पृथुतरारम्भ यत्नाः परार्थे।
> क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षर मुखर मुखान् दुर्जनान् दुःखयन्तः
> सन्त स्साश्चर्यचार्या जगति बहुमता कस्य नाऽभ्यर्चनीयाः॥[1]

अतो जगति बहुमतानां सद्गुणानां सम्पादने परो यत्नो विधेयः श्रेयःकाङ्क्षिणी [2]।

---

१. नीतिशतके श्लो ६०, २. तत्रैव श्लो ५१-६०,

परोपकारपद्धतिः —: यद्यपि परोपकार स्सद्गुणेष्वन्यतमः, तथापि इहपरश्रेयःपदवीं प्रपित्सुना जनेन परोपकाराख्यः परो धर्मो नितरां सेव्य इति ख्यापनाय महाकविना भर्तृहरिणा श्लोकदशकेन सुरुचिरं परोपकारपद्धति निरुपिता।

प्रकृतिपरिशीलने क्रियमाणे मानवसङ्गात् वृक्षाद्यचेतनाना मपि परोपकारनिरताना मवस्था गरीयसी दरीदृश्यते। वृक्षाः फलोद्गमै स्समृद्धा अपि नम्रा भवन्ति। नवाम्बुस्फीता अपि मेघा स्सन्निहितं विलम्बमाना दृश्यन्ते। परोपक्रियःनिपुणाः गावो निरतं लोक मुपकुर्वन्ति। कायस्य परोपकारप्रवणताचन्दन मेवाऽलङ्करणम्। अनभ्यर्थितोऽपि सूर्यः पद्माकर, चन्द्र. कुवलयचक्रवालं. मेघो जलं चानुगृह्णाति। यः परेषा मुपकुर्वन्ति स एव वस्तुनो धन्यजीवी। अन्ये तु ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकतु या भवन्ति। अत एव सन्त स्वार्थान् परित्यज्यापि परानुपकुर्वन्ति। मनसि वचसि काये च पुण्यपीयूषपूर्णा स्त्रिभुवन मुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः, परगुण-परमाणून् पर्वतसदृशान् भावयन्त स्सन्त स्सर्वै रभ्यर्चनीयाः। तदभ्यर्चितस्थान सम्पादनाय बिदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्[1]।

धैर्यपद्धतिः —: समग्रगुणगणसम्पादनेऽपि धैर्यस्यात्मागुणस्य अभावे जनः किमपि कार्यं साधयितुं न प्रभवति लौकिकी यात्रा दुःखपरम्परासमाकीर्णा। यो धैर्येण दुःखपरम्परां सहते स एव श्रेयसि, कृतावस्थानो भवेत्। अत स्सर्वगुणजीवभूत धैर्यं सम्पादनीयम्।

देवा रत्नै र्न तुतुषुः, भीमविषेण न भीताः, सुधासम्पादनं यावन्न विश्रान्ताः। एवं विघ्नपरम्परा मतिक्रम्य ये प्रारब्धं कार्यं निश्चयेन साधयन्ति, त एव धीराः। कार्यार्थी जनः सुखदुःखे न गणयति। पृथिव्यां पर्यङ्के वा शेते; शाकं शाल्योदनं वा भुङ्क्ते, कन्थां दिव्याम्बरं वा धरते, परं प्रारब्धं कार्यं तु न परित्यजति। धीरो नीतिनिपुणानां निन्दाः स्तुती र्वा न गणयति, सम्पदः प्रवेशनिर्गमने न मनसि करोति. मरणमपि प्रतिरोधकं न मनुते। किन्तु न्याय्यपालनमेव तस्याशयः। अधोमुखः कृतोऽपि वह्नि ययोर्ध्वमेव ज्वलते, तथा धीरोऽपि कदर्थितोऽपि सन् धैर्यं न जहाति। धैर्यलक्षणस्य शीलस्य परित्यागापेक्षया केनात्युपायेन मरणमपि वरम्। एवं य श्शीलं सधैर्यं धारयति स लोकमान्य श्शक्तिसम्पन्न श्चावश्यं भवति। तन्निरूपितं तत्त्वकोविदेन भर्तृहरिणा —

१. नीतिशतके श्लो ६१-७०;

वह्नि स्तस्य जलायते जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपति स्सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ।।[1] इति ।[2]

दैवपद्धतिः —: निखिल गुण भूषितस्यापि जनस्य कदाचित् विधिवशा दनिर्वाच्या दुरवस्था भवेत् । अत स्तदपनोदनाय दैवानुग्रहो यदृच्छालाभ सन्तुष्टि श्चाप्यावश्यकः । दैव पुरुषकारौ रथचक्राविव समं प्राधान्यं भजतः । यथाह्येकेन चक्रेन रथस्य गति र्न सुसाध्या तथा केवल पुरुषकारेण सर्वं कार्यं न सुकरम् । अतोऽत्र दैवप्राधान्यं दशभि श्श्लोकै र्भर्तृहरिणा प्रतिपादितम् ।

यस्य बृहस्पति र्मन्त्री, प्रहरणं वज्रं, सुरा स्सैनिकाः, स्वर्गो दुर्गं, ऐरावणो वारणा स्सोपि बलभिदाश्चर्य बलान्वित स्सङ्गरे शत्रुभि र्विजित इतियत् तत्र दैव मेव निमित्तमङ्गीकार्यम् । एवं भक्ष्याशयाऽहिमञ्जूषां दष्ट्वा सर्पेण भक्षितस्याखो र्वृत्तान्तः, अनातपसेवनाय तालवृक्ष माश्रितवतः खल्वाटस्य शिरसि तालफलसम्पातः, सुधांशो रोषधीशस्य महेश्वर शिरोभूषणस्यापि चन्द्रस्य बुद्धिक्षयसम्भवश्च दैवप्राधान्यं प्रख्यापयन्ति । निरपराधिनां गज-भुजग-विहङ्गमानां बन्धनं, शशिदिवाकरयो र्ग्रहपीडनं, मतिमतां दरिद्रता च उक्त मर्थं द्रढयन्ति । एवं दैवे प्रतिकूलकारिणि कांप्रतिक्रियेति चेत्, दैवानुग्रह सम्पादनं यदृच्चालाभ सन्तुष्टि रिति द्वय मेवेति वक्तव्यम् । तदाख्यातं भर्तृहरिणा—

दैवेन प्रभुणा स्वयं जगति यद्यस्य प्रमाणीकृतं
तत्तस्योपगमे न्मनागपि महान्नैवाश्रयः कारणम् ।
सर्वाशा परिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्राः पयोबिन्दवः ।।[3]" इति ।
सर्वस्यापि समुपनतस्य भागवदनुग्रहतया स्वीकरणे
कष्टपरम्परा सोढुं शक्या भवेत् । अतस्तादृशी भावना संभाव्या ।[4]

---

१. नीतिशतके श्लो ७८
२. तत्रैव श्लो ७१-८०
३. तत्रैव श्लो. ९०
४. तत्रैव ८१-९० श्लो,

कर्मपद्धतिः —: विहितेऽपि दैवानुग्रह साधनप्रयत्ने, स्वीकृतायामपि यदृच्छालाभ सन्तुष्टौ दुःखाऽनपगमे हेतु रवश्य मन्वेष्टव्यः । परिशीलने क्रियमाणे: पूर्वजना सञ्जितात् कर्मणोऽन्यत्तत्र हेतु र्नोपपद्यते । "अवश्य मनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।" इति हि आर्योक्तिः । अत स्सत्कर्माचरण मेव दुःखपरम्परातारकं, इहपरश्रेयो दायकं चाङ्गी-कार्यम् । अत एव भर्तृहरिणा कर्मपद्धतौ सत्कर्माचरणस्य निरतिशयं प्राधान्यं निरूपितम् ।

कष्टापगमाय देवन्नमस्याम इति चे त्रेऽपि हतविधे वंशगा एवा विधौ वन्दितेऽपि स न स्वतन्त्रा । किन्तु कर्मैक फलदा । अत स्समस्तं फलं कर्माऽऽयत्तं विभावनीयम् । ब्रह्मणः कुलावृत्तितायां, विष्णो र्दशावतार महासङ्कट निपातने, कपालपाणे र्महेशस्य भिक्षाटने, सूर्यस्य सतताविश्रान्तगमनप्रयासे च कर्मैव निमित्तम् । शुभे कर्मणि व्ययिते, शुभ्र भद्म सविभ्रमा युवतयः । श्वेतातपत्रोज्ज्वला लक्ष्मीश्च कलहक्रीडात्रुठत्तन्तुकं मुक्ताजालमिवाऽदृश्यतां प्राप्नोति । अतो विवेचकेन मनीषिणाऽऽदावेव कर्मविपाक मालोच्य शुभाऽशुभात्मके कर्मत्ति प्रवेशो विधेयः । अन्यथा आतरमस-कृतानां कर्मणां विपाक श्शल्यतुल्यो हृदयदाही च सम्पद्यते । मनुजस्य कर्माण्येव काले निक्षिप्तबीजा वृक्षा इव समये फलन्ति न तु कुल-शील-विद्या-सेवादयः जनो जलेमज्जतु, मेरुशिखरं प्रयातु, शत्रून् जयतु, सकलाः कलाशिक्षताम्, आकाश मुत्पततु, तथापि नाऽभाव्य भवति, भव्यं न नश्यति । वन-रण-शत्रु-जल-अग्नि मध्यस्यस्थापि लोकस्य पुराकृतादन्यं रक्षकं नास्ति । अत स्सत्क्रियैवाराधनीया । सैव नाश्यं नाशयति, रक्ष्यं न रक्षति । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

> या साधूंश्च खलान् करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिणः
> प्रत्यक्षं कुरूते परोक्ष ममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
> तामाराधय सत्क्रिया भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
> हे साधो ! व्यसनै र्गुणेषु विपुलेष्वास्यां वृथा माकृयाः ।[1] इति[2] ।

एवं भर्तृहरे नीतिशतकस्य परिशीलने ईदृशी जीवनकला न केवलं भारतीयै रपितु सर्वै र्मानवै स्संसेव्या । अनया प्रपञ्चे परिदृश्यमाना अशान्ति विद्वेषाश्चावश्य मुपशान्ति मेष्यन्ति-इति स्पष्टं प्रतीयते । भर्तृहरिनिरुपितेयं जीवनपद्धति र्भारतीयानां परमादर्श भूतेत्यत्रा नास्ति सन्देहः ।

> "तृष्णां छिन्धि, भज क्षमां, जहि मदं पापे रतिं माकृयाः
> सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं, सेवस्व विद्वज्जनम् ।
> मान्यान् मानय, विद्विषोऽप्यनुनय, प्रख्यापय प्रश्रयम्
> कीर्तिं पालय, दुःखिते कुरु दया मेतत्सतां चेष्टितम् ।।[3]"

१. नीतशतके श्लो. ९३,   २. तत्रै श्लो—९१-१००
३. नीतिशतके श्लो. ६९ ,

ENGLISH DEPARTMENT

Incidencce of Poverty in India-Its Estimation & Related Data Gaps

A.C. Kulshreshtha, Gulab Singh &
Ramesh Kolii Central Statistical
Organisation, New Delhi

Introduction

Removal of poverty and improvement in the standard of living of the masses have remained the basic objectives of the Indian Planning. These are being achieved through planned economic growth and target oriented poverty alleviation programmes for the poor To help formulate effective schemes for poverty alleviation, measurement, of poverty is essential. Though there is difference of opinion among the experts on the methodology to be adopted for its measurement, the importance of quantification of poverty is well recognised. This paper describes the official methodology used by Planning Commission for estimation of proportion and number of poor and the available data source used for this purpose. Data gaps relating to estimation of incidence of poverty have also been enumerated.

2. Cfficial Methodology for Estimation of Proportion and number of poor

The question of defining poverty line was first mooted by the Indian Labour Conference in 1957 A definition of poverty in the Indian Context, was attempted for the first time by a distinguished working Group set up by the Planning Commission, Government of India in July, 1962. After taking into account the recommendations of the nutrition Advisory Committee of the Indian Council of

Views expressed in the pape rare the personal views of the authors are not of the organisation to which they belong.

Medical Research (ICMR) in 1958, regarding the balanced diet, the working group came to the view that the national minimum for each household of 5 persons (4 adult consumption units) should not be less than Rs. 100 per month at 1960-61 prices or Rs. 20 per capita. It further suggested that for urban areas this figures should be raised to Rs. 125 per month per household or Rs. 25 per capita to cover the higher prices of the physical volume of commodities on which the national minimum is calculated. By implication, this meant that the corresponding amount in the rural areas would work out to Rs. 18.90.

Dandekar and Rath (1971) used an average calorie norm of 2250 Calories per capita per day for both rural and urban areas as a criterion to define the poverty line so as to segregate the poor from non-poor. On the basis of NSS data on consumption expenditure, the study revealed that an average monthly per capita expenditure of Rs. 14.20 in the rural areas and an average monthly per capita expenditure of Rs. 22.60 in the urban areas both at 1960-61 prices would suffice to meet the requisite calorie requirements. Prof. Sukhatme argued that average calorie requirement does not represent the minimum below which a person can be treated as undernourished. Bardhan (1971), Rudra (1974), Minhas (1969) and others forwarded different estimates of incidence of poverty at regional level following mainly the national norms.

Planning Commission constituted 'Task Force on Projections of Minimum Needs and Effective Consumption Demand' in 1979 to recommend a poverty line. The methodology as formulated by the 'Task Force' has since then, been used in estimating the incidence of poverty in Planning Commission.

The poverty line has been defined by the 'Task Force' (1979) as that expenditure level, which meet the average per capita, per day calorie intake of 2400 Calories for rural areas and 2100 Calories for urban areas. The monetary equivalent of these norms (i.e. poverty lines) have been worked out using the 28th round (1973-74) National Sample Survey (NSS) data relating to private consumption both in quantitative and value terms. Using appropriate conversion factors, the calorie content of consumption baskets corresponding to various expenditure classes have been worked out. Applying inverse linear interpolation methods to the data on average per capita monthly expenditure and the associated calorie content of food items in the class, separately for rural and urban areas, it has been estimated that, on an average Rs. 49.09 per capita per month satisfied a calorie requirement of 2400 Calories per capita per day in rural areas and Rs. 56.64 per capita per month satisfied a calorie requirement of 2100 Calories per capita per day in urban areas both at 1973-74 prices. The poverty line so estimated implies that having this amount, on an average, an individual will distribute his expenditure between food and non-food items in such a way that the calorie content of his food consumption satisfies the desired calorie norm. Thus, the concept of poverty line used here is partly normative and partly behavioural.

The poverty cut-off points, as estimated above are updated over time by using relevant price inflators weighted by appropriate consumption basket, to take care of the changes in price level. Using the updated poverty line and the data on the size distribution of population by expenditure classes from the household consumption survey conducted by National Sample Survey Organisation (NSSO), for the reference year, the number and proportion of persons below the poverty line are estimated. The

poverty estimates are made separately for rural and urban areas and at national and State levels, using appropriate consumption distributions. In estimating the State level incidence of poverty, the national calorie norm and the corresponding all India poverty line have been applied on the State specific household consumption distribution, separately for rural and urban areas.

It has been observed that the national total of household consumption expenditure as estimated on the basis of the result of NSS household consumption survey is different from the national private final consumption expenditure estimated in National Accounts Statistics (NAS). To make the estimates of total private consumption expenditure consistent from both the sources the expenditure levels reported by the NSS is raised by a factor of proportion, capturing the differences between the total private consumption as obtained from NSS and the total as estimated by NAS. This factor is applied uniformly to all expenditure classes. The incidence of poverty is then estimated with the adjusted distribution of consumption expenditure The estimates of poverty based on the aforesaid procedure are presented below :—

Table : Estimates of poverty (All India)

		1972-73	1977-78	1983-84	1987-88
Poverty line (Rs.)	Rural	41.0	60 0	101.8	131.8
(at current prices)	Urban	47.0	69.9	117.5	152.1
Proportion of	Rural	54.1	51.2	40.4	33.4
People below	Urban	41.2	38.2	28.1	20 1
Poverty line	Combined	51.5	48.3	37.4	29 9

Source : Planning Commission, Government of India

There has been significant decline in the incidence of poverty over years. The decline in the incidence of poverty has been achieved due to combined effect of faster economic growth and poverty alleviation programmes.

The procedure for estimation of poverty has been criticised and its limitations have been pointed out from a number of angles. Broadly they fall in two categories the first related to the concept itself and the second arising from the data and methodologies used in India for estimating the poverty line. Planning Commission, Government of India constituted in September 1989, an Expert Group to consider methodological and conceptual aspects of estimation of proportion and number of poor in India. The Expert Group has since submitted its report in July 1993 and its recommendations are under the consideration of the Government of India.

3 Poverty & Agriculture

Fortunes of rural poor in India are intrinsically liked with the Agriculture sector as it contributes about 30 per cent to the GDP and provides sustenance to more than two thirds of the people. Agriculture impacts on the poor in more ways than one. A higher agricultural output leads to lower food prices as well as improve food availability of poor. It will not only generate employment opportunities in the agriculture sector but would also affect the growth in the non-agricultural sector, through linkage effects thereby creating income earning opportunities Agricultural growth on the whole will boost the overall economic development, However. if agricultural growth involves a shift from labour intensive crops and technologies to labour saving ones this might as well work to the detriment of the rural poor rather than beneficial as wages from

agricultural employment constitute a major component of the incomes of the poor. Evidences from India, however, suggest that on the whole the green revolution resulted in the net increase of labour use and real wage rates, Dantwala (1985)

4. Data Source for Estimating Incidence of poverty

The data on income distribution by size classes is required for estimation of incidence of poverty The time series data on income distribution by size classes is, however, not available in India, in the absence of which the country wide data on consumer expenditure, available through NSS consumer expenditure surveys, has become the only source of data for the poverty related studies

NSSO has conducted household consumer expenditure surveys since its first round started in October 1950 througn the 28th round (1973-74). After 26th round, it decided to conduct the survey once in 5 years only starting from 27th round onwards. So far, four quinquennial surveys have been conducted in 27th (1972-73), 32nd (1977-78), 38th (1983) and 43rd (1987-88) rounds, To maintain the continuity of survey data on consumer expenditure for construction of time-series, NSSO has carried out thin sample survey on household consumer expenditure in addition to quinquennial surveys. This has started from 42nd (1986-87) round

5. Data gaps Relating to poverty Estimation Studies

(1) The poverty line is anchored in a norm for calorie consumption which is taken as representing an absolute nutritional requirement based on the age, sex and activity status of the entire population. To buy the requisite calories one requires a definite income. The measurement of the extent of inequality in the distribution of income in the country, therefore, requires data on

household income distribution by size classes Inspite of its importance and direct relevance to economic policy formulation, the study of income distribution in the country has not come to from a regular exercise mainly because of the paucity of the basic data relating to income distribution. In the absence of time series data on household income distribution, most poverty related studies in India have relied on NSS Consumer expenditure survey data.

(2) Income received by the households by far has the largest share in the total and includes not only the labour and property income generated through production of goods and services but also the transfer incomes received mainly from the government in the form of reliefs, unemployment insurance benefits, pension etc. Besides these items of factor income and transfers, households also receive income in kind in the form of community and social services provided by the government, like education, medical and health and recreation which are received by the households without any financial payments (or concessional payments). Such services are expected to accrue proportionately more to lower income groups than the rest. Comprehensive study of household income distribution should, therefore, include all these aspects.

NSSO have been making attempts to collect data on household income the latest being through the "Pilot Survey on Income, Consumption and Saving" in 1983-84 in both rural and urban areas of five states, namely, Maharashtra, Tamil Nadu. Uttar pradesh, Haryana, Orissa and the metropolitan cities of Caluctta, Bombay, Delhi and Madras. The primary objective of the survey is to explore the possibility of evolving an operationally feasible and technologically sound methodology for the collection of data on household income through household surveys. In this survey two approaches

were adopted for the measurement of household income, namely (i) Collection of data on income from different sources of income of sampled households and (ii) collection of data on household consumption and savings which would give an alternative estimate of household income Unfortunately, it has not been possible so far to evolve a suitable methodology for collection of data on household income through household surveys. The efforts in this direction shold, however, be continued.

(3) Non-availability of appropriate state specific cost of living indices is an important gap in the data availability for making state specific estimates of poverty. Steps are requiied to be taken to construct the price indices represeting changes in consumer prices of the poor at relevant disaggregated levels.

(4) The estimates of the incidence of poverty as derived from NSS consumption expenditure distribution provide a composite picture of the number of people whose per capita consumption expenditure is below the desired minimum It does not however, provide a complete picture of the state of well-being of the population; for example, it does not tell us anything about the living environment. The data is, therefore, required for dissecting the poverty profile in terms of dominant characteristics, namely, their distribution by region, social group, family characteristic, like, size, education, age, sex of the head of the household, dependency ratio etc.

REFERENCES :

1. Bardhan, P.K. (1971) : On the minimum level of living and the rural poor-A further note Indian Eco. Rev. April 6.
2. Dandekar, V.M. and Rath, N. (1971) : Poverty in India. Indian School of political Economy, Pune.

3. Dantwala, M L. (1985) : Technology, growth and equity in Agriculture. In Mellor and Desai (eds) 1985-Agricultural growth and rural poverty-variations on a theme by Dharam Narain IFPRI/John Hopkins University Press, Baltimore and London.

4. Minhas, B.S (1969) : Fourth Plan-Objectives and Policy Frame Vohra and Co , New Delhi:

5 Rudra, A. (1974) : Minimum level of living. In T.N. Srinivasan and P.K Bardhan (eds) 1974. A Statistical examination in poverty and income distribution. Statistical Publishing Society, Calcutta.

6. Planning Commission, Government of India (1979) : Report of the Task Force on Projections of Minimum Needs and Effectiv Consumption Demand.

7. Planning Commission, Government of India (1993) : Report of the Expert Group on Estimation of Proportion and Number of Poor.

The Indra Image in Kalidasa's Works

Anjalika Mukhopadhyay
Calcutta

Mythology is a growing science, it is a mixture of religious beliefs, popular imagination, historical and social development. A particular mythology, if followed meticulously, reflects fully the systematic growth of a thought and belief with its entire paraphernalia of outside influences.

At the beginning, all religion had a base of fear, wonder and curiosity for the unknown Natural and super-natural powers with their great potential appeared wonderful and awesome to the simple primitive people Their dependence upon natural phenomena was responsible for their feeling of great reverence towards those powers Their unrestrained imagination conjured up images about them, endowing them with super human position and attributes. Their own appearances and acts provided models. This was the beginning of a myth. As soon as it started rolling, it gathered around it snippets from different culture, sectarian beliefs poetic imagination and popular thoughts Thus it grows and never actually stops growing - it just changes its course from time, to time for better or for worse, from the alter of magnificence to the dark alley of oblivion.

We have here a most important God of ancient age for our discussion. Indra, the god of rain and lightning was considered most powerful in the Vedic age It is proved by the number of hymns attributed to him. But in subsequent ages his image deteriorated considerably. His case is an excellent example of mythological peculiarity.

Indra, as a mythical god, started his career very early. Even in Vedic times his name was associated with many myths. His lengthy presence on the Hindu religious scene gained him legends galore. As he was the hero of the Vedic age, his career was made most colourful by his admirers. He was given a powerful figure and many great deeds were assigned to him He was addressed alone and again with Maruts and Agni. All these factors lead us to consider him the greatest deity of the Vedic age.

But as this god reaches the age of our poet, crossing the turbulent phases of the Epics and Puranas, when simple devotion faded into the background, yeilding place for outrageous exaggeration, this god undergoes most pathetic transformation. He is still regarded as the leader of the divine society but his moral and physical standard plummetted regrettably. We find him a sadly reduced shadow of the past glorious personality who rushes for help to mortals and doesnot hesitate to resort to unfair means to keep his position. We find his status threatened every now and then by new claimants who perform a hundred sacrifices or practise really difficult penances.

We shall now discuss different legends concerning the name of Indra, and how Kalidasa looks at them. The most important myth of Indra's career is his killing of the demon Vrtra. Kalidasa frequently uses such epithets as Vrtraha and Vrtrasatru. cp.

tutosa viryatisayena vrtraha R. 3 62. and

krudhe'pi paksacchidi vrtrasatravavedanajnam kulisaksatanam.
K. 1. 20.

This story has its root in the RV where numerous references to the enmity and fight are found Various interpretations are given by Eastern and Western scholars slike to ascertain the truth of the myth. Indra was definitely the personafied form of rain and thunder-storm. But this true identity was soon lost in a haze of later conjectures and Indra came out as the all powerful king of gods while Vrtra was a powerful demon. The main points of the story describe that it was not an easy task for Indra to kill Vrtra and after several unsuccessful attempts he could kill him with his weapon vajra The weapon was made of the bones of the sage Dadhici 2. MBh gives a detailed varsion of the story 3.

---

1. RV. 1.16 80. 1.52. 1 52. 6: 1.80.4. 1. 103. 2. etc.
2. RV. 1 84. 13. KYV.5.5 6.6.
3. MBh. santi. 342. 39-41 udyoga. 10. 39:

Kalidasa hints at the killing of demon Namuci by Indra by calling him the enemy of Namuci, Namuciraray (R. 9. 22.). This episode is remarkable because of certain peculiarities. Even in the earlier texts the manner of the killing drew attention. All the versions of the story agree that Namuci entered into a pact with Indra that he would not be killed with something dry or wet, not could he be killed in the daytime or at night So Indra killed him with foam which was neither wet nor dry, and the time was dawn which was neither day nor night.

Another demon stands at dagger's end with Indra. Vedic texts certify that demon Sambara was a nagging problem and Indra was constantly destructing the forts made by this disturbing element :

Yah Sambaram parvatesu ksiyantam
catvarimsyam saradyanvabindat
ojayamanam yo ahim jaghana
danum sayanam sa janasa Indra RV. 1. 12. 12.

From this, Indra acquired his name purandara which is freely used by our poet One of such cases is :

tatah prahasyapabhayah purandaram
punarvabhase turagasya raksita R. 3. 51.

Another old legend which has its base in the RV tells us that Indra cut off the wi gs of the mountains and made them stable In SYV. 17.38. we find the epithet gotrabhit :

gotrabhidam govidam vajr. vahum.........In RV. it is stated :
tvam tamindra parvatam mahamurum
vajrena vajrin parvasascakartitha RV. 1. 57.6.

Sayana in his commentary upon RV 2 57 5. gives the gist of the story :

Itastatah prakarsenancato gacchatah sapaksan parvatan
ojasa valena drmhat paksacchedam krtva bhumau drdhleakara.

It is accepted that in the Krtayuga, all the mountains had wings: They used to fly about which sometimes created havoc. The gods requested Indra to put an end to this peril. Consequently Indra cut off their wings with his weapon vajra. Kalidasa was wellaware of this legend. He refers to this myth more than once. Different aspects of the story are explained in different verses. He states that when confronted by the king of the gods, the mountains put up stiff resistance :

paksacchedodyatam sakram silavarsive parvatah R. 4. 49.

The mountains hid in the ocean to escape onslaught :

paksacchida gotrabhidattagandhah
saranyamenam sataso mahidhrah R. 13. 7.

He categorically mentions that Mainaka mountain escaped disfiguring as he got a timely warning from his friend wind :

asuta as nagavadhupabhogyam Mainakamambhonidhivaddha-sakhyam
kruddhe'pi paksacchidi v rtrasatravavedanajnam kulisaksatanam
K.1 20.

In many places, Indra is described to have a thousand eyes. The poet uses the names sahasraksa and sahasralocana. There are two legends which account for this peculiar feature.

MBH. adi. (ch. 215.) connects the feature with the creation of the beautiful damsel Tilottama. Two demons named Sunda and Upasunda became invincibie. To make a hitch between them, Brahma ordered Visvakarman to create a maiden of unparallel beauty. To match the order, Visvakarman took ingredients from all the beautiful things of the world and created Tilottama. She was so lovely that when she started going round the gods in veneration, Brahma could not take his eyes off her, similar was the condition of Indra.

He found his two eyes inadequate to enjoy the exquisite beauty and immediately a thousand eyes appeared on him to serve his purpose

But the other story is of a more serious nature. Different versions of this legend are found in different texts, yet the main points remain the same. Indra felt a lustful attraction towards Ahalya, wife of the sage Gautama. Once when Gautama was away for bathing, Indra took his disguise and took Ahalya to bed. The sage returned early enough to catch them red-handed. His curse made Indra lose his virility, more over, his entire body was stamped with a thousand genital marks. Indra was ashamed so much that he could not face the world after that. He worshipped goddess Indraksi who changed the offending marks into eyes.[1] In another version, the marks were changed by the grace of the sun.[2] The poet points to this peculiar feature of the god in the following verse ;

tasmin maghonastridasan vihaya
sahasramaksnam yugapat papata K 31.

His immoral advancement towards Ahalya is mentioned clearly in Vik. act II 8. ff. 3 ; Ahalyakamukasya Mahendrasya............etc.

Another epithet which is frequently used by Kalidasa is satakratu Puranic authorities state that he got the position of the king of gods by successful completion of a hundred sacrifices It was also understood that he would have to hand over his position to anybody who would be able to repeat such a performance. For this, he was ever alert to prevent such a feat by hook or by crook. Out poet appropriately makes him say :

1. pp. srstikhanda. 54. 46-47.
2. BV. srikrsna janmakhanda. 47. 31-32.

tatha vidurmam munayah satakratum
dvitiyagami na hi sabda esa nah R. 3 49,
In Vedic period, the word kratu used to mean work, cp.
devo devan kratuna paryabhusayat RV 2.12.7.

Indra was called satakratu because he was believed to have performed hundreds of great deeds. But in later ages, kratu came to mean sacrifice BVpurana says :

pura satamakho darpat kitva makhasatam muda
vabhuve sarvadevanamadhyakah sampada yutah
srikrsna janmakhanda. 47 6.

That Indra prevented completion of the hundredth sacrifice by others more than once, is referred to by our poet. He describes in this connection, the heated verbal exchange between Raghu and Indra, in the third canto of R. In this conversation, we notice a reference to Sagara's sacrifice which could not be properly completed owing to Indra's resistance :

ato'yamasvah Kapilanukarina pitustadiyasya mayapaharitah
alam prayatnena tavatra ma nidhah padam padavyam
Sagarasya santateh R. 3. 50.

Sagara, a renowned king of the Iksevaku race arranged for the performance of the hundredth asvamedha sacrifice. One the eve of the sacrifice, he found the horse missing. Indra stole it and hid it in patala at the hermitage of Kapila. Sagara sent his sixty thousand sons to look for it and they dug up the earth even for the search. Kalidasa draws our attention to this fact :

guroryiyaksoh Kapilena medhye
rasatalam sankramite turange
tadarthamurvlmavadaradbhih
purvaih kilayam parivardhito nah R. 13.3.

At last they found it at Kapila's hermitage. They took it for granted that Kapila was the mischief-maker and started abusing him. Immediately, the sage opened his eyes and the flame of wrath there of reduced them to ashes. Later on, Amsuman, the grand son of Sagara, succeeded in pacifying the sage partially and brought the horse back. This portion of the story is also referred to by our poet in Mal act. V. cp :

So'hamidanimamsumateva Sagarah pautrena pratyahrtasvo yakaye...

In the end, Bhagiratha succeeded in bringing Ganga to earth and released his forefathers from the bond of the curse.

Indra's scheming role is best exposed in his effort to break the penances of the sages. In Sak, the poet by way of explaining Sakuntala's birth, hints that Menaka was sent to Visvamitra for his distraction and the result was Sakuntala The same ploy was resorted to in the case of the termination of the penance of sage satakarni. The sage spent ten thousand years in a pond practising severe austerities. Indra got alarmed lest he had to loss his position. He sent five of his loyal nymphs to divert his attention They seduced the sage and from then on he lived a life of sheer luxury. Our poet mentions this sage in R : 13 39 In such cases of devious undertaking, he utilises the service of Madana also. Kalidasa brings to light such an entente through Madana's own statement :

kenabhyasuya padakanksina te
nitantadirghaijanitatapobhih
yavadbhavatyahitasayakasya
matkarmukasya nidesavarti R. 3: 4.

We have already said that Vedic Indra has undergone drastic changes in the following ages and in the process has lost much of

his power and position to other younger gods In the puranic age, he is depicted as a subordinate god who is in awkward position off and on For this, he rushes for help not only to the famous Trinity but also to mortals. Kalidasa mentions at least two such cases. In Sak, king Dusyanta is sent to Indra's help and after the completion of the mission is shown great respect by the king of the gods (sak Act VII. 2.) In Vik. king pururavas does the same (Vik Act I).

Later mythologies developed a cosy family for Indra. Saci is his wife and Jayanta is his son. His hoise is called Uccaisravas, his elephant Airavata His charioteer's name is Matali. These festures were fi:mly established in our poet's time. the name Saci is also found in Rm. MBh and Puranas. She is believed to be the daughter of the demon (alternately sage) puloman. RV at least in one place,[1] refers to Indra as sacipati AV and KYV.[2] do the same. Sayana gives the meaning of the word saci as 'work' in his commentary on RV. 1. 106. 6.[3] In later ages the etymology lost its ture meaning and a maiden was supplied to fill up the gap. Kalidasa mentions the fully formed family more than once. For instance :

yatha jayantena Sacipurandarau R. 3 23.

and : Paulomisambhavena Jayantena Purandarah Vik. 5.14.

The name Matali goes back to the Vedic age.[4] In AV. too, we see that Indra and Matali are drawn together :

---

1. RV. 1: 106. 6.
2. AV. 6. 13. 134. 1. 16.13 134.1. 20.3.27 2
3. saciti karmanama.
4. Vp. 69. 141-142.

yanmatali rathakritamrtam veda bhesejam

tadindro apsu pravesayat tadapo datta bhesjam AV. 1 1 3 8 13.

In later ages, Vp. narrates a story about the birth of Matali and his attaining the position of the charioteer of Indra.[1]

Actually the conception of Indra is an exllent topic for studying the peculiar working of mythology. The conception at its starting point was nothing but the personification of natural phenomenon which held the simple-minded primitive people awestruck. For the sake of convenience, they imagined a humane form endowed with super-human qualities. The image was gradually strengthened by support of stories describing the power and prominence of the deity. He was soon elevated to the supreme position. When the feelings of awe and wonder at natural forces receded, new deities gradually rose to fame, eclipsing the former ones. This trend removed this god to the b ckground and brought deities like Visnu and Siva to the lime-light.[2]

Bibliography

1. Hopkins E W. — Epic Mythology. Indological Book House Varanasi, 1968.

2. Hopkins E.W. — The Great Epic of India. Punthi Pustak Calcutta, 1969.

3. Hopkins E.W. — Origin and Evolution of Religion. Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi.

4. Macdonell A.A. — Vedic Mythology. Indological Book House, Varanasi, 1963.

5. Wilking W.J. — Hindu Mythology Delhi Book Store Delhi, 1972.

1 MBh. adi. 63. 5-6, 183-24.

2 Brhat. 43. 5-6, 23-24.

Abbreviations

AV	Atharvaveda, ed. Durgadas Lahiri.
Brhat	Brhatsamhita
BV	Brahmavaivartapurana ed. p. Tarkaratna Calcutta 1332 BS
K	Kumarasambhava ed. R. Bidyabhusan. Vasumati Sahitya Mandir, Calcutta.
KYN	Krsna Yajurveda, ed. Durgadas Lahiri.
MBn	Mahabharata, ed Haridas Siddhantavagisa, Calcutta 1347 BS.
R	Raghuvamsa - Vasumati edition.
RV	Rgveda. ed Durgadas Lahiri.
Sak	Abhijnana Sakuntalam ed. R. Bose, Calcutta. 1960.
Vik	Vikramorvasiya ed. M.R. Kale, Motilal Bararasi dass
Vp	Vamanapurana ed. Ananda Swarup Gupta. All India Kashiraj Trust. Varanasi 1967.

The Problem of Number of Rasas

Dr M C Bhartiya
Reader & Head, Deptt of Sanskrit
M.M.H. College (Meerut Univ) Ghaziabad, U P.

The problem of number of rasas has been quite a controversial problem in Sanskrit poetics. We find Bharata enumerating eight rasas - Srngara, hasya, karuna, raudra, vira bhayanaka, bibhatsa, and adbhuta.[1] Mamata has added santa to them and has raised the number to nine.[2] Visbvnatha adds one more - vatsala[3] - and make it ten. Rupagosvami takes bhakti[4] also as a rasa and raises the number to eleven. Bhoja enumerates twelve in a some what different way. He accepts eight rasas of Bharata and adds preyan. santa, udatta, and uddhata to them.[5]

Some Acaryas accept only one rasa as a fundamental rasa and other rasas as its modes. Bhavabhuti for example, accepts only karuna as a fundamental rasa.[6] According to Abinavagupta, santa is the only rasa.[7] According to Bhoja, the only real rasa is sringara[8] Narayana, the great grand father of Visvanatha, has propounded that adbuta is the only rasa[9]

---

1. श्रृंगार हास्य करुणरौद्रवीरगयानका
   बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चे सष्टौ नाट्यं रसा स्मृता : Natya-sasha. 6,15
2. निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपिनवमो रस । Kavya-prakasa, 6,35
3 स्फुटं चगत्कारित्त या वत्शलं च रसं विदु : । Sahitya-darpana, 3,251
4. Bhakt rasamrta-sindhu-Ujjval-nila-manu
5. श्रृगारवीर करुणरौद्रादभुतभयानका: ।
   बीभत्सहास्य प्रभांस: शान्तोदात्तोद्धता रसा । Sarasvati-kanthabharana, 5,164
6. एको रस: करुण एवं । Uttara-rama-carita
7- स्वं स्वं निमित्तमासारा शान्तद् भाव: प्रवर्तते ।
   पुर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥
8- वयं तु श्रृंगारमेव रसनाद् रसमानसाय: । Srrigara-prakas'a 1,6
9. रसे सार: चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते ।
   तच्चमात्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्गुतो रस: ।
   तस्माददभुतमेताह कृती नारायणो रसम् ॥ Sahitya-darpana, 3,2,3,

In order to tackle the problem of number of rasas let us first see what do we actually mean by rasa. Generally speaking, it can be said that rasa is the aesthetic pleasure derived from the experience of artistic creations But is it simply that. No doubt it is an aesthetic pleasure but the two cannot be equated : every artistic creation does not lead to the status of rasa. Rasa is not simply pleasure it is rather a state of continuous pleasure where the experiencer forgets everything else (vedyantarasamparka-sunya) : he merges into the ocean of sentiments. It is of course the sentiment of bhava which leads to rasa, but every experience of sentiment is not rasa We can distinguish between the state of experience of a bhava and that of a rasa. A bhava rises to the status of rasa only when it is accompanied with vibhava, anubhava and vyabhicari-bhavas, otherwise it is simply the experience of a bhava. In other words we can say that it is the context in a plot of story which raises the bhava to the status of rasa. Bharata, we know, discusses rasa only in context of drama Later poeticians have expanded its scope to other kavyas. But can we experience it in every type of kavya [1] The factor of plot-context is essential for the experience of rasa and that is possible only in prabandha-kavyas, not in muktakakavyas How-so-ever touching a muktaka poetry may be. it is the experience of only bhava, not rasa there When we say that there is such & such rasa in such and such muktaka poetry, we use only figurative language - we use the word rasa for a bhava. We do of course imagine a context in muktaka poetry also but that is only instantaneous, it does not give rise to a state of continuous pleasure or rasa.

We also distinguish between sthayi-bhavas and sancaribhavas. We know some sentiments are cominating and leave on us a deep and continuous imprint. On the other hand some others are

1. Mammata Kavya - prakasa, IV. 28, urtte

short-lived and effect us only in a temporary and limited way. The dominating type of sentiments are termed as sthayi-bhavas and others as sancari-bhavas. It is only the sthayi-bhavas which are said to rise to the status of rasa The problem of number of rasas is therefore also related to the problem of number of sthayi-bhavas. The number of sthayi-bhavas too have been accepted as eight; nine, ten, eleven and twelve by different Acaryas according to the number of rasas accepted by them. A generally accepted view in Indian poetics is to regard nine bhavas as sthayi-bhavas They are : rati, hasa, soka, krodha, utsaha, bhaya, jugupsa, vismaya and nirveda.[1] Others like vatsala, bhakti etc. are regarded as sthayi-bhavas only in a secondary way. Some of these sthayi-bhavas are undoubtedly dominating and we find full-length kavyas written with them as basic sentiments. Rati or love, for example, is undoub edly a dominating sentiment and we find numerous Sansskrit kavyas with rati as dominating bhava. Hasa or laughter also is met in several kavyas, specially uparupakas like prahasana, bhana, etc We also find poetic compositions depicting soka, utsaha and nirveda as prominent sentiments, e.g. Uttara-rama-carita, Veni-samhara and Nagananda They can also therefore be accepted as sthayi-bhavas Of the other bhavas, bhaya or fear is not found as prominent bhava in any Sanskrit drama, but we do find it in other language carations like the horor films Bhayanaka, Purana Mandira, etc. in Hindi. We can therefore accept the dominating nature of bhaya also. But what about krodha, or anger jugupsa or hate and vismaya or wonder? We have not come across any poetic creation so far where krodha

---

१. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ Kavya prakasa, IV,30
निर्वेदः स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः । I bid, IV, 35

or jugupsa are dominating bhavas. Krodha or anger is generally seen accompanying utsaha (firmness or fortitude) and as such can only be regarded as a sancari-bhava. Jugupsa too is never seen as a dominating sentiment in any poetic creation it is only seen here and there used in limited contexts such as in preta-episode of Malati-madhava and raksasa-episode of Venisamhara. This too therefore should not be termed as a sthayi-bhava in the real sense of the term. Vismaya or wonder too is not seen as a dominating sentiment in any ancient poetic creation. But it is certainly a dominating sentiment in modern detective novels. A question can be asked here. Should we regard detective novels as poetic creations? Detective novels are undoubtedly very absorbing and give rise to a continuous pleasure, like that in a rasa. Still the modern scholars do not fell inclined to accept them as poetic creations. It is because poetry is a creation of heart while detective novels are crations of head more than that of heart. In detective novels we experience a sort of intelectual pleasure not based on sentiments.

But we should not and must not undermine the importance of vismaya or wonder by simply saying that it is a property of head and not of heart. In fact, it is not easy to separate heart from head. In sanskrit poetics we find vismaya enumerated as a bhava or sentiment Moreover, discussing the nature of rasa above we have seen that it is the plot context that raises a sthayi-bhava to the status of rasa. Now, what is there in a plot-context that elevates the sthayi-bhava to the status of rasa? It is nothing but curiosity pervading the whole plot which gives rise to such a position. It is only curiosity which makes a plot absorbing and forces the reader to forget every other thing, i.e. makes the creation vedyantara-samparka-sunya. And curiosity is only a form of vismaya or wonder. Vismaya therefore plays a key role in a prabandha-kavya.

It is in fact only this factor which elevates sthayi-bhava to the status of rasa. It therefore pervades every rasa. With this fact in mind perhaps. Narayan, the great grand father of Visvanatha, declared that comatkara (wonder) is the essence of every rasa which is experienced everywhere and therefore adbhuta is the only rasa[1] . But if we accept Narayana's we will have to accept detective novels as pieces of poetic creations. Otherwise also, vismaya being regarded as a sthayibhava, detecive novels, under the ancient poetic standars will fall under the catagory of kavyas.

I am here inclined to adopt a middle path. Rasa. I feel is a synthesis of head and heart. When sentiments like rati, utsaha, soka etc. are woven into a garland with the help of vismaya as thread, it gives rise to the status ot rasa Rasa touches heart because of sentiments depicted there in and binds and merges the reader's head in a continucus state of absorption because of the continuous curioity i.e. vismaya. Vismaya here no doubt plays a key role but it itself is not rasa. Rasa is a synthesis of the sthsya-bhavas like rati, utsaha, soka, hasa, bhaya and nirveda on the one hand and vismaya on the other.

Coming to the question of number of rasas, therefore, it is clear that the number of rasas will depend on the number of sthayibhavas combining with vismaya As we have seen above we can take six of the sthayi-bhavas viz. rati, utsaha, soka, hasa, bhaya and nirveda as dominating sentiments without much controversy and they combining with vismaya give i e to six rasas viz, Srngara vira karuna, hasya bhayanaka and santa. only these six in the tecnical sense of the them should be termed as rasa. They all of course, are pervaded by adbhuta which is a common factor in every one of them.

1 Qoted above.

Indian Women on the War-path of Progress

By Dr. K.A. Agarwal
Dept. of English
G.K. University, Haridwar

The Bible says, 'The man is not of the woman, but the women of the man,' neither was man created for the woman but the woman for the man ? But Russel defies anyone who finds basis for the view, except that men have stronger muscles than women. Although more than one hundred ten years have passed since this great scholar discarded this notion as false and chauvinistic, but even today this type of notion is continuing and it is absurd to hope that dust would ever settle over it. The behaviour of man towards woman has never been fair. Mr. P.N. Tikko is right when he says in his book 'Indian Women.'

"He has always grudged woman a place in society on par with him. Out of selfish arrogance and physical strength man has all along looked down upon her, allowed her a lower position in every walk of life. At best his attitude towards her has been that of ambivalence. Here man has seldom felt like exercising his freewill muster courage of self criticism, see through his selfishness and laugh at himself. Seldom has he objectively pondered over the fact that woman also was, like him, a human being with all human aspirations and a keen sense of self respect, who had to be recognized and honoured."

It is a matter of pleasure that in the present century there has been a healthy change in the attitudes towards women. The charter of the united nations has given better sense of proportion and of fellow feeling and solicitude for woman U.N.O. after the second world war (1939-45) has taken the cause of Human Rights. It has

also given emphasis on the equal rights for both men and women. To give proper regard to women the year 1974 was declared 'Woman's year' and later on, the whole decade was devoted to their welfare in 1989 a seprate commission for the welfare of women was established. This commission had given a report of 130 pages in the annual function (1992-93) which was first held after three and a half years of its establishment. The report of this commission gave the actual facts and datas of the progress of women though it also reported some greater pitfalls like dowry, violence, illiteracy, sex-corruption etc. These are some curses which fair sex has to bear. Shakespeare in his 'Julius Caesar' has rightly said :

'The faults, dear Brutus, is not in our stars.
'But in our selves, that we are underlings'

The society is at fault when it ignores the talents and qualities of women. The faults are not in the stars of women Therefore, this commission has given many suggestions to the central government for the upliftment of the status of women. They are registration of marriage, abolition of Sati-Pratha, no child marriage, no sale of girls, participation of women in the government services and one third seats in Lok Sabha and assemblies for women. Now people began to think that woman is not a 'Subspecies.' She is a human being with a mind to think and heart to feel. The craving in her mind, to develop her ego, to think independently, to take important decisions about social order side by side with men, is not dead in her. She is not a 'second sex' but an equal sex. The old thinking of 'preference for the male child' is now changing. Now both sons and daughters are given equal importance. The brain washing is a healthy sign in the development of women's personality. Woman was worshipped by our saints in older days.

Swami Vivekanand says, The extent to which society gives equal proportion to its women is a measure of its progress.' In the remote past, Manu had pioneered for the progress of women. He was of the opinion of proper education for women Not only Manu, but so many Indian scholars, sages and, of course, intellectual leaders showed a keen solicitude for women's honour and upliftment.

Nature has given physical strangth to man but for women, the bondage of reproduction was a great handicap in the struggle against the hostile world. Pregnancy, child-birth and menstruction reduced her capacity for work. And, therefore, she had to depend upon men for protection and food. As against this, women proved basically reticent and undynamic. She seldom raised a voice in protest. It is the man who desires of maintaining his superior physical status, has invented that divergence, domination and protection of women. He has relegated women to a lower position by confining them to the four walls, but later on with the improvement of communications, transport and travelling. India came into contact with the outside world resulting in closer social and cultural intercourse This increased the respectful sentiments towards them. They assumed a new hue and suffered a decline. The great saints and social workers like Keshab Chandra sen, Bankim Chandra Chatterji, Ravindra Nath Tagore, Ishwar Chandra Vidyasagar, raised the importance of women through press and platform. They opposed polygamy and child-marriage. Brahmo Samaj was established which fought for raising the age of marriage for girls and also for giving women higher education, Sati System was opposed by Raja Ram Mohan Roy and the government of India and the Viceroy Lord William Bentinck declared the system illegal: Swami Dayanand Sarswati also did yeoman's service to women's

cause through Arya Samaj. He was a great advocate for wamen's education. Swami Vivekanand drew attention repeatedly to the intellectual fields for woman and blamed the priest craft for relegating them to a backward position by denying them equal rights with men, in education and in the knowledge of scriptures and their propagation. Once he said, "If you do not raise the women who are the living embodiment of Divine Mother, don't think that you have any other way to rise. Daughters should be supported and educated with as much as care as the sons. They were also admitted as sanyasins, breaking traditional Hindu taboos on their inclusion in monkdom.

In the last part of the present century the wiser sections of the society began to realize that woman was not the useless counter-part of man, but rather the enchanted spot where the living alliance between man and nature is brought about. The government is paying attention towards the education of women, even for the rural women. It is a matter of pride that the women are now taking interest in this field. A large portion of them living in rural ereas are now literate. They are helping them selves in uplifting their social progress The social success is possible only with the combined efforts of all the three elements, the governments, the men and the women. Fortunately, now the emphasis has been given on the participation of woman in every walk and field of life. There is a national consciousness among the populace through press, platform, Radio, TV, and other mass-media Now there is a broaden outlook and kindly fellow feelings for women amongst men. They have true and equal status like that of men in the sociey. Onr constitution forbids sexual discrimination, quarantees women, social, economic and political justice, liberry of though and expression and equality of status and opportunity side by side with men. Women are now in politics, high offices of the government. They are social reformers educationists, journalists etc. In present elections some seats are reserved for them They are contributing in every field and walk of life. They are on the threshold of development. We are sure that in future they will share equal rights and duties with the best cooperation of men.

—●—

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
उपसम्पादक
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

गुरुकुल-पत्रिका

शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर - वेद विभाग
एवं
निदेशक -
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

उपसम्पादक -
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार- 249404

मार्च, अप्रैल, मई, जून	वर्ष	फाल्गुन, चैत्र, बैशाख, ज्येष्ठ
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

प्रकाशक : प्रो० श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार- २४९४०४

मूल्य : २५ रुपये (वार्षिक)

किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फ़ार्मेसी, कनखल फोनः 425975

विषय-सूची

श्रुति-सुधा

ओं माहिर्भूर्मा पृदाकुनमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि।
घृतस्य कुल्याऽउपऋहतस्य पथ्याऽअनु।।

यजु० ६.१२

पदार्थ- हे (आतान) अच्छे प्रकार सुख के विस्तार करनेवाले विद्वान! तू (मा) मत (अहि:) सर्प के समान कुटिलमार्गगामी और (मा) मत (पृदाकु:) मूर्खजन के समान अभिमानी व व्याघ्र के समान हिंसा करने वाला (भू:) हो (ति) (नम:) सब जगह तेरे सुख के लिए अन्न आदि पदार्थ पहले ही प्रवृत्त हो रहे हैं और (अनर्वा) अश्व आदि सवारी के बिना निराश्रय पुरुष जैसे (धृतस्य) जल की (कुल्या:) बड़ी धाराओं को प्राप्त हो वैसे (ऋतस्य) सत्य के (पथ्या:) मार्गों को प्राप्त हो।

भावार्थ- किसी मनुष्य को कुटिलगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्ममार्ग में कुटिल न होना चाहिए किन्तु सर्वदा सरलभाव से ही रहना चाहिये।

(महर्षि दयानन्द सरस्वती)

आधुनिक हिन्दी में कर्त्ता और विधेय का निर्धारण और उनका अर्थपरक व वाक्यविन्यासी विश्लेषण

ओलेग. उलत्सिफेरोव[1]

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी (आगे आसाहि) में बनावट और व्याकरणिक अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं: उद्देश्यप्रधान जिसमें उद्देश्य एकवचन तथा बहुवचन के परसर्गहीन रुप में विधेय से नियमानुसार समन्वित होता है और कर्त्ताप्रधान जिसमें कर्त्ता सदा परसर्गसहित प्रयुक्त होता है और इसलिए विधेय से समन्वित नहीं होता। आसाहि में एक प्रकार के उद्देश्यप्रधान वाक्य (*बालक किताब पढ़ता है*) का मुकाबला सात प्रकार के कर्त्ताप्रधान वाक्यों से होता है जिनमें निम्नलिखित वाक्य आते हैं : १. साधक कारकीय (*बालक ने किताब पढ़ी*), २. कर्मवाच्य (*बालक द्वारा किताब पढ़ी गयी*), ३. संप्रदानवाचक (*बालक को किताब पढ़नी पड़ी*), ४. भाववाच्य (*बालक से किताब नहीं पढ़ी जाती*), ५. स्वामित्ववाचक (*बालक के पास किताब नहीं है*), ६. स्थानवायक (*बालक में हिम्मत नहीं है*) और ७. तुमर्थपरक (*बालक को किताब पढ़ना आवश्यक है*)।

अविस्तृत उद्देश्यप्रधान वाक्य अनिवार्यत: द्विघटकीय होता है जिसमें विधेय के साथ एकवचन तथा बहुवचन के परसर्गहीन रुप में उद्देश्य जो यहां कर्त्ता की भूमिका भी निभाता है यानी कर्त्तावाचक उद्देश्य आता है। विधेय निम्नलिखित रुपो में आता है : १. पुरुषवाचक (*मैं चलूं*), २. पुरुषवाचक-लिंगदर्शक (*बालक आयेगा*), ३. कर्तृवाच्य के अपूर्ण कृदंत (*बालक नहीं सोता*), ४. कर्तृवाच्य के पूर्ण कृदंत (*बालक आया*), ५. पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक (*आदमी पिये हुए था*), ६. संतत कृदंत (*बालक जा रहा है*), ७. स्थायी गुणवाचक कृदंत (*बालक जाने वाला है*), ८. नामिक अंक (*आसमान नीला*)।

भाषीय प्रयोग के प्रभावस्वरुप ऐसे वाक्यों में (मुख्यत: बोलचाल की भाषा में) कोई एक मुख्य संघटक छूट सकता है, परन्तु वह सदा अपना स्थान सुरक्षित रखता है : *तुम चलोगे?, चलूंगा, वह आया? हां, अकेली रातें, प्रभात और संध्या बेलाएं, जलती दोपहरी* (चतुरसेन शास्त्री)।

अविस्तृत साधक कारकीय वाक्य अनिवार्यत: त्रिघटकीय होता है। इसमें कर्त्ता ने परसर्गसहित आता

---

१. लेखक रुस में हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् के रुप में जाने जाते हैं। दिल्लीस्थ रुसी दूतावास में भूतपूर्व संस्कृति विभागाध्यक्ष एवं रुसी विदेश मंत्रालय के वरिष्ठ परामर्शदाता, रुस भारत मैत्री संघ के कार्यकारिणी सदस्य के रुप में जाने जाते हैं। 'हिन्दी में शब्द बन्ध' और 'हिन्दी में क्रिया' 'हिन्दी का व्यांवहारीक कोश' 'हिन्दी का भाषा वैज्ञानिक शब्द कोश' आपकी विशिष्ट हिन्दी रचनाऐं हैं।

–सम्पादक

है, सकर्मक क्रिया का परसर्गहीन मुख्य कर्म वाक्यगत उद्देश्य का स्थान लेता है जिसके साथ विधेय नियमानुसार समन्वित होता है : *बालक ने किताब पढ़ी*। यदि मुख्य कर्म परसर्गसहित प्रयुक्त होता है तो वाक्य उद्देश्यहीन रह जाता है जिसके कारण विधेय भाववाचक हो जाता है : *बालक ने किताब को पढ़ा*।

भाषायी प्रयोग के प्रभावस्वरुप यहां (विशेषकर बोलचाल की भाषा में) कोई एक या कोई दो मुख्य संघटक छूट सकते है : *किसने किताब पढ़ी? बालक ने, बालक ने क्या पढ़ा? किताब*। इसके अतिरिक्त उद्देश्य आश्रित वाक्य में रुपांतरित हो सकता है *उसने कहा कि .....*।

अविस्तृत कर्मवाच्य वाक्य भी अनिवार्यतः त्रिघटकीय होता है, हालांकि भाषीय प्रयोग के प्रभावस्वरुप व्यापार का कर्त्ता अपना स्थान सुरक्षित रखते हुए अक्सर लुप्त होता है। इस कारण से यह वाक्य साधक कारकीय वाक्य से भिन्न होता है क्योंकि इसमें कर्त्ता संरचनात्मक तौर पर सदा ही उपस्थित होता है। सकर्मक क्रिया का परसर्गहीन मुख्य कर्म यहां भी वाक्यगत उद्देश्य हो जाता है जिसके साथ विधेय नियमानुसार समन्वित होता है : किताब (*बालक द्वारा*) पढ़ी गयी। अगर यह कर्म परसर्गहीन प्रयुक्त होता है तो वाक्य उद्देश्यहीन रह जाता है जिसके कारण विधेय भाववाचक हो जाता है (*बालक को बुलाया गया*)।

अविस्तृत संप्रदानवाचक वाक्यों को पांच श्रेणीयों में बाँटा जा सकता है जिनमें दो मुख्य हैं। इन वाक्यों की विशेषता यह है कि इनमें कर्त्ता सदा ही *को* परसर्गसहित आता है।

पहली श्रेणी में आवश्यकताबोधक रचनाएं आती हैं जिनका विधेय *पड़ना* एवं *होना* क्रियाओं तथा चाहिए क्रियार्थक शब्द और कृदंतपरक (विकारी) तुमर्थ के योग से बनता है। अकर्मक तुमर्थ के चलते रचना द्विघटकीय होता है और सकर्मक तुमर्थ के चलते त्रिघटकीय होती है। सकर्मक क्रिया को परसर्गहीन कर्म यहां भी वाक्यगत उद्देश्य बन जाता है : *बालक को जाना है, बालक को किताब पढ़नी है*। ऐसी रचनाओं में कर्म सपरसर्ग बहुत कम आता है।

दूसरी श्रेणी में स्थायी त्रिघटकीय रचनाएं आती है जो लक्षणान्वित कर्त्ता, वाक्यगत उद्देश्य के कार्य में प्रयुक्त होने वाली संज्ञा, जो प्रभावन का सामान्य अर्थ प्रकट करती है, और हैं (*होना*) स्थितिदर्शक संयोजक क्रिया के योग से बनती है। यहां आने वाली संज्ञाओं की प्रायः बंद सूची है जिसमें ६० संज्ञाएं आती है : *इससे पंडित सर्वदयाल को घृणा थी* (जैनेन्द्र कुमार), *प्यारी को कोई बेचैनी नहीं होती* (रांगेय राघव)। यहां भी भाषा प्रयोगके प्रभावस्वरुप (मुख्यतः बोलचाल की भाषा में) कर्त्ता छूट सकता है : *आपसे मिलकर बड़ी खुशी है*।

अविस्तृत भाववाच्य वाक्य में *जाना* सहायक क्रिया से बने पूर्ण कृदंत के रुप प्रयुक्त होते हैं। साधक कारकीय वाक्यों के प्रतिकूल यहां न केवल सकर्मक वरन् अकर्मक क्रियाओं से बने कृदंत भी आते हैं। सकर्मक क्रिया के चलते रचना त्रिघटकीय है और अकर्मक क्रिया के चलते द्विघटकीय है। कर्मवाच्य वाक्य के प्रतिकूल यहां *से* परसर्गसहित कर्त्ता केवल विशेष अर्थगत स्थितियों में छूट सकता है। यहां व्यापार की अपनी विशेषता भी है क्योंकि यहां व्यापार संपन्न करने की कर्त्ता की असमर्थता या अनिच्छा पर जोर दिया जाता है। इसी

कारण से विधेय बहुधा नकारात्मक आता है। त्रिघटकीय रचना में विधेय नियमानुसार वाक्यगत उद्देश्य से समन्वित होता है : *मेरा सुख भगवान् से नहीं देखा गया* (प्रेमचंद), ... *पर यहां आठों पहर की बकबक उससे न सही गयी* (प्रेमचंद)। द्विघटकीय रचना में विधेय सदा भाववाचक रूप में आता है : मुझसे तो ऊपर न लेटा गया (अश्क), *उसकी स्त्री से न रहा गया* (प्रेमचंद)।

सामान्यकृत कर्त्ता यहां मुख्यतः लुप्त होता है : तकदीर से लड़ा नहीं जाता (चार दरवेश की कहानी) एक *निश्चित धन देने पर उसका सदस्य बना जा सकता है* (आर.के. गुप्त)।

अविस्तृत स्वामित्ववाचक वाक्य संरचनात्मक-अर्थपरक दृष्टि से सब से स्थिर है क्योंकि संरचनात्मक बनावट की दृष्टि से वह सदा ही त्रिघटकीय है। इस रचना का कर्त्ता के पास और के यहां और इसी अर्थ में प्रयुक्त के स्वामित्वसूचक परसर्गों के साथ आता है : *बड़े आदमियों के पास धन है* (प्रेमचंद), *सत्यवान के कोई संतान नहीं हुई* (भोलानाथ तिवारी)।

अविस्तृत स्थानवाचक वाक्य भी स्थिर होता है। यहां कर्त्ता में परसर्ग के साथ आता है और वाक्यगत उद्देश्य भाववाचक संज्ञा द्वारा व्यक्त होता है : *मृदुला में संकीर्णता और ईर्ष्या न थी* (प्रेमचंद)।

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, दो अंतिम वाक्यभेदों में विधेय की हैसियत से *ह (होना)* स्थितिदर्शक क्रिया आती है।

तुमर्थपरक वाक्यों में आसहि में तुमर्थ की विशेषता के कारण ही तुमर्थ और विधेय का समन्वय नहीं हो सकता है और विधेय न केवल संलग्न संज्ञा से अन्वित होता है बल्कि वह तुमर्थ से सार्थक विराम से ही अलग हो सकता है जो लिखने में कामा (अर्द्धविराम) द्वारा दिखाया जाता है: *बड़ा हाशिया छोड़कर लिखना, दफ्तर में एक उन्हीं की आदत थी* (शानी)। इस तरह तुमर्थपरक वाक्य मानों दो भागों में विभक्त होता है : तुमर्थ द्वारा व्यक्त प्रकरण (टोपिक), जिसमें पूरानी सूचना निहित है, और संज्ञा और विधेय से बने पदबंध द्वारा प्रकट विवरण (कामेन्टरी), जिसमें नयी सूचना निहित है : *उसका न चुना जाना मेरी पराजय थी* (अश्क)। यहां विधेय के प्रकार्य में मुख्यतः *ह (होना)* स्थितिसूचक क्रिया आती है।

आसाहि में एक और विशेषता है प्रेरणार्थक क्रियाओं के साथ अनेक कर्त्ताओं का प्रयोग जिसके कारण वाक्य में वाक्यगत उद्देश्य के अतिरिक्त तीन कर्त्ता उपस्थित हो सकते है। *अम्मा ने आया से बच्चे को दूध पिलाया* वाक्य में पहले दर्जे का कर्त्ता है (*अम्मा ने*), जो दूसरे दर्जे के प्रेरित कर्त्ता (*आया से*) को आदेश देता है कि वह बच्चे को दूध पिला दे। बच्चे को का संघटक व्यापार के प्रच्छन्न कर्त्ता के प्रकार्य में आता है क्योंकि वास्तव में बच्चे ही ने दूध पिया। प्रेरणार्थक विधेय (*पिलाया*) वाक्यगत उद्देश्य (*दूध*) के साथ नियमानुसार समन्वित होता है। जब प्रच्छन्न कर्त्ता प्रयुक्त नहीं होता तो रचना द्विकर्त्तावाचक हो जाती है : *डाक्टर साहब ने साईस से कुछ आम तुड़वाये* (प्रेमचंद)। भाषीय प्रयोग के प्रभावानुसार दूसरे दर्जे का प्रेरित कर्त्ता अपना स्थान सुरक्षित करते हुए लुप्त हो सकता है : *शाहजहां ने ताजमहल बनवाया*।

जैसा कि उपरोक्त सभी उदाहरणों से विदित होता है, आसाहि में सरल अविस्तृत वाक्य अनिवार्यतः द्विघटकीय यानी कर्त्ता और विधेय से बना होता है : *मुझे जाना है, बालक से सोया नहीं जाता*। कुछ रचनाओं में कर्त्ता और उद्देश्य का प्रकार्य एकीभूत हो जाता है और तब एक नयी व्याकरणिक कोटि बन जाती है कर्त्तावाचक उद्देश्य : *बालक आएगा, बालक पढ़ता है, बालक गया*। सरल अविस्तृत वाक्य तब अनिवार्यतः त्रिघटकीय हो जाता है जब इसमें कर्त्ता और विधेय के अतिरिक्त वाक्यगत उद्देश्य आता है। इसके प्रकार्य में निम्न पदरुप प्रयुक्त हो सकते है : १. क्रिया का कर्मवाचक विस्तारक जो कुछ उपरोक्त वाक्यों में वाक्यगत उद्देश्य की भूमिका निभाता है, २. प्रभावन के अर्थ में प्रयुक्त होने वाली कुछ संज्ञाएं, ३. निश्चित अर्थश्रेणियों की कुछ जातिवाचक एवं भाववाचक संज्ञाएं (स्वामित्ववाचक और स्थानवाचक वाक्यों में), ४. विधेय संलग्न संज्ञाएं (तुमर्थपरक वाक्य में)।

जैसा कि अच्छी तरह ज्ञात है, कर्त्ता व्यापार (या प्रक्रिया) का एक मुख्य पात्र है जिसका चुनाव विधेय के शाब्दिक-व्याकरणिक रुप और अर्थपरक सार के आधार पर किया जाता है।

आसाहि में विधेय की उन विशेषताओं के आधार पर कर्त्ता (कर्त्तावाचक उद्देश्य सहित) के निम्नलिखित भेद है :

१. वास्तविक व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संतत कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक जा रहा है*। साथ ही कर्तृवाची तथा करणवाची परसर्गो समेत नाम भी आते हैं : *बालक ने किताब पढ़ी, हितमित्रों से दबाव डलवाया गया* (कामता सिंह), यह किताब प्रेमचंद की लिखी है।

इस श्रेणी में सांकेतिक वास्तविक व्यापार का कर्त्ता भी आता है जिसके विधेय के प्रकार्य में संकेतार्थ के पूर्ण एवं संतत रुप प्रयुक्त होते है : *यदि मैंने उसे घर से निकाल न दिया होता तो इस भाँति उसका पतन न होता* (प्रेमचंद), *अगर दूसरी कोई ट्रैन लखनऊ जा रही होती तो वह उसी दम लौट पड़ता* (अमृतलाल नागर)।

२. अनुमानित व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित नाम आता है जो प्रक्रियावाचक पुरुषवाचक-लिंगसूचक कृदंत से व्यक्त होता है : *बालक आएगा*। विधेय के प्रकार्य में यहां संयोजक क्रिया समेत स्थायी गुणवाचक कृदंत या परसर्गसहित तुमर्थ भी प्रयुक्त हो सकते हैं : *बालक जाने वाला है, बालक जाने को है*।

३. संभाव्य व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित नाम आता है जो पुरुषादिबोधक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक आए तो कितना अच्छा होता*।

४. प्रेरणादायक व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम (मुख्यतः सर्वनाम) आता है जो आज्ञार्थ के रुपों द्वारा व्यक्त होता है : *तुम जाओ*।

५. प्रक्रियात्मक अवस्था का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता

है जो संयोजक क्रिया सहित/रहित अपूर्ण कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक पढ़ता है, बालक नहीं सोता*। यहां लाक्षणिक प्रयोग के कृदंतरुप भी आते है : *घड़ी चलती है, बांसुरी बजती है*।

इस श्रेणी में सांकेतिक प्रक्रियात्मक अवस्था का कर्त्ता भी आता है जिसका विधेय संकेतार्थ के सरल और अपूर्ण कृदंतरुपों द्वारा व्यक्त होता है : *तू मुझे मन से न चाहता होता, तो तू मुझे क्यों मारता?* (रांगेय राघव)

६. परिणामी अवस्था का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो अकर्मक क्रियाओं से बने पूर्ण कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक आया, बालक बोला*।

इस श्रेणी में सांकेतिक परिणामी अवस्था का कर्त्ता भी आता है जिसका विधेय संकेतार्थ के पूर्ण रुप द्वारा व्यक्त होता है : *मैं चला गया होता, मगर मुझे सावक की प्रतीक्षा थी* (मंटो)।

७. संप्रदानवाचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य द्वारा व्यक्त होता है : क) आवश्यकताबोधक द्विक्रियावाची: *बालक को जाना पड़ा*, ख) "*तुमर्थ + आना क्रिया*" द्विक्रियावाची : *बालक को तैरना आता है*, ग) संयोजक सहित मन : स्थिति अनुमानवाचक अर्थ रखने वाले विशेषण : *बालक को वहां जाना आवश्यक है*, घ) प्रभावन का अर्थ रखने वाले वाक्यगत उद्देश्य से संबंधित विधेय के प्रकार्य में प्रयुक्त *ह (होना)* क्रियारुप : *बालक को सेब पसंद है, बालक को यह जानकर खुशी हुई*, च) कुछ विशिष्ट अकर्मक क्रियाएं : *बालक को पत्र मिला, बालक को यह कपड़ा नहीं भाता*।

८. करणवाचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित से परसर्गसहित नाम आता है जो भाववाच्य कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *किसी से पानी नहीं पिया गया* (प्रेमचंद), *बालक से सोया नहीं जाता*।

९. स्वामित्वसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित के पास, के यहां और के परसर्गो सहित नाम आता है जो *ह (होना)* स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक के पास दो कापियां हैं, सीता के एक बच्ची थी*।

१०. स्थानसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित में परसर्गसहित सजीव (प्राणिवाचक) नाम आता है जो *ह (होना)* स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक में हिम्मत नहीं, जानवरों में तो सहज ज्ञान होता है*।

११. अस्तित्वसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो *ह (होना)* स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *पिता जी घर में हैं, यहां बच्चों के लिए दूध भी नहीं है* (कृशन चंदर)। ऐसे वाक्यों में अनिवार्य संघटक के बतौर क्रियाविशेषक प्रयुक्त होते हैं।

१२. गुणधारी (गुणात्मक) कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक क्रिया सहित नामिक अंग द्वारा व्यक्त होता है : *आमदनी अच्छी थी* (यशपाल), *परदा बोरी के टाट का नहीं, बढ़िया किस्म का रहता* (यशपाल), *डाक्टर खुदा तो नहीं है* (राजेंद्र यादव), *तुम कौन चार बरस की नहीं हो* (अश्क)।

१३. निश्चित मात्रा का कर्त्ता (मात्रात्मक कर्त्ता) जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित सांख्यांक द्वारा व्यक्त होता है : *बालक चार थे।*

१४. विशेषतादर्शक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित संज्ञा द्वारा व्यक्त होता है : *बालक छात्र है, भेड़िया हिंसक पशु है, ताड़ सदाबहार पादप है।*

१५. सामाजिक या रिश्तेदार जैसे संबंधों का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित नामिक अंग द्वारा व्यक्त होता है और नाम विशेष शब्दों द्वारा प्रकट होता है : *बालक मेरा भाई है, वे बालक हमारे रिश्तेदार हैं, राकेश बाबू इनका दोस्त है।*

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, कर्त्तावाचक पदिमों की यह व्याख्या अन्य व्याकरणवेताओं द्वारा निर्धारित परंपरागत सीमाओं से बाहर जाती है जब कर्त्ता केवल परसर्गहीन रुपों या ने परसर्गसहित रुपों में परिसीमित होता था।

उल्लेखनीय है कि भारतीय वैयाकरण अंग्रेजी या रुसी वैज्ञानिकों के विपरीत कर्त्ता के प्रकार्य में प्रयुक्त शब्दरुपों का समूह विस्तृत करते हैं। गुरु जी ने कर्त्ता के निम्न रुपों का वर्णन किया है : *मुझे वहां जाना है, काजी को यह हुक्म देते बना, लड़के से चला नहीं जाता।* किशोरीदास वाजपेयी भी कर्त्ता की इस व्याख्या का समर्थन करते हैं।

विधेय का वर्णन भी भिन्न दृष्टि से करना चाहिए क्योंकि निश्चयार्थ में इसके प्रकार्य में पुरुषादिबोधक रुप प्रयुक्त नहीं होते। अत: आसाहि में पुरुषवाचक क्रियाओं द्वारा व्यक्त विधेय प्रधान नहीं होता क्योंकि यहां विधेय मुख्यत: कृदंत या नाम के रुप में आता है : *बालक पढ़ता है, बालक छात्र है, बालक पढ़ेगा।* इस कारण वास्तविक व्यापार के कर्त्ता का प्रयोग काफी सीमित होता है और आसाहि में अन्य शब्दार्थ कोटियों के कर्त्ता अग्रणी स्थान लेते है।

संतत कृदंतो के चलते भी जिनको भाषायी प्रयोग के प्रभावस्वरुप उक्ति के क्षण में होने वाले व्यापार को व्यक्त करना होता है कर्त्ता (*कम से कम कालक्रमिक दृष्टि से*) परिणामी अवस्था का द्योतक होता है। (वह) जा रहा है का विधेय कालक्रमिक दृष्टि से निम्न अंगो में विभक्त होता है : *जाकर रहा है* यानी किसी विगत क्षण में जाना आरम्भ करके कोई जाना की स्थिति में होता है। *बाबू जी उस समय ऊपर कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे* (प्रेमचंद) जैसे वाक्य में विधेय का अर्थ यह है कि *बाबू जी* काल के क्षण से पहले पढ़ना आरंभ करके काली के क्षण में ही इसी स्थिति में है। कर्त्ता की इस परिणामी अवस्था को पूर्ण कृदंतरुप रहा इंगित करता है।

अत: आसाहि में विधेय का वर्गीकरण इसके अंगों की संरचनात्मक-अर्थपरक प्रकृति को देखकर करना चाहिए।

भारत की व्याकरणिक परंपरा से सहारा लेकर विधेय चार भेदों में विभक्त हो सकता है : १) तिङन्ती, २) कृदंती, ३) तिङन्ती-(कृदंती-तिङन्ती) और ४) नामिक जिनमें कृदंती विधेय मुख्य है। भारतीय वैयाकरणों

के मतानुसार तिङन्ती रुप साध्य है, कृदंती रुप वास्तविक हैं और तिङन्ती-कृदंती रुप भी मुख्यत: वास्तविक हैं। इन सब रुपों का वृत्तित्व संयोजक क्रिया से प्रतिबंधित होता है।

संभावनार्थ के संश्लिष्ट रुप और आज्ञार्थ के रुप शुद्ध तिङन्ती हैं। भविष्यत् काल के संश्लिष्ट रुप जो संभावनार्थ के संश्ष्टि रुपों से ग मध्यप्रत्यय और लिंगसूचक अंत प्रत्यय जूड़ने से बनते हैं किशोरीदास वाजपेयी के मतानुसार संभावनार्थ की तुलना में अधिक निश्चितता व्यक्त करते हैं। तिस पर भी भविषयत् काल के रुप सप्रतिबंध वास्तविक व्यापार व्यक्त करते है।

आसाहि में संरचना के अनुसार विधेय तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं : *सरल, संयुक्त और जटिल*।

पहली श्रेणी में ऐसे विधेय आते हैं जो संयोजक क्रिया सहित/रहित एक ही क्रियार्थक या नामिक अंग से बने होते है। दूसरी श्रेणी में वे विधेय आते हैं जो दो या अधिक क्रियार्थक या नामिक अंगों से बने होते हैं और जो स्थायी अर्थपरक-वाक्यगत इकाई गठित करते हैं। तीसरी श्रेणी में वे विधेय आते हैं जो स्वतंत्र या स्थायी शब्दबंधो (क्रियाबंधों) से बने होते है।

एक लेख में आसाहि में मिलने वाले विधेयों के सभी रुपों का विस्तृत वर्णन करना संभव नहीं है, अत: यहां सब से अधिक प्रचलित रुपों की व्याख्या की गयी है।

सरल विधेय निम्न उपश्रेणियों में बंट सकते हैं :

१) तिङन्ती जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध कृदंती : *मैं आऊं*, ख) तिङन्ती-कृदंती : *मैं जाऊंगा (जाऊंगी)*।

२. कृदंती जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध कृदंती : *वह आया, अगर वह आता ...., उसने कहा* और ख) कृदंती-संयोजक : *वह आता है, वह आया (हुआ) था, वह चाय पीता होता है, उसने खिड़की खोली (हुई) थी, ... जिसकी मूर्त्ति का वचन दल ने ..... जनता को दिया हुआ होता है* (बी.बी. चौधरी), *इस तरह लौट आऊंगा जैसे कुछ भी न हुआ हो* (राजेंद्र यादव), *तुमने बीस-एक पूरियां खायी होंगी* (प्रेमचंद), *तू मुझे मन से न चाहता होता, तो तू मुझे मारता क्यों?* (रांगेय राघव)।

३) नामिक जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध नामिक : *आसमान साफ, खुला और नीला...* (कृशन चंदर) और ख) नामिक-संयोजक : *तू कपूत है* (मोहन राकेश), *दर्शकों की भीड़ भी कम न थी* (जयशंकर प्रसाद), *प्रतिवर्ष कृषि का वह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता है* (जयशंकर प्रसाद)।

सरल कृदंती विधेय में कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रुप भी आते हैं जो पूर्ण कृदंत तथा जाना अर्थहीन क्रिया के रुपों के योग से बनते हैं : *मधुलिका बुलायी गयी* (जयशंकर प्रसाद), *मेरा सुख भगवान् से न देखा न गया* (प्रेमचंद), *मैं बुलाया गया हूं*। यहां पूर्ण कृदंत के स्थान पर पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत का प्रयोग भी हो सकता है : *वह..... फरियां पहने थी* (रांगेय राघव)।

अर्थ की दृष्टि से इस श्रेणी में संतत कृदंत के विधेय क्रियारुप भी आते हैं जो कालक्रमिक दृष्टि से अवधाारण पक्ष के आधार पर उत्पन्न हुए थे तुलना कीजिये : *वह बैठ रही है* और (वह) *अज्ञात देवता के आगे ..रही* (मोहन राकेश)। और जो अर्थ और संरचना को लेकर इस पक्ष से संबंध रखते हैं। परन्तु संतत कृदंत की इस क्षमता को ध्यान में रखते हुए कि यह कृदंत प्राकारिक कृदंतो की भाँति विशेषण के प्रकार्य में आ सकता है इसे सरल विधेय की श्रेणी में सम्मिलित करना उचित जान पड़ता है। इस कृदंत के संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि अर्थपरक तथा व्याकरणिक दृष्टि से इसके अर्थविकार की प्रक्रिया जारी रहती है और अब वह मुख्यत: उक्ति के क्षण में होने वाले व्यापार का अर्थ व्यक्त करता है। ऐसे में वह अपूर्ण कृदंत से भिन्न होता है क्योंकि अपूर्ण कृदंत दो प्रकार का व्यापार प्रकट करता है : उक्ति के क्षण में होने वाला और नियमित रुप से होने वाला व्यापार (*बालक स्कूल में जाता है का अर्थ है अब ही जा रहा है और नियमित तौर पर जाता है*।)

"नाम + होना क्रिया" का वह अखंड क्रियाबंध भी सरल विधेय में आता है जिसके शाब्दिक पूरक के प्रकार्य में व्याकरणिक लक्षणों रहित (यानी विव्याकरणिकीकृत) संज्ञा प्रयुक्त होती है : *पाठ शुरु हुआ*।

संयुक्त विधेय कृदंती-तिङन्ती, नामिक-तिङन्ती, नामिक-कृदंती और कृदंती-कृदंती में विभक्त होता है।

कृदंती-तिङन्ती संयुक्त विधेय में वे अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनका शब्दार्थ अंग कृदंत द्वारा और व्याकरणिक अंग पुरुषवाचक या पुरुषवाचक-लिंगसूचक क्रियारुप द्वारा व्यक्त होता है : *जयचंद्र जी ने परामर्श दिया कि मैं ...हथियारों का संग्रह बढ़ाता चलूं* (यशपाल), *...जिन्दगी भर मैं तुम्हारे लिए रोती रहूंगी* (कृशन चंदर), (यशपाल)।

नामिक-तिङन्ती संयुक्त विधेय में वे "नाम + होना क्रिया" अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनके व्यापार के शाब्दिक पूरक विव्याकरणिकीकृत संज्ञाओं द्वारा व्यक्त होते हैं और करना क्रिया तिङन्ती या तिङन्ती-कृदंती रुप में प्रयुक्त होती है : *उसने कहा कि मैं सभा शुरु करुं, मैं आपकी बातें याद करुंगी*।

नामिक-कृदंती संयुक्त विधेय में उपरोक्त अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनमें करना क्रिया (संयोजक सहित/रहित) कृदंत रुप में प्रयुक्त होती है : *मैंने पाठ शुरु किया, उसने अपनी भूल स्वीकार की थी*।

कृदंती-कृदंती संयुक्त विधेय में वे द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जिनकी मुख्य रंजक क्रियाएं (संयोजक सहित/रहित) कृदंतरुप में प्रयुक्त होती हैं : *वह दिन भर रोती रही, पानी बढ़ता जाता है*।

संयुक्त विधेय में वे "क्रियार्थक नाम + रंजक क्रिया" द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जो पौन: पुनिक पक्ष का अर्थ व्यक्त करती हैं : *वह हमारे यहां आया करती है*। रंजक क्रिया कृदंती या तिङन्ती रुपों में आ सकती है : *हमारे यहां आया करो*। जैसा कि उदाहरणों से विदित है क्रियार्थक नाम पूर्ण कृदंत का अविकारी (स्थिर) समरुप है।

संयुक्त विधेय में "धातुरुपी कृदंत + करना क्रिया" द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जिनकी रंजक क्रिया (पक्षवाचक या वृत्तिवाचक) तिङन्ती या कृदंती रुपों में प्रयुक्त हो सकती हैं : *तुम चाहती हो कि मैं मर जाऊं*

(कृशन चंदर), *मैंने अपने दोस्त को एक किताब खरीद दी, आप हिन्दी में बोल सकते हैं?, पुलिस चोर को पकड़ न पायी।*

संयुक्त विधेय में आवश्यकताबोधक संप्रदान वाचक रचनाएं आती हैं जो कृदंतपर (विकारी) तुमर्थ और ह (होना) एवं पड़ना के क्रियारुपों और क्रियार्थक शब्द चाहिए के योग से बनती है : *बालक को जाना है (जाना पड़ा, जाना चाहिए)।*

द्विक्रियावाची रचनाओं और अखंड क्रियाबंधों में रंजक तथा सहायक (रुपसृजक) क्रियाएं न केवल सरल विधेय के रुप में आती हैं बल्कि वे वृत्तिवाचक एवं पक्षवाचक सूचको के साथ जुटकर वृहद् संयुक्त विधेय बनाती हैं : *मैं सभा शुरु कर सकुं?, मैंने अपनी भूल स्वीकार कर ली, वह...बही चली जा रही होगी* (रांगेय राघव)।

निरपेक्ष अखंड क्रियाबंध (यानी पूर्णत: विव्याकरणिकीकृत नाम सहित क्रियाबंध) और द्विक्रियावाची वृत्तिवाचक या पक्षवाचक रचनाएं संयुक्त विधेय में इसलिए सम्मिलित की जा सकती हैं कि वे रचना के दो केंद्रो (शाब्दिक और व्याकरणिक) के बावजूद स्वतंत्र क्रियाप्रधान शब्दबंध को नहीं बनाती क्योंकि वे एक ही एकीकृत वस्तुवाचक अर्थ रखती हैं और एक ही विचार या धारणा व्यक्त करती हैं। अर्थ की दृष्टि से वे स्पष्टत: दो या अधिक अंगों से बनी होती हैं। साथ ही संजक रंजक या सहायक क्रियाएं प्राय: सदा ही अपना वस्तुपरक अर्थ, जो बचा-खुचा भी हो सकता हैं, सुरक्षित रखती है। अपवाद के तौर पर यहां जाना रंजक क्रिया आती है जो कुछ रचनाओं में अपना वस्तुपरक अर्थ पूर्णत: खासेकर व्यापार के समापन के शुद्ध सूचक के प्रकार्य में प्रयुक्त होती हैं : *हम आ गये, मुझे किताब मिल गयी।*

जटिल विधेय भी नामिक-तिङन्ती, नामिक-कृदंती, तिङन्ती-तिङन्ती, तिङन्ती-कृदंती और कृदंती-कृदंती में विभक्त होता है।

नामिक-तिङन्ती जटिल विधेय में "विशेषण (क्रियाविशेषण) + करना क्रिया" वाक्यविन्यासोत्तर रचनाएं आती हैं जिनमें विशेषण (क्रियाविशेषण) उस व्यापार के शाब्दिक पूरक बन जाते हैं जो करना क्रिया के पुरुषादिबोधक रुपों द्वारा प्रकट होता है : *बिस्तर गोल कर दो* (मंटो), *मैं फिर खुदा से दुआ करती हूं कि वह हमारे दिलों को अपनी रोशनी करे* (प्रेमचंद), *यह सूटकेस पीछे करो।*

नामिक-कृदंती जटिल विधेय उपरोक्त वाक्यविन्यासोत्तर रचनाओं के आधार पर बनता है जिनमें करना क्रिया संयोजक सहित/रहित कृदंतरुप में आती हैं : *बालों को उसने पीछे किया* (जैनंद्र कुमार), *संविधान ने संघात्मक शासन स्थापित किया* (बाबूलाल वर्मा)। करना क्रिया दो विशेषणों द्वारा विस्तृत हो सकती है : संसद ने युद्ध को अवैध घोषित किया।

करना क्रिया के अतिरिक्त *बनना, रहना, पड़ना, निकलना, दीखना* और कुछ दूसरी अर्द्धसंयोजक क्रियाएं इस प्रकार का जटिल विधेय गठित करती हैं : *महेंद्र पत्नी का गुलाम बना है* (गुरुदत्त), *परन्तु वह तो निर्लज्ज निकला है* (गुरुदत्त), *वह सदा चुप रहेगी, वह प्रसन्न दीखता है, तुम मुझे अच्छा आदमी दिखाई देते*

हो।

आदि-अंतसूचक, वृत्तिवाचक तथा कुछ दूसरी क्रियाओं के साथ, जो अपना अर्थ सुरक्षित रखती हैं, तुमर्थ या सुपाइन के योग के आधार पर जटिल विधेय बनता है जिसका तिङन्ती-तिङन्ती या तिङन्ती-कृदंती रुप इन क्रियाओं के समापक रुप पर निर्भर होता है।

आदि-अंतसूचक क्रियाओं में व्यापार के आरंभ या अंत को सूचित करने वाली क्रियाएं और निरपेक्ष अखंड क्रियाबंध काफी प्रचलित होते हैं, जैसे क) तिङन्ती-तिङन्ती विधेय: *चिल्लाना खत्म कर दो, पढ़ना शुरु करुं?*, ख) तिङन्ती-कृदंती विधेय : *उसने सिगरेट पीना छोड़ दिया, लड़की खाने लगी, फल गिरने शुरु हुए।* जैसा कि उदाहरणों से विदित है, यहां संज्ञापरक तथा कृदंतपरक तुमर्थ आ सकता है।

वृत्तिवाचक क्रियाओं में *चाहना, मांगना, जानना, पाना, देना, सीखना, सिखाना* जैसी क्रियाएं और *स्वीकार करना, तय करना* जैसे निरपेक्ष अखंड क्रियाबंध काफी प्रचलित होते हैं जो निम्न विधेय गठित करते हैं : क) तिङन्ती-तिङन्ती : *हम वहां कल सुबह को जाना चाहेंगे, मैं वहां जाना स्वीकार करुं या न करुं, इससे कुछ नहीं बदलेगा, मुझे पत्र लिखना न भूलना,* ख) तिङन्ती-कृदंती : *उसने मुझसे बातें करनी नहीं चाही, तुफान के कारण मैं घर से निकलने न पाया, तुम तैरना जानती हो, हमने वहां जाना स्वीकार किया, दोपहर होने को आयी* (प्रेमचंद)।

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, यहां आश्रित अंग (संघटक) की हैसियत से संज्ञापरक एवं कृदंतपरक तुमर्थ तथा सुपाइन आ सकते हैं। संज्ञापरक तुमर्थ परसर्गसहित प्रयुक्त हो सकता हैं। यही नहीं, तुमर्थ पक्षवाचक द्विक्रियावाची रचना में विस्तृत हो सकता है : *सेठ जी उसे खिलाते जाना चाहता था* (अश्क), *मैं सड़क पर चलते रहना चाहता हूं* (प्रेमचंद)। मुख्य क्रिया भी विस्तृत हो सकती है : *उसे सुरक्षित लौटने दिया जा सकता है* (चतुरसेन शास्त्री)।

तिङन्ती-तिङन्ती जटिल विधेय सुपाइन और जा रहा वेत्तिवाचक क्रियारुप के योग से बनता है : *यहां दावत कल होने जा रही थी* (शानी), *वह कुछ बोलने जा रहा होगा।*

तिङन्ती-तिङन्ती और तिङन्ती-कृदंती जटिल विधेय में और को परसर्गो सहित देखना एवं सुनना के विकारी तुमर्थरुपों और और आना एवं मिलना के समापक क्रियारुपों क योग से बनता है। आना और मिलना के समापक रुप यहां वृत्तिवाचक अर्थ रखते हैं : *यह बात सुनने में आयी, यह नृत्य वर्तमान में देखने को मिल रहा है* (हिन्दुस्तान)।

कृदंती-कृदंती जटिल विधेय द्विक्रियावाची रचना के आधार पर बनता है। इसका बायें (मुख्य शाब्दिक) अंग के प्रकार्य में अपूर्ण एवं पूर्ण कृदंत आते हैं। रचना का दायां (समापक) अंग भी मुख्यतः कृदंत के रुप में प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार का जटिल विधेय उपरोक्त कृदंती और वृत्तिवाचक 'छाया देने' वाली लगना, दिखाई देना

(पड़ना), *दीखना, नजर आना* तथा अन्य इस प्रकार की क्रियाओं और *अनुभव (महसूस)* करना (*होना*) जैसे क्रियाबंधो के योग से बनता है : *मेरी जिम्मेदारी खत्म नहीं होती लगती है* (पहाड़ी), *बांके आया लगता है* (रांगेय राघव), *लाला साहब पक्के कृषक होते दिखाई देते हैं* (प्रेमचंद), सरनो अपने शरीर से गरमी सी निकलती अनुभव हो रही थी (बलवंत सिंह), *सूर्य उदय हुआ मालूम होता था* (प्रेमचंद)।

इस जटिल विधेय से दिखने में समरुप रचनाओं को भिन्न करना आवश्यक है जिनमें दिखाई देना, नजर आना क्रियाएं, देखने में आना के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं : उदाहरणार्थ, नन्दालाल की मां बाहर से आती दिखाई दी जैसे वाक्यों में सरल या संयुक्त विधेय ही आता है जो कृदंत से विस्तृत है। यह कृदंत विधेय से अलग प्रयुक्त हो सकता है : *बाहर से आती नन्दालाल की मां दिखाई* दी। जटिल विधेय का कृदंत अंग अलग नहीं आ सकता। यही नहीं, जटिल विधेय के आधार पर दो वाक्य बन सकते हैं : लगता है (*कि*) बांके आया।

इस प्रकार का जटिल विधेय अपूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत और *डरना, झेंपना, शर्माना, थकना* तथा कुछ और भावात्मक व्यापार व्यक्त करने वाली क्रियाओं के योग से भी बनता है : *सदन उसके सामने उसके सामने पुस्तक खोलते डरता है* (प्रेमचंद), *वह ऐसी छोटी भेंट देते हुए झेंपता था* (प्रेमचंद), *मैं यह रटते-रटते थक गया*।

ऐसी ही जटिल विधेय उपरोक्त कृदंत और बचना क्रिया के योग से बनता है जिसमें बचना क्रिया सूचित करती है कि व्यापार सम्पन्न होते होते समाप्त न हो पाया : *मैं गिरते गिरते बचा*।

कृदंती-कृदंती जटिल विधेय में वे द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जो अपूर्ण कृदंत, पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत एवं पूर्वकालिक कृदंत और समापक क्रियारुपों के योग से बनती हैं। यह रहना क्रिया अपना वस्तुपरक अर्थ सुरक्षित रखते हुए पक्षवाचक और रंजक अर्थ भी व्यक्त करती है : मैं कॉपता रह गया, किरण देखती रह गयी (प्रेमचंद), *शंकरदत्त सहमकर रह गया* (शानी), *मैं यह जाने बिना न रहूंगा*। यहां अपूर्ण कृदंत की जगह पूर्ण कृदंत आ सकता है : *उसकी आंखे फटी रह गयी*।

आसाहि में वाक्यगत संरचना की विशेषता यह है कि यहां तथाकथित अंशतः कर्त्ता और अंशतः विधेय का प्रयोग होता है जो वाक्य में मिलता है जहां मुख्य कर्त्ता (उद्देश्य) के अतिरिक्त सहायक कर्त्ता या उद्देश्य आते हैं।

अंशतः कर्त्ता निम्न रुपों में प्रयुक्त हो सकता है :

१) परसर्गहीन प्रत्यक्ष रुप में जो वाक्य के कर्त्तावाचक उद्देश्य के रुप के समान हो सकता है : *हमने हिन्दी के रिकार्ड बजते सुने* (यशपाल जैन), *थोड़ी देर हुई लौटा हूं* (प्रेमचंद), *आज मुझे तेरा सुर बदला लगा हुआ लगता है* (रांगेय राघव), *...असेम्बली खुलते ही यह बिल पेश करुंगा* (प्रेमचंद), *लाश उठाते उठाते रात हो जाएगी* (राजेंद्र यादव)। जैसे कि उदाहरणों से विदित है, अंशतः विधेय अंशतः कर्त्ता के साथ या तो नियमानुसार समन्वित हो सकता है या अविकारी क्रियाविशेषणात्मक कृदंत के रुप में आ सकता है।

२) को, के, से परसर्गो समेत तिर्यक् रुपों में : *मां को गये छः महीने के ऊपर हो गए हैं, जीजी को बुढ़ी कैलासी के साथ रहते हुए एक साल बीत गया* (प्रेमचंद), हम लोगो के उतरते उतरते एक रुसी सज्जन आ गए (यशपाल जैन), *बाप के मरते अपने यार को कहीं से उठा कर ले आयी है* (कृशन चंदर), *ब्रजनाथ से कोई जवाब देते न बन पड़ा* (प्रेमचंद), *साले और ससुर से जो भी करते बना उन्होंने किया* (बी.पी. गुप्ता)। जैसा कि उदाहरणों से विदित है, अंशतः विधेय यहां अविकारी कृदंत के रुप में आता है।

विस्तृत वाक्य के स्तर पर कर्त्ता और विधेय आश्रित विस्तारकों द्वारा विस्तृत हो सकते है जो एक स्वतंत्र विश्लेषण की बात है।

यही है आसाहि में कर्त्ता और विधेय की अभिव्यक्ति के प्रकार जो इनके अर्थपरकवाक्यगत अर्थ पर आधारित होता है।

जाम्भाणी साहित्य में परमतत्व की अवधारणा

डा0 किशनाराम विश्नोई

विश्नोई सम्प्रदाय के संस्थापक भगवान जम्भेश्वर जी की एक विशिष्ट और समृद्ध शिष्य-परम्परा रही है, जिनमें मुख्य रुप से वीलहोजी, केसौजी, सुरजन जी पुनिया, गोकल जी, ऊदौजी, सेवाराम, मुकनोजी, नाथोजी, रेड़ोजी, साहबराम राहड़ आदि हैं। उनकी कुल शिष्यों-प्रशिष्यों की संख्या १२९ है। जाम्भाणी साहितयकारों के अनेक हस्तलिखित ग्रंथ अप्रकाशित हैं। इन अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथो की संख्या लगभग ४०३ है। जो विभिन्न साथरियों, भण्डारों, मंदिरों, गायणों, थापनों एवं पुरातत्व विभाग के पास उपलब्ध हैं यदि इन सम्पूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों को एकत्रित करके उन पर अनुसंधान किया जाये तो भारतीय संत साहित्य का स्वरुप ही बदल जायेगा।

जाम्भाणी साहित्य में मानव मूल्यों की मीमांसा चहुंमुखी रुप से हुई है, जिनमें क्षमा, दया, धैर्य, अपरिग्रह, संतोष, शील, संयम, अहिंसा, परोपकार, नैतिकता, ईमानदारी, सादगी, सात्विकता, सच्चाई और परिवेश शुद्धता आदि मूल्यों का समावेश हुआ है। मानव मूल्यों के साथ ही जाम्भाणी साहित्यकारों ने परम तत्व (निर्गुण विष्णु) के नाम स्मरण (जप) पर अत्यधिक बल दिया है उन्होंने निर्गुण विष्णु को ही परमतत्व का प्रतीक माना है। सम्पूर्ण जाम्भाणी संत निर्गुण विष्णु और जम्भेश्वर जी को एक ही मानते हैं, यह उनकी साहित्य साधना का मूल सारतत्व है उनकी रचना प्रक्रिया और मूल्यान्वेषण और प्रतिष्ठा की विशिष्ट प्रक्रिया मानने वाले रचनाकारों और जाम्भाणी संतों की बीच मूल्य निर्धारण के सवाल पर तो मतभेद रहे ही हैं परन्तु परम तत्व के निर्धारण करते समय आपसी मतभेद परस्पर समाप्त हो जाते हैं। वे कौन से मूल्य हैं, जो चरम या परम मूल्यों में अन्तनिर्हित हैं। जिनकी साधारणतया साहित्य खोज करता है और इसमें चरम या परम मूल्य का सवाल भी शामिल है। जिनकी साहित्य तलाश या प्रतिष्ठा करता है। मूल्यों में उतार-चढ़ाव क्रम भी व अनुसंधान की सुविधा के लिए स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि अंतत परम मूल्य से तारतम्य ही किसी अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के मूल्य को भी सिद्ध करता है। अर्थ और काम तभी मूल्य है जब वे धर्म से अनुप्राणित और मुक्ति प्राप्ति की ओर अग्रसर हो। धर्म भी मूल्य तभी है जब वह मोक्ष की साधना का माध्यम है। इसलिए चतुर्वर्ग के पुरुषार्थ के सिद्धांत को मानने वालों के लिए परमार्थ मोक्ष ही है। अन्य त्रिवर्ग यदि मूल्य है तो इसलिए कि वे मोक्ष की साधना में सहायक हैं। परमार्थ और व्यवहार में भेद तो है पर यह अपेक्षा की जाती है कि व्यवहार परमार्थ से अनुप्रेरित और उसकी ओर ले जाने वाला होगा- इसके विपरित दिशा में ले जाने वाला तो नहीं हो सकता।

साधारणतया जब चरम मूल्य या परमार्थ वृत्ति की चर्चा की जाती है तो मोक्ष या उससे मिलती-जुलती कोई आध्यात्मिक अवधाणा निर्वाण, कैवत्य आदि ही ध्यान में आती है। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं दर्शन

में इन गूढ़ प्रश्नों पर मतैक्य नहीं है। एक वर्ग उन भौतिकवादी दार्शनिकों का भी है जो उपर्युक्त प्रकार की किसी की अवधाणा को एक भ्रम या छलावा और कुछ लोग तो मीठा जहर तक मानते है। स्पष्ट है कि उनके लिए चरम मूल्य का अर्थ कुछ भिन्न ही होगा। इनमें से कोई स्वतंत्रता को चरम मूल्य के रुप में स्वीकार करतें हैं तो कोई समानता की। कुछ लोगों के लिए इन मूल्यों से भी ज्यादा महत्व इस बात का है कि इन साधनों के द्वारा इन मूल्यों की प्रतिष्ठा की जाती है। साधन और साध्य के एकत्व के सिद्धांत में आस्था रखने वालों के लिए साध्य मूल्य का साधन मूल्य में प्रतिफलित होना आवश्यक है। इसी तरह प्राकृतिक विज्ञानों को ही ज्ञान का अंतिम प्रमाण मानकर उनमें नीति-निरपेक्ष आशा रखने वालों के लिए शक्ति ही मूल्य है। संघर्षशील युग में शक्ति ही परम मूल्य है। तथा उस शक्ति के विभिन्न चरम मूल्यों का संग्रह ही आज के भौतिकवादी युग में बहुउपयोगी है।

इसी प्रकार अखिल भारतीय साहित्य की भॉति जाम्भाणी संत संस्कृति में किसी न किसी परम मूल्य की प्रतिष्ठा का अथक प्रयास किया गया है। प्रख्यात संत शिरोमणि साहबराम राहड़ ने अपनी विख्यात आख्यान काव्य जम्भसार में शब्द को ही ब्रह्म मानकर उसके द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति का सहजपथ बताया है। यह साधना न केवल अपने लिए बल्कि सम्पूर्ण लोक मानस के लिए संत सुरजनदास पुनिया भी युक्ति-युक्त जीवन पद्धति के लिए मुक्ति की अवधाणा को स्वीकार करते हैं। उनकी अनेक रचनाओं में काव्य को ही सबसे बड़ा धर्मशास्त्र माना है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का मूल प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिकता ही है। लेकिन दूसरी ओर कुछ पाश्चात्य विचारक और भौतिकवादी लेखक साहित्य का केन्द्रीय सरोकार स्वतंत्रता को मानते हैं और निश्चय ही यह स्वतन्त्रता और आध्यात्मवादियों की मुक्ति बिल्कुल अलग है। मार्क्सवादी लेखकों की मुक्ति बिल्कुल अलग है। मार्क्सवादी लेखकों की दृष्टि में साहित्यसाधना का परममूल्य इतिहास ही है। और इसलिए उसकी सार्थकता वर्ग संघर्ष की धारा को तीव्र करने में सहायक है। एक निश्चित उद्देश्य विशेष का समर्थन करना है। इसी से राष्ट्रवादी, प्रगतिवादी, जनवादी या दलित साहित्य आदि विशेष रुप से प्रचलन में आते हैं।

वस्तुतः हम जानते हैं कि इन मूल्यों को लेकर रचनाकारों और दार्शनिकों में किसी प्रकार का मतैक्य नहीं है। हम कह सकते हैं कि वह संभव नहीं है। लेकिन आखिरकार साहित्य किसे परम मूल्य माने? कहा जा सकता है कि यह साहित्यकार विशेष पर निर्भर करता है कि वह अपनी रचना में किस परम मूल्य को प्रतिष्ठित करता है और हम पाते हैं कि भिन्न-भिन्न जाम्भाणी साहित्यकारों की दृष्टि भिन्न-भिन्न रही है और उसी के अनुसार उन्होंने साहित्य परस्पर विरोधी मूल्यों की प्रतिष्ठा का निरपेक्ष माध्यम मात्र है तो वह स्वयं मूल्यान्वेषण का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। तब अधिक से अधिक वह अन्यत्र सिद्ध मूल्यों को समाज के लिए अधिक ग्राह्य बनाने का साधन मात्र रह जाता है। स्पष्ट में कहें तो वह विद्या नहीं रहती, प्रचार की एक विधा हो जाती है।

इसलिए साहित्य यदि मूल्यान्वेषण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है तो उसके परम मूल्य की तलाश भी उससे

बाहर किसी अन्य दर्शन, राजनीति या विज्ञान या समाजशास्त्र में नहीं बल्कि उसके अन्दर ही करनी होगी- उसके अपने स्वरुप और प्रक्रिया में फिर इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा कि साहित्यकार विशेष की अपनी दृष्टि या विचारधारा क्या है? जाम्भाणी साहित्य-परम्परा में धार्मिक शिक्षा की एक सम्प्रेषण प्रक्रिया के रुप में देखते हुए उसको दो प्रकार के भागों में विभाजित कर दिया है। एक तो शाश्वत मूल्यों को ग्रहण करने और उनका जीवन में क्रियान्वित करने का उपदेश देता है। परन्तु उन सनातनी व शाश्वत मूल्यों को हम जीवन में कितना उतारते हैं यह तो हमें सोचना हैं। मात्र उपेदश देना तो बहुत सरल है परन्तु उन पर चलना अत्यन्त कठिन है। दूसरे वे मूल्य जो मानवता की भावना से प्रत्यक्ष सम्प्रेषण रखते हैं। मूल्य सम्प्रेषण के स्तर पर वही प्रभावी होते हैं जो रचनाकार की रचना-प्रक्रिया पर लागू होते हैं। इसलिए शाश्वत मूल्यों को ही वास्तविक मूल्यों के रुप में स्वीकारा जाए। वास्तविक मूल्य वह है जो रचना की अपनी प्रक्रिया से प्रसूत होते हैं। इसलिए एक ही विद्या के रुप में साहित्य द्वारा परम मूल्य की तलाश का सवाल किन्हीं अन्य जरुरतों या विधाओं से तो क्या साहित्यकार की अपनी दृष्टि तक से नहीं जुड़ा है वह जुड़ा है साहित्य के अपने स्वरुप और गुणों से।

साहित्य को लेकर की जाने वाली अनंत चर्चाओं में इस सामान्य कथन को निर्विवाद स्वीकृति मिलती है कि वह रचना है, सृजन है। यदि हम इस बहस में नहीं पड़े कि उसका प्राथमिक स्रोत वस्तु जगत में है या भावं जगत में। या कि सामाजिक दबाव से पैदा होता है या अपने ही पूर्व रुपों में उसका विकास होता है तब भी वह वहीं नहीं रहती, एक नया रुप बदल लेती है।

साहित्य और कला को देखने, परखने उनकी समीक्षा करने की एक विशेष पद्धति भी होती है जो उचित ही है। क्योंकि कला में देखना या जानना रचने से भिन्न नहीं है। साहित्य रचते हुए सृजन करते हुए उसको जानना है जाने हुए को रचना नहीं। तभी तो वह अन्वेषण है इसलिए भारतीय कला की दृष्टि में दिदृक्षा सिसृक्षा सहजात है बल्कि कह सकते हैं कि एक ही है। ग्रीक में कला के लिए "टैक्नी" शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसका मूल अर्थ जानने का तरीका है। आज हम इस शब्द का प्रयोग करने के तरीके के रुप में करते हैं। जानने की प्रक्रिया ही तो फिर करने की ओर कुछ आगे बढ़कर कहें तो होने की प्रक्रिया हो जाती है।

लेकिन वह क्या है जिसे साहित्य में जाना या रचा जाता है? वह क्या है जो साहित्य के माध्यम से अपने होने को संभव करता है? साहित्य और कलाओं को अनुभूति की अभिव्यक्ति कहा गया है। जाम्भाणी साहित्य में प्रत्येक अनुभूति आत्मानुभूति और स्वानुभूति है तो अनुभूति की प्रत्येक अभिव्यक्ति आत्माभिव्यक्ति है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साहित्य या कला में किसी भी अभिव्यक्ति रुप की सृजना मूलत: और अंतत: आत्म-सृजन है। लेखकीय चेतना विभिन्न रुपों में अपना ही सृजन करती है बल्कि कह सकते है कि इस आत्म सृजन के माध्यम से ही वह अपने को जान पाती है। साहित्य अनिवार्यत: रुप है, इसलिए कह सकते हैं कि उसके सभी रुप आत्म के ही रुप हैं। इसलिए साहित्य जाम्भाणी साहित्य नित नये रुपों की सृजन के माध्यम से एक सनातन या शाश्वत रुपातीत आत्म की पहचान के साधना हो जाता है।

यह मात्र लेखकीय साधना नहीं है। साहित्य रचना भी है, साथ ही संप्रेषण भी बल्कि रचनात्मक सम्प्रेषण क्योंकि साहित्य का गृहीता या पाठक आवश्यक तौर पर रचना को लेखक के मन्तव्य के अनुकूल ही ग्रहण नहीं करता। इस ग्रहण या उपार्जन प्रक्रिया में उस के अपने चित की सांझेदारी भी होती है। और उसका गुप्त या अन्तनिर्हित या वास्तविक प्रयोजन रचना के माध्यम से रचनाकार को नहीं बल्कि अपने को जानना होता है। इसलिए रचना, जो एक आत्मसर्जना या आत्माभिव्यक्ति है, गृहीता के लिए आत्मानुभूति में रुपांतरित हो जाती है। रचना के माध्यम से गृहीता अपनी ही एक नई अनुभूति संभव करता है। यही उनकी आत्मसर्जना है। भिन्न-भिन्न प्रकार के रचना रुप ग्रहीता को उसके वास्तविक रुपातीत या शाश्वत आत्म के भिन्न-भिन्न रुपों से साक्षात्कार करवातें हैं। इसलिए रचना के घोषित उद्देश्य कुछ भी हो उसका वास्तविक प्रक्रियागत उद्देश्य आत्म सृजन के माध्यम से आत्म की अनुभूति है। कोई अध्यात्मवादी कह सकता है कि अनंत रुपों की सृष्टि के माध्यम से परम चेतना अंतत अपने होने की अनुभूति ही तो करती है। लेकिन जाम्भाणी आध्यात्मिक पदावली के प्रयोग से उत्पन्न आशंकाएं या आपत्तियों के निराकरण के लिए इसे दरकिनार कर सीधे यही पूछा जाना चाहिये कि क्या उपर्युक्त विश्लेषण साहित्य के परम मूल्य या परमार्थ को जानने में हमारी सहायता करता है? क्या है अंततः साहित्य का अपना परम मूल्य? जाम्भाणी साहित्य में ऐसे अनेक कथन या टिप्पणियां आयी हैं जो धर्मशास्त्र के कथनों और आगम-निगम से सर्वथा संगत रखती हैं। उसमें चाहे वेद हो या उपनिषद, गीता हो या महाभारत, रामायण हो या बाईबल, कुरान शरिफ हो या अवेस्ता, सभी ने किसी भी वस्तु का मूल ही उसके सारतत्व को ही स्वीकार किया है। साहित्य का मूल सिसृक्षा है और उसकी सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया सृजनात्मक है, इसलिए निर्विवाद रुप से कहा जा सकता है कि साहित्य की अपनी रचना-प्रक्रिया से प्रसूत परम मूल्य सृजनात्मकता है न केवल लेखकीय दृष्टि से बल्कि गृहीता के पक्ष से भी। इसलिए लेखक-पाठक का पाठ-पाठक संबंध मूलतः एक सृजनात्मक संबंध होने की वजह से सृजनात्मकता को ही परम मूल्य के रुप में प्रतिष्ठित करते हैं साहित्य की रचनात्मकता और सम्प्रेषणात्मक प्रक्रियाएं इसी सृजनात्मकता के विविध रुपों और आयामों का अन्वेषण है। और यही सृजनात्मकता है अपने होने की अनुभूति और उसके मूल स्रोत की निरन्तर तलाश। यह सृजनशील चेतना ही शाश्वत रुपातीत आत्मा है जो भिन्न-भिन्न रुपों मे निरन्तर अपने को अभिव्यक्त करता है तभी तो रचनाकार कह पाता है कि रुपों में एक अरुप सदा खिलता है, गोचर में एक अगोचर व्यक्त में एक अव्यक्त सता में एक परमसता, सत में एक असत विद्या में एक अविद्या।

लेकिन शाश्वत या रुपातीत जैसी पदावली फिर कुछ संशय या भ्रांति उत्पन्न कर सकती है कि इसमें इतिहास या समय का समन्वय नहीं बैठता है। निश्चय ही जब हम शाश्वत या रुपातीत जैसे पदों का प्रयोग करते हैं तो समय और रुप के अतिक्रमण का मंतव्य तो रहता है लेकिन समय या रुप का बहिष्कार नहीं है। यहां शाश्वत का अर्थ समय के बाहर नहीं है क्योंकि यदि शाश्वत है समय के भीतर भी है। समय के भीतर भी नहीं है। साहित्य और कलाओं की अपनी विशिष्टता है कि यहां [illegible] के भीतर की अभिव्यक्ति होती है, रुप में

रुपातीत झलकता होता है। इसलिए शाश्वत आत्म की खोज में लगे साहित्य का इस नश्वर जीवन के साथ इस इतिहास और समय के साथ गहरा संबंध है क्योंकि यही उसकी रचना सामग्री है जिससे वह शाश्वत ओर रुपातीत को रुपायित करता है। साहित्य हिकमत है जो नश्वर जीवन को भी अपनी सृजनात्मकता से शाश्वत में रुपांतरित कर देता है। सच तो यह है कि समय के भीतर हो सकने पर ही इस सृजनात्मकता का शाश्वत होना, परम मूल्य होना सिद्ध होता है। इसलिए जिसे हम उत्कृष्ट या कलासिक्ल साहित्य कहते हैं उसमें इस नश्वर जीवन और उसकी विविध ध्वनियों के प्रति ही नहीं, उसकी दुर्बलताओं, आकांक्षाओं और असफलताओं के प्रति भी गहरा लगाव मिलता है। यह लगाव वस्तुत: दुर्बलताओं या असफलताओं के लिए नहीं होता। साहित्य में वर्णित दुर्बलताएं या असफलताएं भी प्रकारांतर से अंतत मानवी य सृजनशीलता के प्रति हमारे लगाव को ही उत्प्रेरित करती हैं जैसे दुखांति का अच्छे का पराभव बताते हुए भी अंतत: अच्छे के प्रति हम में एक सहानुभूति पैदा करती है इसलिए साहित्य की घोषित विषय वस्तु या मूल्य कुछ भी हो, उसकी वास्तविकता या गुरुतत्व वस्तु अथवा मूल्य उसकी प्रक्रिया में ही अन्वेषित और प्रतिष्ठित होता है। वही उसका परम मूल्य या परमतत्व है और उसके सभी घोषित मूल्य उच्चावच क्रम में उस से न केवल हीन रहते हैं बल्कि वास्तविक अर्थो में साहित्य को प्रस्तुत मूल्य होने की हैसियत भी तभी प्राप्त करते हैं जब वे इस परमार्थ से, परम मूल्य से प्रेरित और उसकी सिद्धि के लिए उन्मुख हो।

लेकिन जब हम सृजनात्मकता की चरम मूल्य के रुप में बात करते हैं, तो उसके सहजात गुणों स्वतंत्रता और अहं के प्रति लिए विलयन की भी अनदेखी नहीं की जा सकती।

व्याख्याता,

गुरु जम्भेश्वर महाराज,

धार्मिक अध्ययन संस्थान, हिसार

योगदर्शन के व्यासभाष्य में पुरुष तथा पुरुषविशेष का स्थान

डा0 सूनृता विद्यालंकार

पुरुष का निरुपण

योगशास्त्र के मुख्यत: दो ही प्रमेय हैं जड़ प्रकृति एवं चेतन पुरुष। पुरुष निर्गुण, विवेकी, असाधारण, चेतन एवं अपरिणामी तत्व है। वह न प्रकृति है न विकृति, कार्य कारण से रहित है। इन्हीं सभी गुणों से विभूषित तत्व को योगशास्त्र में 'पुरुष' का नाम दिया गया है। यह पुरुष शुद्ध, बुद्ध, एवं मुक्त है। न्याय दर्शन की भांति ज्ञानादि का आश्रय नहीं है अपितु स्वरुप भूतात्मक ही है। इतना सब होते हुए भी पुरुष अज्ञानवशात् इस संसार में आकर, अहंकार के वशीभूत होकर, चित्त के ज्ञानादि धर्मों का अपने में आरोपण करके भोक्ता कहलाता है। जन्म जन्मांतर में इसी अहंभाव के वश में होकर जन्म एवं मृत्यु के चक्र में फंस जाता है।

आत्मा का स्वरुप निर्धारण करने से पूर्व इस आत्म तत्व को मानने में क्या युक्ति है? इस पर कुछ गम्भीरता से विचार करना अत्यावश्यक है। चित्त ही जब ज्ञान सुखेच्छादि का आश्रय है तब वही भोक्ता एवं कर्त्ता क्यों नहीं मान लिया जाए? तथा अपरिणामी पुरुष को मानने में क्या युक्ति? इन प्रश्नों का उत्तर सूत्रकार एवं भाष्यकार ने बड़ी गम्भीरता से मनन चिन्तन के बाद दिया है तथा क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन कर, पुरुषतत्त्व की चितादि निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है।

पुरुषतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता

सर्वप्रथम चित्त एवं पुरुष को एक मानने में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि चित्त परिणामशील है उसका वृत्यात्मक परिणाम निरन्तर जारी रहता है। चित्त परिणामी है इसमें क्या प्रमाण हो सकता है? इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि चित्त के सामने विषय उपस्थित होने पर कभी ज्ञात रहता है और कभी अज्ञात। जब चित्त का विषयाकारेण परिणाम होता है तब वस्तु ज्ञात होती है और जब परिणाम नहीं होता है तब वस्तु अज्ञात रहेगी। इससे सिद्ध हो गया कि चित्त का परिणाम है। इसी परिणामशील स्वभाव के कारण वस्तु कभी ज्ञात एवं कभी अज्ञात रहती है।[1]

इस प्रसंग में भाष्यकार ने एक उदाहरण उपस्थित किया है[2] कि विषय अयस्कान्तमणि के सदृश होते हैं। ये विषय लोहे के समान चित्त को अपनी तरफ खींचकर अपने आकार से आकारित कर देते हैं। इसी विषयकारता को ही चित्त का 'उपराग' कहा जाता है। इस प्रकार भाष्यकार ने उपर्युक्त उदाहरण द्वारा यह सिद्ध किया कि चित्त विष्याकारेण परिणमित होता रहता है।

इसके विपरीत विषयोपरक्त चित्त पुरुष का विषय होता है। चित्त की वृत्तियां स्वामी पुरुष को सदा ज्ञात रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष अपरिणामी है। चित्तवृत्ति पुरुष को कभी अज्ञात नहीं रहती क्योंकि जब कभी चित्त की वृत्ति होगी उसका प्रतिबिम्ब पुरुष पर अवश्यमेव पड़ेगा। उसे कभी यह सन्देह नहीं होता कि हम सुखी हैं अथवा नहीं। यदि सुखाकार चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष पर पड़ेगा तो वह अवश्य ही सुख

का उपभोग करेगा। चित्तवृत्ति के सदा ज्ञात रहने के कारण पुरुष का अपरिणामित्व सिद्ध है।[3]

भाष्यकार ने पुन: बौद्ध मतावलम्वियों की इस आशंका को रखा है[4] जोकि चित्त को ही आत्मा मानते है और स्वीकार करते हैं कि चित्त अपने को तथा विषय की अग्नि के समान प्रकाशित करता है। उसका उत्तर सूत्रकार ने दिया है कि वह चित्त दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं है।[5] जैसे दूसरी इन्द्रियां और शब्दादि विषय दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं है उसी तरह मन भी स्वयं प्रकाश नहीं है। ऐसा समझना चाहिए।[6]

इस तर्क में दिए अग्नि के दृष्टांत को अयुक्त ठहराकर भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि अग्नि प्रज्वलित हो रही हो और वह अपने रुप को प्रकाशित न करें, वह तो सर्वदा अपने को प्रकाशित करती है। अत: अग्नि अपने अप्रकाशरुप को प्रकाशित नहीं करती,[7] वह तो स्वयं प्रकाश है। इसके विपरीत मन अपनी वृत्ति को बताते हुए कभी अपने को प्रकाशित करता है कभी नहीं। उदाहणार्थ- 'अहं सुखी' इस ज्ञान में अपना प्रकाश कर रहा है किन्तु 'अयं घट:' इस ज्ञान में अपने को प्रकाशित नहीं कर रहा है। परन्तु अग्नि तो सर्वदा अपने को प्रकाशित करती है। अत: अग्नि का दृष्टांत उपयुक्त नहीं है ऐसा भाष्यकार का मत है।

द्वितीय प्रश्न यह है कि आखिर प्रकाश का मतलब क्या है? यह प्रकाश प्रकाश्य-घट तथा प्रकाश-प्रदीप के संयोग से होता है। अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति के पूछने पर कि घट प्रकाश कब होता है? जब घट और प्रदीप का संयोग होता है किन्तु अग्नि के प्रकाश में किस प्रकाशक का संयोग होना चाहिए क्योंकि अग्नि को किसी प्रकाशक की आवश्कता नहीं, वह तो स्वयमेव अपने को प्रकाशित करता है। एक पदार्थ में संयोग नहीं देखा गया। संयोग द्विष्ठ पदार्थ है अत: दो में रहता है। अपने ही स्वरुप में अपने ही का संयोग होना सम्भव नहीं।[8] इससे सिद्ध होता है कि चित्त जड़ होने से स्वयं प्रकाशक नहीं है। जिस प्रकार नैय्यायिकों का यह विचार व्यर्थ है कि आकाश आत्म प्रतिष्ठ है पर प्रतिष्ठ नहीं। चित्त को अपनी इस वृत्ति के प्रकाश में पुरुष के चैतन्य अंश की आवश्यकता पड़ती है। वह दृश्य होने से चैतन्य कोटि में नहीं आ सकता।

यदि 'स्वाभास चित्त है' इस शब्द का अर्थ यह लिया जाय कि चित्त किसी अन्य से आग्राह्य ही है। अत: चित्त अपना विषय आप न होने से कर्मकर्तृ विरोध्र की सम्भावना मिट जाती है। परन्तु तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि चित्त किसी का भी विषय न होगा तो इसका ज्ञान किसी के द्वारा न होने से चित्त विषयक ज्ञानपूर्वक जो प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है सो नहीं देखी जानी चाहिए परन्तु देखी तो जाती है? अत: चित्त विषय है अविषयी नहीं। भाव यह है कि, तार्किक आदि के मत में यह नियम है कि प्रथम क्षण में द्रव्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है, द्वितीय क्षण में वह क्रियावाला होता है और तृतीय क्षण में किसी कार्य को करने से वह कारक बनता है परन्तु बौद्धमत में यह नियम नहीं। क्योंकि उनके मत में पदार्थ क्षणिक होने के कारण भिन्न-भिन्न क्षण में उसका अस्तित्व असंगता है। अत: चित्त की जो उत्पत्ति वही क्रिया और वही कारक है। अत: चित्त की जो उत्पत्ति वही क्रिया और वही कारक है तो विषय और अपना प्रकाशक अन्य क्रिया न होने के कारण उसको विषयाभास और स्वभाव मानना स्पष्ट ही विरुद्ध है। अत: यह चित्त पुरुष से ही ज्ञात है। क्योंकि पुरुष के चित्त

में क्रोधादि वृत्ति के ज्ञान होने से लौकिक मानवों की क्रोधादिनिवृत्ति के लिए प्रवृत्ति दिखायी देती है। मैं क्रुद्ध हूं, मैं भयभीत हूं, इसमें राग है, तथा इसमें द्वेष है इस प्रकार ज्ञान का आकार होता है। यह ज्ञान चित्त को विषय मानने से उत्पन्न नहीं होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त पुरुष का दृश्य पड़ता है तथा उस दृश्य को देखने वाला दृष्टा पुरुष है। अतः पुरुष एवं चित्त दोनों भिन्न स्वरुपवान् होने से दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है।

दूसरी युक्ति यह भी दी जा सकती है कि यदि चित्त ही द्रष्टा मान लिया जाय तो एक समय में चित्त अपने एवं घटपटादि विषय को प्रकाशित नहीं कर पाएगा।[९] क्योंकि एक क्षण में एक ही वृत्ति सम्भव है। एक ही समय घटाकार एवं घटाकारवृत्ति होना असम्भव है। वैसे ही एक ही समय में विषयाकार और स्वीकार वृत्ति का होना भी असम्भव है। दो वृत्तियां एक साथ नहीं हो सकती।

पुनः बौद्धवादी कहते है कि चित्त अपना प्रकाशक आप होने पर ता 'आत्माश्रय' दोष दिया ही गया है यदि प्रथम चित्त का प्रकाशक द्वितीय और द्वितीय चित्त का प्रकाशक तृतीय हो, ऐसा मान लिया जाय तब विषय एवं चित्त दोनों का ज्ञान हो जाएगा। इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार ने देते हुए कहा है[१०] कि यदि यह माना जाय कि क्षण-क्षण में चित्त बदलता रहता है अर्थात् एकचित ने एक विषय ग्रहण किया और इस विषय सहित चित्त को दूसरे चित्त ने। इसी प्रकार उसको तीसरे को चौथे ने, तो यह क्रम बराबर चलता रहेगा- कभी समाप्त नहीं हो सकेगा, इसमें 'अनवस्थारुप' दोष की प्रसक्ति होगी। द्वितीय दोष 'स्मृतिसंकाररुप' है। स्मृतिसंकाररुप दोष का स्पष्टीकरण भाष्यकार ने इस प्रकार किया है कि विषय के अनुभवकाल में जब अनुभवात्मक 'घटमहनुभवामि' इस प्रकार का एक ही ज्ञान माना जाता है तब इस ज्ञानजन्य संस्कार द्वारा 'घटमहं स्मरामि' इस प्रकार की एक ही स्मृति उत्पन्न होती है। क्योंकि अनुभवानुसार स्मृति का होना सर्वमत संमत है। और पूर्वोक्तरीति से जब एक ज्ञान (चित्त) का प्रकाशक दूसरा ज्ञान और दूसरे का प्रकाशक तीसरा इत्यादि ज्ञानधारा मानेंगे तब 'घटमहमनुभवामि' 'घटज्ञानमहमनुभवामि' घटज्ञानज्ञानमहमनुभवामि अर्थात् मैं घट का अनुभव करता हूं, मैं घट को ज्ञान को अनुभव करता हूं, मैं घट के ज्ञान के ज्ञान को अनुभव करता हूं इस प्रकार के अनुभव की धारा चालू होने पर इस अनुभवजन्य संस्कार द्वारा 'घटं स्मरामि' 'घटज्ञानं स्मरामि घटज्ञान ज्ञानं स्मरामि' में घट को स्मरण करता हूं। इस प्रकार के असंख्य स्मृति ज्ञान की धारा चालू होगी। इस प्रकार की असंख्य स्मृतियों की धारा प्रवाहित होने पर यह विवेक नहीं हो पाएगा कि अनुभवजन्य कौन स्मृति है? अतः अन्य स्मृति के स्थान पर अन्य स्मृति समझी जाएगी। इस प्रकार का स्मृतियों का ठीक-ठीक तरह ज्ञान न होना भी स्मृतिसंकररुप दोष कहा जाता है, जो सर्वानुभव विरुद्ध है। अतः ज्ञान का प्रकाशक ज्ञान नहीं, किन्तु साक्षी रुप आत्मा ही ज्ञान का प्रकाशक है। भाष्यकार ने ठीक ही कहा है[११] कि बुद्धि के साक्षी पुरुष का अपलाप करने वाले वैनाशिकों ने सब ही धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्षादि की व्यवस्था को असंगत कर दिया है।

क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना

इसके अतिरिक्त अन्य जिन-जिन विज्ञानवादी तथा शून्यवादी आदि वैनाशिकों ने जो आत्मा के स्वरुप की अपने तर्कों द्वारा कल्पना की है सब न्याय संगत नहीं है। भाष्यकार विज्ञानवादी यौगाचार-मतावलम्बी बौद्ध लोगों का मत देख कर उनका खण्डन करते है[१२] कि कोई क्षणिक विज्ञानबादी चित्तमात्र को आत्मतत्व की कल्पना करके तथा क्षणिक मानकर भी, वह सत्वमात्र आत्मतत्व स्थिर है, जो सांसारिक तथां मलिन-पंचस्कन्धों[१३] को त्यागकर मुक्तावस्था में अन्य शुद्ध पंचस्कन्धों को अनुभव करता है, ऐसा कहकर पुनः भयभीत होते है। अभिप्राय यह है कि प्रथम संसारकाल में क्षणिक विज्ञानरुप बुद्धि को आत्मा मानकर मोक्षकाल में उसी को स्थायी मानने से 'स्वमत विरोध' स्पष्ट ही है। तथा 'युक्ति विरोध' भी है कि जिस आत्मा ने साधन किया हुआ साधन फल दिए बिना ही नष्ट हो गया। अतः 'कृतविप्रणाश' और जो आत्मा उत्पन्न हुआ, उसने साधन किया था नहीं फिर भी उसको फल मिला, अतः 'अकृताभ्यागम' दोष उपस्थित होता है। इस प्रकार क्षणिक विज्ञानवाद अकृताभ्यागम तथा कृतविप्रणाशरुप दोषग्रस्त होने से न्याय विरुद्ध संसार में देखा जाता है कि जो प्राणी कर्म करता है उसका फल उसे ही उपलब्ध होता है परन्तु आत्मा को क्षणिक मानने से सर्वसाधारण के अनुभव का विरोधी हो जाएगा।

(क्रमशः)

प्रभारी

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय (गु०का०वि०)

हरिद्वार

वेदों में प्रयुक्त अन्योक्ति काव्यालंकार

डा0 रामनाथ वेदालंकार

काव्य शास्त्रियों ने कतिपय अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार और उपमा, रुपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार कल्पित किये हैं, जिन्हें कविजन अपने काव्यों में कविता को अलंकृत करने तथा काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त करते हैं। परन्तु यह नहीं मान बैठना चाहिए कि काव्य शास्त्रियों ने अलंकार पहले निर्धारित कर लिए थे, उनका प्रयोग कवियों ने बाद में किया। वस्तुस्थिति यह है कि वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि महाकवियों के काव्यों में प्रयुक्त अलंकृत शब्दार्थों को देख कर ही भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, मम्मट आदि आचार्यों ने नामोल्लेख सहित अलंकारों की उद्भावना की । लौकिक काव्यों से भी पूर्व वेद-संहिताओं में तथा परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य में अलंकारों का प्रयोग मिलता हैं। अतः काव्यालंकारों का मूल उद्भव वेदों को ही माना जाना चाहिए।

यहां हम वेदों में प्रयुक्त अन्योक्ति अलंकार को लेकर कुछ विवेचना करेंगे। अन्योक्ति अलंकार अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के अन्तर्गत आता है। अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में वर्णन अप्रस्तुत का होता है, किन्तु उससे व्यंजना प्रस्तुत की हो रही होती हैं। काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के पांच भेद दर्शाये हैं - १. कार्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कारण का वर्णन करना, २. कारण के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कार्य का वर्णन करना, ३. सामान्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत विशेष का वर्णन करना, ४. विशेष के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत सामान्य का वर्णन करना, ५. तुल्य के प्रस्तुत होन पर उसके तुल्य किसी अन्य का वर्णन करना। अप्रस्तुत प्रशंसा के पांचवें भेद को ही प्रायः रीतिकालीन आचार्यों ने अन्योक्ति अलंकार नाम दिया है।

इस अन्योक्ति अलंकार को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत साहित्य से इसके कुछ उदाहरण आगे दिये जा रहें हैं।

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च।।

"इस दुष्ट समुद्र ने सरिताओं के मुखों से चारों ओर से पानी लेकर भला क्या कमायी की? उस पानी को खारा कर दिया, वाडवाग्नि में उसकी आहुति दे दी और पाताल की कोख में डाल दिया।" यहां अप्रस्तुत समुद्र के वर्णन से उस प्रस्तुत मनुष्य की व्यंजना हो रही है जो दूसरों की संपत्ति को अपने अधीन करके दुष्कार्य में लगा देता है।

एकः कपोतपोतः शतशः श्येनाः क्षुधाभि र्धावन्ति।

अम्बरमावृति शून्यं हर हर शरणं विधेः करुणा।।

"कबूतर का बच्चा एक है, उसकी ओर भूख से पीड़ित सैंकड़ो बाज दौड़े आ रहे हैं। आकाश में कोई छिपने का स्थान भी नहीं है। ऐसी अवस्था में विधाता की दया ही शरण है।" यहां कोई शत्रुओं से आक्रमण किया जाता हुआ, शरणहीन, असहाय मनुष्य प्रस्तुत है उसके स्थान पर अप्रस्तुत कपोत-शिशु का वर्णन किया गया है।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्

अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वे तु नै कादृशाः।

केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।।

"हे मित्र चातक, क्षण भर के लिए सावधान मन से मेरी बात सुन लो। आकाश में बादल तो बहुत से हैं, किन्तु सब एक समान नहीं है। उनमें से कुछ ऐसे हैं जो वर्षा से भूमि को सींचते रहते हैं, किन्तु दूसरे कुछ ऐसे भी हैं जो केवल व्यर्थ ही गर्जना ही करते हैं, देते कुछ नहीं। इसलिए जिसे भी देखो उसी के आगे दीन वचन बोल कर पानी की मांग मत करो। यहां अप्रस्तुत चातक के वृतान्त से प्रस्तुत याचक को कहा जा रहा है कि तुम देने वाले और न देने वाले हर एक के आगे हाथ मत पसारो।"

इसी प्रसंग में कबीर का यह दोहा भी द्रष्टव्य है:

माली आवत देखि कै, कलियन करी पुकार।

फूली-फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बार।।

"माली को आता देख कर कलियां पुकार मचा रहीं हैं कि माली ने फूली-फूली कलियों को चुन लिया है, कल हमारी भी बारी आने वाली है।" यहां माली और कलियों के अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा सभी लोग यमराज के मुख में जाने वालें हैं। यह प्रस्तुत अर्थ सूचित हो रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी स्थलों में यह बात दिखाई देती है कि प्रस्तुत कोई अन्य है और वृत्तान्त किसी अन्य अप्रस्तुत का वर्णित किया जा रहा है।

इस अलंकार को आचार्य रुद्रट ने भी अन्योक्ति नाम से ही स्मरण किया है तथा निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्जवलं सरः सरसम्।

बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि।।

कोई हंस दूसरे हंस को कह रहा है कि राजहंस जिसमें लीलापूर्वक विहार करते हैं और जो खिले हुए कमलों से उज्जवल है उस सरस सरोवर का छोड़कर तू बगुलों से विलोडित जल वाले जोहड़ को चाट रहा है,

इससे प्रतीत होता है कि तू सचमूच हंस नहीं है। यहां अप्रस्तुत हंस के वृत्तांत से उस प्रस्तुत नर श्रेष्ठ को चेतावनी दी जा रही है जो अपनी श्रेष्ठता को तिलांजलि देकर अश्रेष्ठ व्यवहार करने पर उतारुं हो रहा है।

ऐसी अन्योक्तियां वेद संहिताओं में भी बहुतायत से मिलती हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन यहां कराया जा रहा है।

१. *पहेली-रुप अन्योक्तियां*

२. *द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।*
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

ऋग्० १.१६४.२०

परस्पर सहयोग करने वाले एक-दूसरे के सखा दो सुन्दर पंखों वाले पंछी हैं, जो एक ही वृक्ष पर बैठें हैं। उनमें से एक वृक्ष के स्वादु फल को खा रहा है, दूसरा बिना चखे केवल द्रष्टा बना हुआ है।

वस्तुत: यहां पक्षियों का वृत्तान्त अप्रस्तुत है, प्रस्तुत है परमात्मा, जीवात्मा और जगत् परमात्मा और जीवात्मा एक-दूसरे के सखा हैं तथा एक ही जगत्-रुप वृक्ष पर बैठें हैं। उंनमें से एक जीवात्मा जगत् के स्वादु फलों का भोग कर रहा है, दूसरा परमात्मा साक्षीमात्र बना हुआ है। इस प्रकार अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा यहां प्रस्तुत की व्यंजना हो रही है।

३. *द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।*
आ पुत्रा अग्न मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थु:।।

ऋग्० १.१६४.११

बारह अरों वाला एक चक्र है, जो टूटता नहीं। सत्य नियमों वाला वह चक्र आकाश में चक्कर काट रहा है। एक विशेष बात यह है कि इसके ऊपर ७२० यूगलपुत्र बैठे हुए हैं।

यहां अप्रस्तुत बारह अरों वाले चक्र के वर्णन से प्रस्तुत बारह महीनों से युक्त संवत्सर की अभिव्यंजना हो रही है, जिसमें ७२० मिथुनभूत अहोरात्र (३६० दिन और ३६० रात्रियां) स्थित हैं।

इस श्रेणी की अन्योक्तियां वेदों में बहुत हैं।

अग्नि को संबोधित अन्योक्तियां

कुछ अन्योक्तियां वेदों में अग्नि को संबोधित की गयी हैं।

यथा :

४. *स छँ सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतम:।*
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्।।

यजु० ११.३७

हे अग्नि, तू उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर, तू महान् है, विद्वानों को प्राप्त होने वाला तू संसार में जगमगा।

हे पवित्र, प्रशस्त अग्नि, तू आरोचमान धुएं को उत्पन्न कर।

यहां वक्ता का इसमें तात्पर्य नहीं है कि भौतिक अग्नि चमके और गगनचुम्बिनी धूमशिखा को ऊपर उठाये। वस्तुतः यहां मनुष्य प्रस्तुत है। अप्रस्तुत अग्नि के उद्बोधन द्वारा प्रस्तुत मानव को उद्बोधन दिया जा रहा है कि तू अपनी शक्ति को पहचान, तू महान् है, संसार में सुदृढ़ स्थिति को प्राप्त कर अनुपम तेज से जगमगा अपने आरोचमान, दर्शनीय प्रभाव रुप धूम को सर्वत्र फैला।

५. *प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।*

बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिं थँ सीस्तन्वा प्रजाः।।

यजु० १२.३२

हे अग्नि, ज्योतिर्मय तू अपनी शिव ज्वालाओं से प्रयाण कर। विशाल तेजों से जगमगाता हुआ तू अपने शरीर से प्रजाओं की हिंसा मत कर।

यहां भी वस्तुतः वक्ता का तात्पर्य अग्नि को उद्बोधन देने में नहीं, प्रत्युत मानव को उद्बोधन देने में है। जो मनुष्य भयंकर हिंसा और घात-पात में लगा हुआ है उसे कहा जा रहा है कि तू अपने भीषण शस्त्रास्त्रों से निर्दोष प्रजाजनों की हिंसा मत कर, प्रत्युत अपने अशिव तेज को छोड़कर शिव तेज का प्रसार कर और भयंकर नर संहार का त्याग करके जन-कल्याण कर।

६. *उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ ओषतात् तिग्महेते।*

यो नो अरातिं थँ समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्।।

यजु० १३.१२

हे अग्नि, तू उठ अपनी ज्वालाओं का प्रसार कर। हे तीक्ष्णज्वाल अग्नि, तू शत्रुओं को दग्ध कर। हे देदीप्यमान, जो हमसे शत्रुता करे उसे तू शुष्क वृक्ष के समान भस्म कर दे।

यहां भी अप्रस्तुत अग्नि के माध्यम से प्रस्तुत मानव को ही उद्बोधन दिया जा रहा है- हे मानव, तू उठ, कमर कस ले, जागरुक रह कर अपने प्रभाव को फैला। हे तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों वाले, तू अपने आग्नेयास्त्रों से शत्रुओं को जला दे। हे प्रदीप्त तेज वाले, जो हमारे प्रति शत्रुता का आचरण करता है, उसे सूखे वृक्ष की भांति भस्म कर दे।

घोड़े को संबोधित अन्योक्तियां

वेद की कुछ इतर अन्योक्तियां वाजी (घोड़े) के नाम से मानव को उद्बोधन दे रही हैं। यथा :

७. *वातरंहा भव वाजिन युज्यमान*

इन्द्रस्यैव दक्षिणः श्रियैधि।

युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस

आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु।। यजु० ९.८

हे घोड़े, तू वायुवेग से चल, रथ में जुड़ कर तू सूर्य जैसी शोभा से संपन्न हो। सर्वविद्याविशारद लोग तूझे रथ में नियुक्त करें। त्वष्टा सूर्य तेरे पैरों में वेग उत्पन्न करे।

वस्तुत: यहां घोड़े के वृत्तान्त से मानव को प्रेरित किया जा रहा है। हे बली मानव, तू वायुवेग से पुरुषार्थ कर इन्द्र राजा के समान लक्ष्मीवान् बन। सब ज्ञान और कर्म के वेत्ता विद्वान् लोग तुझे महान् कर्मों में नियुक्त करें। त्वष्टा अर्थात् दोषच्छेदक आचार्य तेरे व्यवहारों में वेग ला देवे।

८. *स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।*
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे।। यजु० २३.१५

हे घोड़े, स्वयं तू अपने को समर्थ बना, स्वयं यज्ञ कर, स्वयं अभिलषित प्रदेश का सेवन कर। तेरी महिमा को अन्य कोई नहीं पा सकता। यहां भी घोड़े के प्रोद्‌बोधन द्वारा मानव को ही प्रोद्‌बोधन दिया जा रहा है।

९. *तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन् तब चित्तं वात इव ध्रजीयान्।*
तव श्रृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति।। यजु० २९.२२

हे घोड़े, तेरा शरीर पतनशील अर्थात् उछलने वाला है, तेरा चित्त वायु के समान वेगवान् है। तेरे सींगों के समान प्रोन्नत रोम शरीर में सर्वत्र विशेष रुप से स्थित हैं, जो तेरे चलने पर टूट-टूट कर जंगलों में गिरते रहते हैं।

यहां श्लेषमूलक अन्योक्ति अलंकार है। घोड़े के वृत्तान्त से मानव का वृत्तान्त वर्णित है। हे घोड़े के समान बली मानव, तेरा शरीर पतनशील अर्थात् विनश्वर है, तेरा चित्त वायु के समान वेगमय है। सींगों के तुल्य विद्यमान तेरे शस्त्रास्त्र शस्त्रागारों में अनेकत्र स्थित हैं। छोड़े जाते हुए वे अरण्यों अर्थात् अरमणीय शत्रुदलों में विचरते हैं।

सूर्य से सम्बद्ध अन्योक्तियां

अब सूर्य-विषयक कुछ अन्योक्तियों का दिग्दर्शन करते हैं।

१०. *उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव में जहि।*
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तम:।। अथर्व० १३.१.३२

हे प्रकाशक सूर्य, उदित होता हुआ तू मेरे शत्रुओं को मार गिरा। इन्हें तू अश्मा अर्थात् व्यापक रश्मिजाल से विनष्ट कर दे। वे शत्रु घोर अंधकार को प्राप्त करें।

वस्तुत: सूर्य की अन्योक्ति से यहां किसी नेता को उद्‌बोधन दिया जा रहा है। हे दिव्यगुणयुक्त नायक, उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ तू मुझ प्रार्थी के वैरियों को नष्ट कर। इन्हें तू अश्मा अर्थात् लोहे या पत्थर के गोलों से विध्वस्त कर दे। वे शत्रु भूमि के अन्दर विद्यमान अंधेरी काल कोठरियों में डालें जाएं।

अगले मंत्र में हंस नाम से सूर्य का वर्णन करते हुए अन्योक्ति द्वारा जीवात्मा का वृत्तान्त सूचित किया

गया है।

११. सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।

स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य सम्पश्यन् याति भुवनानि विश्वा।। अथर्व० १३.२.३८

स्वर्ग अर्थात् आकाश की ओर उड़ते हुए इस सूर्य रुप हंस के उत्तरायण-दक्षिणायन-रुप पंख सहस्रों दिनों से फैले हुए हैं। वह सब किरण-रुप देवों को अपने वक्षःस्थल में लेकर सब भुवनों को प्रकाशित करता हुआ यात्रा कर रहा है।

यहां सूर्य के यात्रा-वृत्तांत से जीवात्मा की यात्रा व्यङ्ग्य हो रही है। जीवात्मा सहस्रों दिनों से अपने ज्ञान-कर्म-रुप पंखों को फैलाये हुए नाना योनिओं में परिभ्रमण कर रहा है। वह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि देवों को अपने वक्ष में धारण करता हुआ, सब भूतों को देखता हुआ संसार-यात्रा का पथिक बना हुआ है।

एक अन्य मन्त्र में सूर्य को उद्बोधन देते हुए कहा गया है :

१२. *हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा*

ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्।

अव तान् जहि हरसा जातवेदो

ऽविभयदुग्रोऽर्चिषा दिवमारोह सूर्य।।

अथर्व० १९.६५.१

हे सूर्य, तू हरि है, मलिनताओं को हरने वाला है, सुपर्ण है, किरण-रुप सुन्दर पंखों वाला है, तू अपनी ज्योति के साथ द्युलोक में चढ़ जा। द्युलोक की ओर उड़ते हुए तेरी जो हिंसा करना चाहें उन्हें हे जातवेदा सूर्य, तू अपने तेज से विनष्ट कर दे। हे सूर्य, भयभीत न होता हुआ उग्र तू अपनी अर्चि के साथ द्युलोक में आरोहण कर जा।

यहां सूर्य की अन्योक्ति से परम उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील किसी मानव को ही उद्बोधन दिया गया है कि हे मानव, तू प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता जा, मार्ग में जो कोई भी विघ्नकारी तुझे उन्नति के मार्ग से प्रच्युत करना चाहे उसे अपने तेज से या आग्नेयास्त्रों से भस्म कर दे।

वेदों में प्रयुक्त उपरिलिखित कतिपय अन्योक्तियां हमने प्रदर्शित की हैं। पाठक अनुभव कर सकते हैं कि इनमें कितना बल है, कैसी ओजस्विनी प्रेरणा है। सीधे मनुष्य को संबोधन करने पर उतना ओज, उतनी गरिमा, उतनी स्फूर्ति, उतनी तेजस्विता प्रकट नहीं हो सकती थी, जितनी अग्नि, अश्व, सूर्य आदि के माध्यम से मनुष्य को संबोधन करने में उत्पन्न हो सकी है।

अन्त में एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। अन्योक्ति अलंकार तभी होता है कि जब अप्रस्तुत का वर्णन किया जा रहा हो तथा उससे प्रस्तुत की व्यंजना हो रही हो। उपर्युक्त उदाहरणों में यदि अग्नि, अश्व, सूर्य आदि में नेता मनुष्य के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलंकार हो जाएगा।

किन्तु यदि यौगिक अर्थ के बल से अग्नि, वाजी, सूर्य, हंस, हरि आदि शब्द वहि अश्व और सूर्य रुप वाच्यार्थों के साथ-साथ अग्रनेता, बलवान्, सन्मागप्रिरक, प्रकाशमान, प्रकाशक मनुष्य को भी अभिहित करें तब दोनों अर्थों के प्रकृत होने से श्लेष अलंकार होगा।

टिप्पणियां मन्त्रार्थ

१. *अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुतताश्रया।*

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।।

का०प्र० १०.९८.९९

२. पदार्थ- (द्वा) दो (सयुजा) सहयोगी (सखाया) सखा (सुपर्णा) सुन्दर पंखों वाले पक्षी (समानं वृक्षम्) एक ही वृक्ष को (परिषस्वजाते) आलिंगन किये हुए हैं (तयोः) उन दोनों में से (एकः) एक (स्वादु) स्वादु (पिप्पलम्) फल को (अत्ति) खा रहा है, (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) केवल देख रहा है।

३. पदार्थ- (द्वादशारम्) बारह अरों वाल (ऋतस्य चक्रम्) सत्यमय चक्र है, (तत्) वह (न हि जराय) टूटता नहीं है, किन्तु (द्याम्) आकाश में (परि वर्वर्त्ति) चक्कर काट रहा है। (अग्न) हे विद्वन्, (अत्र) इस चक्र में (सप्त शतानि विंशतिः च) सात सौ और बीस (मिथुनासः पुत्राः) जोड़ीदार पुत्र (आ तस्थुः) आकर बैठें हुए हैं।

४. पदार्थ- (मियेध्य प्रशस्त अग्न) हे पवित्र, प्रशस्त अग्नि, तू (सं सीदस्व) उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर, तू (महान् असि) महान् है। (दिववीतमः) विद्वानों को प्राप्त होने वाला तू (शोचस्व) चमक। (अरुषम्) चमकीले, (दर्शतम्) दर्शनीय (धूमम्) धुएं का (विसृज) छोड़, उत्पन्न कर।

५. पदार्थ- (अग्ने) हे अग्नि, (ज्योतिष्मान् त्वम्) ज्योतिष्मान् तू (शिवेभिः अर्चिभिः) शिव ज्वालाओं के साथा (प्रयाहि इत्) अवश्य प्रयाण कर। (बृहद्भिः) बड़े-बड़े (भानुभिः) प्रकाशों से (भासन्) भासित होता हुआ तू (तन्वा) शरीर से (प्रजाः) प्रजाओं की (मा हिंसीः) हिंसा मत कर।

६. पदार्थ- (अग्ने) हे अग्नि, तू (उत् तिष्ठ) उठ खड़ा हो, (प्रत्यातनुष्व) ज्वालाओं को फैला। (तिग्महेते) हे तीक्ष्णज्वाल अग्नि, तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (नि ओषतात्) निर्दग्ध कर दे। (समिधान) हे देदीप्यमान, (यः) जो (नः) हमारे प्रति (अरातिम्) अदान को, हानि को (चक्रे) उत्पन्न करे (नीचा तम्) उस नीच को (शुष्कम् अतसं न) सूखे वृक्ष के समान (धक्षि) भस्म कर दें।

७. पदार्थ- (वाजिन्) हे बलवान् घोड़े, (युज्यमानः) रथ में जोड़ा जाता हुआ तू (वातरंहाः भव) वायु के समान वेग वाला हो। (दक्षिण) दक्षतायुक्त तू (इन्द्रस्य इव) सूर्य के जैसी (श्रिया) शोभा से (एधि) युक्त हो। (विश्ववेदसः) सब विद्याओं के ज्ञाता (मरुतः) मनुष्य (त्वा) तुझे (युञ्जन्तु) रथ में

नियुक्त करें। (त्वष्टा) सूर्य (ति) तेरे (पत्सु) पैरों में (जवम्) वेग को (आ दधातु) रख देवे।

८. पदार्थ- (वाजिन्) हे बलवान् घोड़े, तू (स्वयम्) अपने आप (तन्वम) शरीर को (कल्पयस्व) समर्थ बना, (स्वयम्) अपने आप (यजस्व) यज्ञ कर, (स्वयम्) अपने आप (जुषस्व) मनोवांछित प्रदेश का सेवन कर। (ते महिमा) तेरी महिमा (अन्येन) दूसरे के द्वारा (न संनशे) प्राप्त नहीं की जा सकती।

९. पदार्थ- घोड़े के पक्ष में। (अर्वन्) हे घोड़े, (तव शरीरम्) तेरा शरीर (पतयिष्णु) उछलने वाला है। (तव चित्तम्) तेरा चित्त (वातः इव) वायु के समान (ध्रजीयान्) अतिशय वेगवान है। (तव श्रृङ्गाणि) तेरे सींग अर्थात सींगों के समान प्रोन्नत रोम (पुरुत्रा) तेरे सारे शरीर में (विष्ठिता) विविध रुप में स्थित हैं, जो (जर्भुराषा) टूट-टूट कर (अरण्येषु) जंगलों में (चरन्ति) गिरते हैं।

मानव के पक्ष में। (अर्वन्) हे अग्रणी मानव, (तव शरीरम्) तेरा शरीर (पतयिष्णु) नाशवान् है। (तव चित्तम्) तेरा चित्त (वातः इव) वायु के समान (ध्रजीयान्) अतिशय वेगवान है। (तव श्रृङ्गाणि) तेरे सींग अर्थात सींगों के तुल्य नोकीले तेरे शस्त्रास्त्र (पुरुत्रा) बहुत स्थानों में (विष्ठिता) विविध रुप में स्थित हैं, जो (जर्भुराषा) प्रहार किये जाने पर (अरण्येषु) अरमणीय शत्रुओं पर (चरन्ति) गिरते हैं।

१०. पदार्थ- (दिव सूर्य) हे प्रकाशक सूर्य, (उद्यन् त्वम्) उदित होता हुआ तू (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (अव जहि) मार गिरा। (एनान्) इन्हें (अश्यना) व्यापक रश्मिजाल से (अव जहि) मार गिरा। (ते) वे शत्रु (अधमं तमः) निचले अंधेरे में (यन्तु) चले जायें।

११. पदार्थ- (स्वर्गं पततः) आकाश की ओर उड़ते हुए (हरेः) मलिनताओं को हरने वाले (अस्य हंसस्य) इस सूर्य रुप हंस के (पक्षौ) उत्तरायण-दक्षिणायन-रुप पंख (सहस्राह्ण्यम्) हजारों दिनों से (वियतौ) फैले हुए हैं। (सः) वह (सर्वान् देवान्) सब प्रकाशक किरणों को (उरसि) अपने वक्षःस्थल में अर्थात् सूर्यमण्डल में (उपदद्य) देकर (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (सम्पश्यन्) प्रकाशित करता हुआ (याति) गति कर रहा हैं।

१२. पदार्थ- (हरिः) मलिनताओं को हरने वाला (सुपर्णः) किरण-रुप सुन्दर पंखों वाला तू, हे सूर्य (अर्चिषा) ज्योति से (दिवम् उत्पतन्तम्) मध्यायह्नाकाश की ओर उड़ते हुए (त्वा) तुझे (ये दिप्सन्ति) जो दबाना चाहें, विघ्नित करना चाहें (तान्) उन्हें, (जातवेदः) हे प्राकशक सूर्य, तू (हरसा) ज्योति से (अवजहि) मार गिरा। (अविभ्यत्) भयभीत न होता हुआ (उग्रः) उग्र तू (सूर्य) हे सूर्य (अर्चिषा) तेज के साथ (दिवमृ) मध्याह्नाकाश में (आरोह) चढ़ जा।

१३. *समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।*

व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।।

सा०द० १०.५६

वेद मन्दिर

ज्वालापुर, हरिद्वार-२४९४०७

संस्कृतवाङ्मये धनुर्वेद विज्ञानम्

डा० दिनेशचन्द्रो "धर्ममार्तण्डः"

अतिप्राचीनकालात् शारीरिक शिक्षायश्चर मोत्कर्षो धनुर्वेद विज्ञाने ऽन्तर्निहितोऽस्ति। अत्र विज्ञानस्य तात्पर्यं प्रयोगविज्ञानम् विशिष्टं ज्ञानं वा ऽस्ति। धनुर्वेदस्य इतिवृत्तं तत्परम्परावाप्त शिक्षणञ्च वेदानामेव पुरातनीमन्वेति। अत एव सर्वेषु वेदेषु अस्य विज्ञानस्य वर्णनं विहितम्। अस्य एकमेव कारणं केवलम् राष्ट्ररक्षणमेवास्ति। धनुर्वेदं विना राष्ट्ररक्षणमसम्भवम्।

पुरा विशेषेण क्षत्रिया एव राष्ट्ररक्षा-भारं वहन्ति स्म। 'क्षत्रे' ति शब्दस्य अर्थ एवाऽस्ति विघ्नवारकः। महाकविना कालिदासेन रघुवंश महाकाव्ये भणितं यत् क्षत्रियाः स्वीयां रक्षां स्वयमेव कुर्वन्ति स्म, ते पररक्षिताः पराश्रितावा नासन्। अतः स्वस्य परेषाञ्च रक्षायै धनुर्वेदस्य प्रयोजनम् नितराम् आवश्यकम्। महर्षि वशिष्ठ प्रणीतायां धनुर्वेदसंहितायाम् लिखितं यत् दुष्टतस्करस्तेनादिभ्यः साधूनां परित्राणं प्रजानाञ्च पालनं धनुर्वेदस्य मुख्यं प्रयोजनमस्ति। यदि कश्मिंश्चित् ग्रामे एकोऽपि महान् धनुर्धरो भवति स्म तर्हि तेन तस्य ग्रामस्य रक्षा भवति स्म, शत्रवः तम् वीक्ष्य पलायन्ते स्म। महाकविना भवभूतिनाऽपि 'उत्तरराम चरिते' धनुर्वेदस्य रक्षात्मकं स्वरूपं चित्रितमस्ति। शुक्रनीत्यनुसारं धनुर्वेदः केवलं धनुः -सञ्चालन- प्रक्रियाया एव ज्ञानं न कारयति स्म, अपितु युद्धोपयोगिनां सकलास्त्र शस्त्राणाम् निर्माण सम्बन्धि प्रयोगात्मकं विवरणमपि उपस्थापयति स्म। तत्स्वरूपं रौद्रात्मकं मन्यते स्म।

वैदिक युगे वीरतायाः सैन्यबलस्य च चिन्हम् धनुरासीत्। वस्तुतः सैन्यशक्तेः पर्यायः धनुरेव आसीत्। ऋग्यजुर्वेदसंहितयोर्निम्नाङ्कितैकमन्त्रानुसारम् सर्वाः काष्ठाः जेतुं शक्नुवन्ति स्म -

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।

धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम।।

ऋग्वेद ६.७५.२, यजु० २९.३९

एवमेव अन्यत्र ऋग्वेदे ब्रह्मणस्पतिं लक्ष्यीकृत्य उदीरितं यत् ते बाणप्रक्षेपणे कुशला आसन्, स्वाभीप्सित प्राप्तिरपि धनुर्बलेनैव कुर्वन्ति स्म। तैः प्रक्षिप्ताः शराः कार्यसाधने सर्वथा समर्था आसन्-

ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्रतदश्नोति धन्वना।

तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः।।

ऋग्० २.२४.८

अथर्ववेदे एकस्मिन् सूक्ते धनुः प्रति अभ्यर्थना विहिताऽस्ति। यत् त्वां संधार्य अहं क्षत्रतेजसा बलेन च युक्तः स्याम्। अत्रैव द्रविण कामना अपि विहिता-

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।

समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्।। अथर्व० १८.२.६०

एवमेव यजुर्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे वीरपुरुषस्य लक्षणे सशस्त्ररुपं प्रतिपादितमस्ति। तत्र आशयोऽयमस्ति यत् वीरपुरुषाणां चापाः कदापि प्रत्यञ्चा- रहिताः तूणीराश्च शररहिताः न भवन्ति। समासेन इदं वक्तुं शक्नुमो यत् वीरपुरुषाः सर्वदा चाप-सज्जिताः भवन्ति स्म -

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।

अन्नेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः।।

यजु० १६.१०

"अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु" इति सामवेद (२.१२)- मन्त्रेऽपि यत्र वज्रधारिणां सैनिकानां रक्षायै इन्द्रः प्रार्थितस्तत्र युद्धे प्रयुक्ताः शराः जयन्तु, इति वर्णनम् उपलभ्यते।

चापेष्वोः वैदिकं लौकिकं च व्यापक प्रभावं वीक्ष्यैव भगवता कृष्णेन 'श्रीमद्भागवते' भणितम् -

"आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम्" (भाग० ११.६.२०)

"उपवेदा प्रायोगिका भवन्ती"- ति प्रायशः सर्वे जानन्ति। प्रयोगानामभावे ते बहूनि दिनानि यावत् प्रचलिता न भवन्ति। आयुर्वेद -गान्धर्ववेद- स्थापत्यकलादीनां यावत् प्रयोगात्मकं शिक्षणम् अभ्यासश्च न स्यात् तावत् केवलं पुस्तकानामध्ययनेन आलोचनेन च यथार्थलाभो न भवति। कालक्रमेण विस्मृतिं प्राप्ता इतरे उपवेदास्तु केनापि प्रकारेण अद्यावधिः जीविताः परं धनुर्वेदस्य स्थितिरतीव चिन्तनीया अस्ति। केवलम् अरण्यक्षेत्रेषु एवास्य व्यवहारो दृग्गोचरीभवति। यस्मिन् भारते वर्षे धनुर्वेदसदृशम् अपूर्वम् सैन्यविज्ञानं स्यात्, तत् किं पारतन्त्र्यं कदापि अधिगन्तुम् शक्येत्। एतत् सर्वम् अस्माकम् अनवधानतया सञ्जातम्। इदानीम् स्वतन्त्रे भारते अनवधानतेयम् परिशोधनीया।

पुरा धनुर्वेदस्य इयान् महान् प्रचार आसीत् यत् पुराणरामायण महाभारत काव्यग्रन्थेषु सर्वत्र अस्य चर्चा व्यवहारश्च प्राप्नोति। बौद्ध साहित्यस्य 'ललितविस्तरे' [1] ग्रन्थेऽपि यत्र बोधिसत्वस्य अन्यासु कलासु वैलक्षण्यमिति कथितम् तत्र धनुर्वेदेऽपि नैपुण्यं भणितम्। रामायणकालवत् अस्मिन् समयेऽपि कुशलाय धनुर्धराय श्रेष्ठा कन्या दीयते स्म, डिण्डिम घोषोऽयं आसीत् यत् शिल्पज्ञाय कन्या दातव्या। 'मिलिन्दप्रश्ने' ये शिल्पाः परिगणिताः तेषु धनुर्वेदोऽपि आसीत्। एवमेव जैनागमे [2] द्विसप्ततिसंख्याककलानां मध्ये धनुर्वेदोऽपि आसीत्। सारांशतः प्रत्नग्रन्थेषु सर्वत्र चर्चितत्वात् यथा अन्ये उपवेदाः सुव्यवस्थित शास्त्रत्वेन प्रतिष्ठिताः आसन् तथैव अयमपि आसीत्, यस्य पठनम् पाठनं तदा व्यापकम् आसीत्।

धनुर्वेदस्य मूल प्रवक्ता भगवान् सदाशिवः। इमम् (धनुर्वेदं) सदाशिवात् परशुरामोऽवाप्नोत्। महर्षि वशिष्ठः तेषां सतीर्थ्य एव आसीत्। वशिष्ठात् विश्वामित्रेन प्राप्तम्। अत एव वसिष्ठप्रोक्त धनुर्वेदो विश्वामित्रप्रोक्त धनुर्वेदश्चोभावेव साम्यं भजेते। पादचतुष्टयात्मको धनुर्वेदो

१. द्र. ललितविस्तार शिल्पसंदर्शन परिवर्त द्वादश पृष्ठ १०८

२. द्र. समवायांग सूत्र तथा रायपसेयि सूत्र

विश्वामित्रप्रणीत एव इति प्रस्थानभेदे[3] वर्णनम् उपलभ्यते। 'व्यायामज्ञानकोशे' उदीरितमास्ति यत् वसिष्ठोक्ते धनुर्वेदे तन्त्रयुद्धस्य प्राधान्यमस्ति। विश्वामित्रेन धनुर्वेदशास्त्रं संशोध्य इदं शास्त्रीयम् रुपञ्च प्रदाय प्रधानाचार्य पदं लब्धम्। 'हिन्दुत्वे'-ति नाम्नि ग्रन्थे रामदासगौडमहाभागेन लिखितं यत् प्रस्थानभेदकाराः मधुसूदन सरस्वती महाभागाः विश्वामित्र प्रणीतं धनुर्वेदं जानन्तिस्म, यच्च अद्यावधिः अप्राप्योऽस्ति। किन्तु इदं विचारणीयं यत् 'प्रस्थान भेदे' 'हिन्दुत्वे' च वसिष्ठोक्तस्य धनुर्वेदस्य चर्चा एव नास्ति इत्थम् धनुर्वेदस्य मौलिका प्रतना ग्रन्थाः सम्प्रत्यनुपलब्धा उपलब्धा वा निम्नोट्टङ्किताः परिज्ञायन्ते। ते चैते-

शिवविरचितो धनुर्वेदः, वसिष्ठप्रणीतो धनुर्वेदः (संहितारुपः), भरद्वाजकृतो धनुर्वेदः, वैशम्पायनप्रणीतो धनुर्वेदः, वृद्धशार्ङ्गधर कृतो धनुर्वेद, द्रोणाचार्यप्रणीतो धनुः प्रदीपः परशुराम कृतो धनुश्चन्द्रोदयश्च।[5]

धनुर्वेदस्य दीक्षापादः, संग्रहपादः, सिद्धपादः प्रयोगपादश्चेति चत्वारः पादा विद्यन्ते।[6] महाभारतस्य नीलकण्ठी टीकायां दीक्षा, शिक्षा, आत्मरक्षा तेषां साधनानि चेति चत्वारः पादाः निर्दिष्टाः। अग्निपुराणानुसारम् अपि धनुर्वेदश्चतुष्पादात्मकः।[7] तत्र प्रथमे दीक्षापादे धनुर्लक्षणम्, अधिकारिनिरूपणं दीक्षा-अभिषेकादीनां विधानञ्चोपलभ्यन्ते। संग्रहपादे प्रामुख्येणाचार्यलक्षणं, मन्त्रशस्त्रादि विषयाणां संग्रह विधानञ्च विवृते स्तः। सिद्धपादे सकलविधशस्त्रास्त्राभ्यासविधिविधानं, मन्त्रदेवतासिद्धिविधानञ्च वर्णिते स्तः। प्रयोगपादे मन्त्रदेवतार्चनं सिद्ध शस्त्रास्त्रादि[8] प्रयोगादिकञ्च विवृते वरीवृततः।

चतुष्पादधनुर्वेदानुसारं धनुर्वेदस्य शिक्षा सैनिकी शिक्षा। इमां शिक्षां लक्ष्यीकृत्य वेदानां नैकेषु सूक्तेषु वर्णनं समायातम् अस्ति। यथा चन्द्रमभिलक्ष्य ऋग्सामवेदयोरेकस्मिन् सूक्ते भणितम्-

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वानां मामकानां मनांसि।

उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः।।

(ऋग्० १०.१०३.१० ; सा०उत्तरा० २१.१.१८५८)

---

३. प्रस्थानभेद्र , पृष्ठ १५

४. गुरुवेदज्योतिः, पृष्ठ ३०५

५. अमी ग्रन्था बङ्गविश्वकोषकारेण धनराजशास्त्रिणोल्लिखिताः पुराणेषूद्घृताश्च समवगम्यन्ते। (द्र० हरिकृष्ण शास्त्रिदातारः, संस्कृतवाङ्मयम्, पृष्ठ १४१)

६. महाभारत, शल्य० ६.१४

७. अग्निपुराण २४९.१

८. नारायणास्त्र-पाशुपतास्त्र-ब्रह्मास्त्र-ब्रह्मदण्डास्त्र-ब्रह्मशिरसास्त्र-ऐन्द्रास्त्र - वायव्यास्त्र-आग्नेयास्त्र-पार्जन्यास्त्र-पार्वतास्त्र-सार्पास्त्र-गारुडास्त्र-सम्मोहनास्त्र-स्तम्भनास्त्रादीनां युद्धप्रसङ्गादिषु परिवर्णनं रामायण-महाभारत-पुराणादिषु विहितमुपलभ्यते। (द्र० हरिकृष्ण शास्त्रिदातारः, संस्कृत वाङ्मयम्, पृष्ठ १४२)

एवमेव यजुर्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे सैनिकीं शिक्षां सम्बोध्य कथितं यत् त्वं (शिक्षा) शत्रुहन्त्री विजयशीला च भव तथा त्वं देवतानां सर्वाणि कण्टकानि अपसारय। यथा चाऽऽह

सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्य: कल्पस्व सिंह्यसि सपत्नसाही।

देवेभ्य: शुन्धस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्य: शुंभस्व।।

(यजु० ५.१०)

इत्थं संस्कृत वाङ्मये वेदस्मृति गृह्यसूत्रेतिहासपुराणरामायणमहाकाव्य प्रभृतिषु क्वचित् विस्तरेण क्वचिच्च समासेन धनुर्वेदस्य व्यापकं स्वरुपं तत् शिक्षा चोल्लिखिता विभाति। राष्ट्ररक्षायै नूतने परिवेशे धनुर्वेदोपयोगो ऽनपहेय इतिदिक्।

वरिष्ठ प्रवक्ता, वेदविभागे

THE WORDSWORTH MATRIX IN G.D. ROBERTS' TANTRAMAR REVISTED

Dr. Satendra kumar

'The Tantramar Revisited' says Keith, in his 'Introduction' to Roberts' Selected Poetry and Critical Prose (1974), Shows the poet 'at the height of his power' and it transcends the poetry of mere 'nostalgia and rural description' to become' a sensitive and intelligent enquiry into the nature of memory and change'.[1] Usually remarking that the poem is derivative and reminiscent without being original or innovative.[2] Roberts did not invent a new form for his poem, his decision to remember and to echo in ' The Tantramar Revisited' the verse forrm, the cadences, and even specific details [3] of Evangeline is both apt and appropriate, not only because his poem takes as its theme, 'nostalgic rememberance', [4] but also because it takes as its subject a portion of the landscape of the Maritimes, and indeed precisely that portion which Cappon appositely calls, ' the land of Evangeline' [5]. Roberts adds historical depth and resonance to his meditation on the effects of time and memory in the region of the Tantramar marshes on the Bay of Fundy. 'The Tantramar Revisited' thus gains an historical dimensions (and it is worth remembering here Roberts' well known fascination with the history of the Maritimes) through an allusion inherent in its verse form and its cadences.

Roberts servers the readers' ear notice- of what, in effect, is the imaginative adventure of the poem ; the speaker's discovery of the disconjuction between his expectation and the reality, between his expectation that the marshlands have not been affected by Time and the reality that, of course, they have. The speaker of the poem comes to realize that even in the Landscape of his youth the same forces are at work.

'Nature poetry', wrote Roberts in the December 1897 issue of Forum, (New York), is not mere description of landscape in metrical form, but an expression of one or another of many vital relationships between external

nature and 'the deep heart of man" [6].

The Canadian poet derived his concern for the fact that Man alone, being both a part of and apart from the natural world, feels the burden of time and death, while Nature itself, whether it be through mere endurance (as in the case of geophysical formations such as rock and ocean) or through seasonal and cycliical reoccurance (as in the case with trees, grass and other aspects of the vegetable world), seems immune to the forces of Time and Death. Be this as it may, I shall try to show that a concern with the effects of Time and Death on Man and Nature lies at the coire of 'The Tantramar Revisited' and, moreover, that the interaction bertween 'external nature' and the 'heart' of the speaker is the source of the dialectcal and dramatic development that takes place in the poem. This development resides in the gradual transformation of the speaker's attitude to and perception of the Tantramar landscape from a place where, the forces of 'chance and change' have also taken their roll. By means of the interaction between the speaker (Man) and the landscape (Nature) the poem explores the effects of Time.

Roberts' poetry is, to a large extent, derivative. His poems avail themselves of situations that atre Wordsworthian, images that are Wordsworhtian, phrases that are Wordsworthian.

The poem is his version or more properly, his inversions of Wordsworth's 'Tintern Abbey'. The core of the poem is unmistakably Wordsworthian : the setting is the Lake Country of the Romantics ; the situation a return to the earlier associations of the scene by a matured poet and his sister ; the import, a creed handed down by the poet to his listener.

In 'Tintern Abbey' Wordsworth and Dorothy stand,' here upon the banks of this fair river'. The poet mourns his lost childhood oneness with Nature but derives joy from the knowledge that his sister still possesses the power that he has lost. The poem ends on a triumphant asseration of his belief in a matured and 'sober pleasure' based on the 'wild esctasies' of youth. Memory

becomes a source of joy : Nature never did betray the heart that loved her. The poet, "a worshiper of Nature", can readily become its priest.

In 'Tantramar Revisited' Roberts stands on a tidal river that empties into the Cumberland Basin of the Bay of Fundy : 'here from my vantage ground'. The poem ends with a tinge of hope and memory becomes sad to reminiscent the old landscape ; but he takes consolation ' as I sit and watch this present peace of landscape'. The poem ends with a tinge of hope and memory becomes a source of joy : 'many and many a sorrow has all but died from rememberance'. He hopes to derive a creed based on his observation of Nature. But while Roberts' earning for sobering 'thoughts' suggested by the surroundings is not unlike Wordsworth's, his interpretation of these surroundings is marked different. To Wordsworth the communion between Nature and Man is intself an abundent compensation for the mutability of life - it brings out the communion between brother and sister, man and man and confirms the poet in his role of Nature's high priest. To Roberts on the other hand, the utter impersonality of the scene before him only accentuates the need for an adequate attitude towards a Natural world which can no more provide the 'tender joy' that Wordsworth was capable of extracting from it than it can act as a stimulas for the heightened sensation sought by Roberts.

The isolated poet who converts the 'still sad music of humanity into a joyful faith, has become a detached stoic contemplation, content with, "the hands of chance and change". For what has changed, above all, is the order preceived by the poet and the manner in which the poet's perception has been achived. The devine 'presence' perceived by Wordsworth resides in the lanscape he sees as well as in himself. It is

a sense sublime
Of something far more deeply interfused,
Whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean and the living air,

And the blue sky, and in the mind of man;
A motion and a spirit that impels,
All living things, all objects of all thought,
And rolls thourgh all things.

To Roberts, on the order had, is the aggregate of all that is visible; an impersonal and tyrannical power which offers not joy, but peace' to him who apprehends its operations.

Yet as I sit and watch, this present peace of the landscape
Stranded boats, these reels empty and idle, the hush
One grey hawk show-wheeling above you cluster of haystacks,
More than the old time stir, how once it stung me with rapture
Old time sweetness, the winds freighted with honey and salt!
Yet will I stay my steps and not go down to the marshland,
Muse and recall far off, rather remember than see
Iest on too close sight I miss the darling illusion,
Spy at their task even here the hands chance and change.

Nature has provided Wordsworth with all 'holy love' ; it has only confirmed Roberts' saddened intellectual awareness.

'Tantramar Revisited' and 'Tintern Abbey' rely on the modulation of conflicting moods, both poems conclude on the speaker's subjection to a discipline based on Nature. Wordsworth emphasizes the beneficence of this discipline ; Roberts emphasizes its grim necessity. We see that the poet is emphasizing the speaker's inability noted by strong, to maintain the assurance asserted in the opening section. Instead of a sense of stability reinforced by even candances and balanced statements, we are given in the section an increasing emotional departure from the present. In each case, the

landscape has acted as a guide. But while for Wordsworth Nature is an active teacher and comforter who readily reveals ' a presence that disturbs me with the joy of elevated thoughts', Roberts' thoughts are addressed rhetorically to the impassive landscape before him so that it might confirm his own well rehearsed lesson in the art of remembring :

Miles on miles beyond the the tawny bay is Minudie
These are the low blue hills, village gleam at their feet
Nearer a white sail shines across the water, and nearer Still are
the slim, grey masts of fishing boats dry on the flats.
Ah how well I remember those wide red flats, above tide mark
Pale with scurf of the salt seamed and baked in the sun!
Well I remember the piles of blocks and ropes, and the ret-reels,
Wound with the beaded nets, dripping and dark from the sea.

The lesson of joy given to Wordsworth is thus subverted. For Roberts' nature is utterly impervious to the emotional demands of its students. 'The meadows and the woods and mountains' speak freely to Wordsworth in the "language of sense". Roberts, however, must scrupulously points out that the language he ascribes to the scene before him is really his own.

Wordsworth's vision is transcedent and symbolical : ocean, air, and sky contain the same spirit which dwells ' In the mind of man' Roberts' vision is analytical and allegrical ; the mind of man can tentatively impose its understanding upon what it apprehends through the senses. Therefore, while Wordsworth's poet is medium for the divine plan of Nature, Roberts' poet is merely the interpreter of the 'dumb' wishes of a neutral universe. Whereas Wordsworth becomes infused and intoxicated by the centrifugal power of Nature. Roberts must stand aside and examine his own relative position in time and space in order to preserve his 'hands of chance and change'. To

conclude (in few), ' The Tantramar Revisited', thus, represents Roberts' attempts to give a contemproary 'application' to Wordsworth's Romantic poem.

NOTES

1. **Selected Poetry and Critical Prose** (University of Tornoto Press,1974),p.xxi.
2. Pacey's Essays, p.193
3. Two tone quotations from the opening sections of **Evangeline, The Poetical Works of Longfellow** (London : Fredrick Warne, n.d.) pp.106 and 109, should be sufficient to establish the connections :

   Dikes that the hands of the farmer had raised with labour Intessant,
   Shut out the turbulent tides ; but at stated season the food gates,
   Opened, and welcomed the sea to wander at will over the meadows.
   West and South there were fields of flax, and orchards, and cornfields,
   Spreading after and undefenced over plain ; and away to north ward
   Blomidon rose ....
   Now had the season returned, when the nights grow colder and longer,
   And the retreating sun the sign of the Scropion enters,
   Birds of passage sailed through the leaden air.......
4. **Ten Canadian Poets**, p.48
5. **Charles G.D. Roberts** (Toronto : Ryerson, 1925), p.12
6. **Selected Poetry and Critical Prose**, p.281.

Community Education

Dr. SHASHI BHANU VIDYALANKAR

Community education for Social Development in present scenario :

1. The hazard to the continuity and source of inspiration of the community Education Programme. The main cause of deternment to the continuity of this programme is the uncertain future of the people involve.
2. Insufficient financial resources.
3. The villager's attitude of indifference towards the programme.
4. The lack of direct and full co-operation of the local unit like Gram Panchayat.
5. The literacy movement has to be related to many related aspects, particularly the livelihood of the engaged workers.
6. The literacy should have been thrusts towards the increase of knowledge, general entertainment and co-operation of the community. For this regional centers of folk culture should be established.
7. Non-Government (NGOs) organisation should be involved and encouraged for the dynamic growth of this programme. For this NGOs should be granted greater freedom to work. At the same time the progress of their work should be assessed from time to time. For adopting new methods and to entuse full life to this movement new rural talents of young men and women should be discovered and encouraged to participate in the movement.

ADULT EDUCATION

'Community Education' this phrase of word is generally meant that education for backword people like labours, women of backward areas and generally education for them after the primary education, and specially education for child labours.

In this changing scenareo where University system is going to be Privatised. In this we can take a topic education for Adults.

The adult education departments were started into the University system as a part of Government policy in 1978. They were initially established as an extension activity to contribute towards national endeavour to eradicate illiterary.

For Adults how this education we can give in the form of community? Answer of this question is that how should Teaching Activities Organised.

METHOD USED :-

Adult education in the form of community is essentially a method of quantitative description of the general characteristics of a group. This mehtod of Adult education in the form of community education deals with the relationship between variables, the listing of hypotheses and development of generalizations that have universal validity. In the words of F. L. Whiteny in his book 'The Elements of Research', Page 161 "nominative survey is an organised attempt to analize, interpret and report the present status of the social institutions, group or area." According to J. W. Best in his book ' Research in Education', Page 107 "Gather data from a relatively large number of cases at a particular time. It is no concerned with the characteristics of individuals. It is concerned with the generalized statistics that result when data abstracted from a numbeer of individual cases."

THE ADJUSTMENT INVENTORY (Adult Form) :

This is developed by H. M. Bell, Dr. J. B. Verma in connection with his post doctral research made an Indian adoptation and translation, All the items have been retained because they were responded well being general in nature even under Indian conditions. The five areas in this connection are- Home, Health, Social, Emotional and Occupational.

How should be it is interviewed. This schedule was developed by the

investigator with a view to see and analyse how for the adults participating in the adults education programmes have been benefitted in a variety of wages. This schedule contains 40 items in the forms of questions, simply because defenite responses on each items may be collected with a view to further analyse the participants way of thinking and behaving and their standards of living. In this scene, this schedule was divided into two parts :

Part-I Collected informations about the conditions in general includ ing the center which the subjects attended.

Part-II Contained such items which reflected how much in the adults who have attended such programmes scan read, write and count and calculated.

In this connection hymn's Rigvedas, Mandal 10 and Sukta 191 -

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे सं नो वसून्या भर।।
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
समानो मन्त्र समितिः समानी समानं मनः सह चिन्तमैषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषां जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।ऋग्वेद १०.१९१

Integrated is the expression of knowledge, an assembly is significant in unity's united are their minds in the silent dynamism of all possibilities. For you (says the Seer Samvanan) I make use of the integrated expression of knowledge. By virtue of unitedness, and by means of that which remains to be united. I perform action to generate WHOLENESS OF LIFE, (this menas that the consiousness of the letters of his name, reverberating in the form of this hymn and producing the cognition, proclaims that consciousness, or the pure nature of life, continues to create newer and newer WHOLENESS - all

the time in one grand WHOLENESS. United be your purpose, harmonious be your feelings, collected be your mind (the phrase collected be your mind' calls for integrated neurophysiological functioning) in the same way as all the various aspects of the universe exists in togetherness, WHOLENESS.

The Bhagwad Gita this topic is also explained -

ततत्क्षाविरभूत्वसाक्षात् श्रीरमाभगवत्परा।
रञ्जयन्ती: दिश: कान्त्या विद्युत्सौदामनी यथा।। -
श्रीमद्भागवतम्८.८.८

Go together, speak together, know your mind to be functioning together from a common source in the some manner as the impulse of Creative Intelligence, in the begining, remain together united near the source.

We can happily the cultivation and propagation of community service with Social forestry. As through social forestry we help the physical environment become more conductive to the physical health of the people. So through community Education we create health Psychological environment in the society. Ignorance is desseases and knowledge health. If we try to educate the entire population of the country we shall have a more powerful and understanding society. Specially for a successful and lively democracy like Indian Education for the masses is a must. It is only the Educated and knowledgable people who can exercise their franchise in a right way.

The Indian siciety is tragically devided into two sharp groups of haves and have's not. The affluent people can afford the higher cost of the education but the general masses struggling only for their livelihood. Simply can not send their children to the schools. Their children themselves for a powerful source of income for the family. That is also another reason that the poor are not motivated to send their children to schools.

Through the advancement of science and technology the whole of the glow is becoming a large village. Soon, we hope that by the mid of the 21st

century the word will come under one banner of government. To Accelerate their realization of one word civilization the masses have to be educated very thouroghly Community Education is not only beneficial for an individual alone, but it is very useful for the whole of the society and humanity at large. If the human civilization has to survive on the globe the people of all community and cultures will have to develop and sense of mutual appreciation, tolerence and peace. It is only in peace time that man's creative spirit can create world civilization and bring about the dawn of new human race.

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ0 भारतभूषण विद्यालंकार

उपसम्पादक

डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

गुरुकुल-पत्रिका

शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार

वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.

प्रोफेसर - वेद विभाग

एवं

निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

उपसम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'

वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार — 249404

जुलाई, अगस्त, सितम्बर	वर्ष	अषाढ़ - भाद्रपद
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

मुख्य संरक्षक : डॉ० धर्मपाल
कुलपति

संरक्षक : प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति

परामर्शदाता : प्रो० विष्णुदत्त राकेश
हिन्दी विभाग

उप सम्पादक : डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेदविभाग

व्यवसाय प्रबन्धक : डॉ० जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

प्रबन्धक : श्री हंसराज जोशी

प्रकाशक : प्रो० श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार - २४९४०४

मूल्य : २५ रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन 425975

श्रुति-सुधा

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेनसिच्यते।
उतोतदद्यविद्याम यतस्तत्परि षिच्यते।। अ० १०/८/२९

पूर्ण परमेश्वर से सम्पूर्ण जगत् का उदय होता है। इस सम्पूर्ण विश्व को पूर्ण ईश्वर ही जीवन देता है। अत: हम सब उस ब्रह्म को जानें जिससे सकल संसार को जीवन मिलता है।

Forth from the Perfect (Brahma) comes the Perfect (universe). The Perfect (universe) is developed by the Perfect (Brahma). Now therefore may we know him from whom all life is derived.

न तं विदाथ य इमा जजान। ऋ० १०/८२/७
तुम उसको नहीं जानते जिसने इन सबको उत्पन्न किया।
You know him not who created all this.

यस्तन्नवेदकिमृचा करिष्यति।। ऋ०१/१६४/३९
जो उस ब्रह्म को नहीं जानता वह वेद से क्या करेगा।
He who knows him not, what will he avail of the Veda.

एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति ।। अ० १३/३/१७
एक ही ज्योति है जो बहुत प्रकार से चमक रही है।
Though one light, He shines in many forms.

एकं सद्विप्राबहुधा वदन्ति ऋ० १/१६४/४६
उस एक सत्ता को विद्वान् लोग नाना नामों से पुकारते हैं।
That one unchangeable being is called by the learned by different names.

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्यो :।। अ० १०/८/४४
ब्रह्म ज्ञानी मृत्यु से नहीं डरता।।
Knowing him alone he is not afraid of death.

(मेहता रामचन्द्र शास्त्री कृत "वैदिक सूक्तिः" से उद्धृत, पृष्ठ ३ से ५)

सम्पादकीय

इस दृश्यमान जगत् पर विचार करने से कुछ चीजें निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होती हैं जिन पर समस्त दार्शनिकों ने चिन्तन किया और ईश्वर, प्रकृति और उसके उपभोक्ता जीव के विचार तक पहुँचे, परन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य चीजें अपेक्षित हैं जैसे दिशा, काल आदि। दिशा किसी की अपेक्षा से होती है और जब कोई भी दृश्यमान पदार्थ अपने स्थान पर स्थिर न हो, सर्वत्र गतिमान् परमाणु ही हों तो उस अवस्था में दिशा-निर्धारण करना असंभव ही है। क्योंकि उस समय कोई स्थिर पदार्थ नहीं था।

इसी प्रकार जब हम एक दूसरे पदार्थ काल (पृथिव्यप्तेज ..... काल दिगात्ममनांसि नवैव, तर्कसंग्रह) पर विचार करते हैं तो यह किसी की अपेक्षा से नहीं होता हाँ इसके अंश भूत, भविष्यत् और वर्तमान किसी की अपेक्षा रखते हैं। यह काल सृष्टि के पूर्व भी था और सृष्टि के पश्चात् भी रहेगा। यह काल ही सम्पूर्ण सृष्टि अर्थात् विद्यमान जगत् का पिता है। (संवत्सरो वै प्रजापतिः) और यही काल सम्पूर्ण सृष्टि को निगल जाता है और तब इसके रुद्र रूप को देखते हुए इसे ही महाकाल कहा गया। संभवतः रुद्र का विनाशकारी ताण्डव और उसका महाकाल नाम इसी से सार्थक हैं। दूसरे शब्दों में विचार करें तो सम्पूर्ण सत्व में गतिमय परमाणु ही उस रुद्र का नृत्य है जो बिखरता है तो विनाश का रूप हो जाता है। चिन्तकों ने इस काल के जो सूक्ष्म भेद प्रभेद किये वे सब तो औपचारिकता मात्र हैं। यह काल अनादि और अनन्त है इसलिए यह ब्रह्म का एक रूप है।

जब व्यक्ति अपने इस शरीर को छोड़कर अनन्त की ओर चलता है उसके ये जीवन, काल में कुछ पड़ाव ही होते हैं। जब व्यक्ति उस काल के लिए उद्यत होता है और उसे परमात्मा की इच्छा मात्र मान लेता है, अपने को उसके प्रति समर्पित कर देता है, यही उस काल पर विजय है। इस काल के विजेताओं में कुछ नाम अमिट हैं, जिन्हें इच्छामृत्यु कहा गया है। चाहे वे भीष्म हों या दयानन्द, उनकी अमिट छाप इस काल पर भी विद्यमान रहेगी। उन कालजयी लोगों को शतशः नमन पूर्वक ....

(भारत)

शक संवत् या शालिवाहन संवत्[१] ?

दिनेश मिश्र, एम.ए. साहित्यरत्न

आज जो १९९७ को शक संवत् के नाम से पुकारा तथा व्यवहार में लाया जाता है वह शक संवत् नही हैं अपितु वह तो ७८ ई० में शकों के प्रसिद्ध शक सरदार क्षत्रप नहपान का सर्वनाश करने वाले तथा उसके निम्नलिखित प्रदेशों :-

१. अपरान्त (बम्बई प्रान्त का उत्तरी भाग), २. अनूप (नीमाड), ३. सुराष्ट्र (सौराष्ट्र), ४. कुकुर (उत्तरी काठियावाड), ५. अकर (पूर्वी मालवा), ६. अवन्ति (पश्चिमी मालवा) को जीत करके अपने साम्राज्य में मिलाने वाले ईस्वी सन् ७० से ई० सन् ९५ तक शासन करने वाले भारद्वाज गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण सातवाहन वंश जिसे शालिवाहन वंश के नाम से भी जाना जाता है ब्राह्मण वंश में उत्पन्न गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपने वंश के नाम पर चलाया था। अत: वह शालिवाहन ब्राह्मण संवत् है, शक संवत् नहीं है।

अत: अनुरोध के साथ नम्र निवेदन है कि इतिहास के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों द्वारा लिखित एवं इतिहास के प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राप्त तथा मेरे द्वारा प्रदत्त तथ्यों के आधार पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के उपरान्त, अनुचित रूप में व्यवहृत इस शक संवत् को उसके वास्तविक नाम शालिवाहन ब्राह्मण संवत के नाम से पुकारा जाना चाहिये तथा व्यवहार में लाया जाना चाहिये।

किन्हीं भी प्राचीन तथ्यों का निरूपण एवं निर्धारण करने के लिये हमारे पास सर्वप्रथम १. इतिहास के उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा लिखित इतिहास के उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं, तदनन्तर २. प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त एवं लिखा गया उसका प्राचीन रूप है, तदनन्तर ३. परम्परा से प्रचलित जनश्रुतियाँ।

आज जिस १९१७ को शकसंवत् के नाम से पुकारा एवं व्यवहार में लाया जाता है वह संवत् शकों का नाश करने वाले वीर शकारि विक्रमादित्य के संवत् २०५२ से १३५ वर्ष पीछे (२०५२-१३५=१९१७) तथा ईस्वी सन् १९९५ से ७८ वर्ष पीछे (१९९५-७८=१९१७) है। अर्थात् वह ७८ ई० में प्रारम्भ हुआ था।

१- शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला तथा लिखा जाने वाला संवत् १९१७ (विक्रमसंवत् २०५२-१३५=१९१७ तथा ईस्वी सन् १९९५-७८=१९१७) शक संवत् नहीं है अपितु यह १९१७ तो शालिवाहन ब्राह्मण संवत् है। अत: १९१७ को शालिवाहन ब्राह्मण संवत् के नाम से कहा जाना चाहिये और लिखा जाना चाहिये- ऐसा लेखक का मत है जो विचारणीय है (सं०)।

ऐसी स्थिति में हमें यह देखना होगा कि ७८ ई० में भारत में कौन कौन राजा राज्य करते थे। इस तथ्य को जानने हेतु इतिहास के विद्वानों द्वारा लिखित इतिहास के उच्चकोटि के ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ेगा।

इतिहास के कुछ प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों ने यथा १. डा० आर०सी० मजूमदार, डा० एच०सी० रायचौधुरी डा० के०के० दत्ता ने अपने इतिहास के प्रसिद्धग्रन्थ प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास भाग १ में, २. डा० रतिभानु सिंह नाहर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ-प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में, ३. बाबू वृन्दावन दास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ - प्राचीन भारत में हिन्दूराज्य में तथा ४. श्री बी.एन. लुणिया ने अपने अपने ग्रन्थ प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में तथ्यों का निरूपण करते हुए भी उनके ईस्वी सन् अथवा संवत् का निर्धारण नहीं किया है। किन्तु इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान एवं पंजाब यूनीवर्सिटी कालेज नई दिल्ली के इतिहास विभाग के भूतपूर्व प्राध्यापक ५. डा० विद्याधर महाजन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''प्राचीन भारत का इतिहास'' के पृष्ठ ३४१, ३४२ एवं ३४३ पर लिखते हैं कि :-

सातवाहन वंश का अगला महत्वशाली राजा था *गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी और उसने लगभग ७० ई० से ९५ ई० तक राज्य किया।* पृष्ठ ३४१ गौतमपुत्र श्री शातकर्णी को शकों यवनों और पहलवों का विनाशकर्ता कहा गया है। उसने शक सरदार क्षत्रप नहपान के वंश क्षहरात वंश का अन्त किया। उसने अपरान्त, अनूप, सुराष्ट्र, कुकुर, अकर और अवन्ति नहपान से जीत लिये (पृष्ठ ३४२)। *वह विक्रम संवत् का भी प्रयोग नहीं करता था। वह स्वयं अपनी गणना का प्रयोग करता था।* (पृष्ठ ३४३)

६. इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् तथा महाराजा कालेज छतरपुर (म०प्र०) के इतिहास विभाग के प्राध्यापक श्री एस०के० माथुर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''प्राचीन भारत का इतिहास'' जिसकी प्रशंसा डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, भूतपूर्व अध्यक्ष इतिहास राजनीति विभाग आगरा कालेज आगरा ने, प्रो० एस०डी० कापसे अध्यक्ष इतिहास विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुरी ने डा० के०एन०से० अध्यक्ष, इतिहास विभाग, शासकीय महाविद्यालय देवास (म०प्र०) ने डा० इन्द्रकान्त द्विवेदी इतिहास विभाग, शासकीय विज्ञान महाविद्यालय रायपुर (म०प्र० रायपुर विश्वविद्यालय) ने तथा **Dr. Charles, A Johonsen, Director, United State Information Service Bombay** ने मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की है के पृष्ठ २६२ पर लिखा है कि :-

गौतमी पुत्र शातकर्णी यह सात वाहन वंश का सबसे अधिक प्रसिद्ध शासक था जिसने ७० ई० से ९५ ई० तक राज्य किया। इसने शकों, यवनों और पहलवों के छक्के छुड़ा दिये। इसने शक सरदार क्षत्रप नहपान के क्षहरात वंश का अन्त कर दिया। इसके बाद नहपान से अनूप, सौराष्ट्र, कुकुर, अकर और अवन्ति का प्रदेश जीत लिया। .....उसका राज्य उत्तर में मालवा, काठियावाड से लेकर दक्षिण में गोदावरी तक पूर्व में बरार तथा पश्चिम में कोंकण तक विस्तृत था।

इतिहास के निम्नलिखित विद्वानों ने गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी का यद्यपि समय निर्धारण नहीं किया है फिर भी तथ्यों का निम्नलिखित रूप में प्रतिपादन किया है।

बाबू वृन्दावन दास अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य" के पृष्ठ २३० पर लिखते हैं "गौतमीपुत्र सातवाहन सम्राट शातकर्णी ने नहपान को मारकर उसके वंश का उन्मूलन कर दिया शक आक्रान्ताओं की शक्ति को नष्ट करने का प्रधान श्रेय सातवाहन वंश के प्रतापी सम्राटों और मालव आदि गणराज्यों को है।"

डा० रतिभानु सिंह नाहर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास" के पृष्ठ ३०७ पर लिखते हैं कि :-

"जोगलथम्बी से चांदी के सिक्कों की जो निधि प्राप्त हुई है उनमें बहुत से ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र की राजमुद्रा अंकित है, जिससे स्पष्ट होता है कि क्षहरातराज नहपान को उसने पराजित कर दिया था। "(सिक्के पर पहिले से अंकित शासक के नाम के ऊपर अपना नाम अंकित कराना वीरता एवं विजय का सूचक है तथा पहिले सिक्के को गलाकर नया सिक्का ढालने की अपेक्षा अधिक कठिन है)।

श्री बी०एन० लुणिया अपने ग्रन्थ "प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के पृष्ठ २५५ पर लिखते हैं कि :- सातवाहन वंश का सबसे महाप्रतापी एवं पराक्रमी सम्राट् और प्रसिद्ध शासक गौतमी पुत्र शातकर्णी था। उसने अपरान्त, अनूप, सौराष्ट्र, कुकुर, अकर, अवन्ति राज्यों को जीतकर सातवाहन साम्राज्य को विस्तृत किया। महाराष्ट्र के शक शासक नहपान को पराजित करके शकों का उन्मूलन किया।

डा० आर०सी० मजूमदार, डा० एच०सी० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता अपने इतिहास के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास, भाग-१ के पृष्ठ १०० पर लिखते हैं कि:-

ऊपरी दक्षिण एवं पश्चिमी भारत के एक भाग के क्षत्रप क्षहरात जाति के थे जो

सम्भवत: शकों की एक शाखा थी। उन्होंने प्रारम्भिक सातवाहन साम्राज्य के भग्नावशेष पर एक राज्य स्थापित किया और वह नहपान के अधीन बहुत शक्तिशाली हुआ किन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णी ने उन्हें हरा दिया और सातवाहन कुल के यश की फिर से प्रतिष्ठा की।

आन्ध्र सातवाहन वंशी राजाओं का इतिहास, इतिहास के विद्यार्थियों के लिये कोई नवीन विषय नहीं है। डॉ० डी०आर० भण्डारकर के अनुसार उनका उल्लेख ऐत्तरेय ब्राह्मण में है जिसकी रचना ५०० ई० वर्ष से पहिले की गई थी। डा० स्मिथ पुराणों में दी गई जानकारी स्वीकार करते हैं कि आन्ध्रों ने ४६० वर्ष राज्य किया था। मत्स्यपुराण के अनुसार सातवाहन आन्ध्रों के राज्य करने की अवधि ४६० वर्ष, ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार ४५६ वर्ष, वायु पुराण के अनुसार ४११ वर्ष निर्धारित की गई है। -बी०डी० महाजन पृष्ठ ३३९

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आने वाले यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने लिखा है कि आन्ध्रसातवाहन लोग गोदावरी और कृष्णा नदी के मुहानों पर रहते थे। वे अपनी शक्ति के लिये प्रसिद्ध थे। केवल चन्द्रगुप्त मौर्य ही उनसे अधिक शक्तिशाली था। आन्ध्र प्रदेश में ३० नगर थे जो दीवारों से घिरे हुए थे। उनकी सेना में १००,००० एक लाख पैदल सैनिक, २००० दो हजार घुड़सवार और १००० एक हजार हाथी थे। उनकी राजधानी श्री काकुलम थी जो कृष्णा नदी के किनारे पर स्थित थी। बी०डी० महाजन पृष्ठ ३३८

अशोक मौर्य की २३६ ई पू० मृत्यु हो जाने पर मौर्य साम्राज्य के अधीन राजा स्वतन्त्र होने लगे थे जिनमें सातवाहनवंशी आन्ध्र शासक तथा कलिंग के शासक प्रमुख थे। इसी सातवाहन वंश परम्परा में गौतमपुत्र श्री शातकर्णी एक महान पराक्रमी शासक उत्पन्न हुआ जिसने ६० ई० से ९५ई० तक शासन किया। नासिक के एक अभिलेख में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र को अतुलनीय ब्राह्मण कहा गया है जो पराक्रम में परशुराम के समान था। उसने *"त्रिसमुद्रतोयपीतवाहन:"* अर्थात् दक्षिण देश के तीनों समुद्रों, बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और भारतीय महासागर के जल को पीने वाले वाहन अर्थात् सेना का स्वामी की उपाधि धारणा की थी। उसे *"खत्तियदपमानदमनस सकयवन पह्लवनिसूदनस ... खरवरातवसनिरवसेसकरस सातवाहन कुलयसपति थापनकरस।"* अर्थात् क्षत्रिय के दर्प और मान का दमन करने वाला..... कहा गया है। इतिहास में उस समय किसी विशेष क्षत्रिय के शासन का परिचय प्राप्त नहीं होता जबकि शक क्षत्रपों में :-

१. पश्चिमोत्तर भारत और पंजाब का शक राज्य, राजधानी तक्षशिला, शासक माओज
२. मथुरा का शक राज्य, राजधानी मथुरा, शासक हमामस, शोडास

३. महाराष्ट्र का शक राज्य, दक्षिणी भारत, राजधानी महाराष्ट्र, शक क्षत्रप क्षहरात नहपान

४. उज्जैन का शक राज्य, राजधानी उज्जैन, शासक चष्टन

५. कापिस (अफगानिस्तान) का शक क्षत्रप, राजधानी कापस, शासक शिवसेन

पांच प्रधान शक साम्राज्य थे। ऐसी स्थिति में ''खत्तिय'' शब्द का अर्थ क्षत्रिय के बजाय क्षत्रप अर्थ करना होगा -अर्थात शक क्षत्रपों के दर्प और मान का दमन करने वाला, शक यवन और पह्लव वंशों का निषूदन अर्थात् नष्ट करने वाला गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी था।

इतिहास के विद्वानों के अब तक कथन के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ७०ई० में सिंहासन पर बैठा और ९५ ई० तक २५ वर्ष राज्य किया। वह विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था। उसका निकटतम शक्तिशाली शत्रु क्षहरात वंश का शक क्षत्रप नहपान था। नहपान का राज्य भी एक विशाल एवं विस्तृत राज्य था। नहपान के वंश को समूल नष्ट करके गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने उसके विशाल एवं विस्तृत राज्य के बड़े भाग को अपने राज्य में मिला लिया था।

सातवाहन वंशी (शालिवाहन वंशी) राजा गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने ७० ई० में सिंहासन पर बैठते ही ऐसे शक्तिशाली एवं विशाल साम्राज्य वाले शक क्षत्रप नहपान को हराने के लिये एकदम से उस पर आक्रमण नहीं किया होगा अपितु सर्वप्रथम नहपान की शक्ति एवं सेना का पूर्ण अध्ययन किया होगा तदन्तर उसको हराने के लिये उससे अधिक शक्ति एवं सेना का संचय एवं प्रशिक्षण करके अपनी शक्ति एवं सेना की स्थिति को सुदृढ़ किया होगा। इस कार्य में गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को कठोर परिश्रम करना पड़ा होगा तथा पर्याप्त समय अर्थात ६ या ७ वर्ष अवश्य लगा होगा। इस प्रकार ७७ ई० में उसने नहपान पर आक्रमण किया होगा, तब ७७ ई० के अन्तिम समय अथवा ७८ ई० के प्रारम्भ में नहपान को वंशसहित समूल नष्ट करके उसके विशाल एवं विस्तृत साम्राज्य के एक बड़े भाग को अपने साम्राज्य में मिलाया होगा।

गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था। वह स्वयं अपनी गणना का प्रयोग करता था। अत: ७८ ई० में शक्तिशाली निकटस्थ शत्रु शक क्षत्रप नहपान पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त उसने अपने व्यक्तिगत नाम के बजाय अपने वंश ''शालिवाहन'' के नाम पर इस नवीन संवत् को प्रारम्भ किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह ''शालिवाहन'' क्या है ? उन्होंने इसे सातवाहन संवत् न कहकर इसका नाम शालिवाहन संवत् क्यों रखा ? इस सम्बन्ध में इतिहास के प्रसिद्ध

विद्वानों का स्पष्ट मत है कि :-

''मैसूर राज्य के कन्नड़ भाषी क्षेत्र में बेलारी के आसपास ''सातवाहनिहार'' नामक सातवाहनों के एक प्रदेश का होना प्रमाणित हुआ है। इस वंश की स्मृति लोकगीतों में प्रसिद्ध ''शालिवाहन राजा'' की कहानी में सुरक्षित मालूम पड़ती है। इस औपाख्यानिक नायक ने दक्षिण के सम्राटों के एक दीर्घ राजवंश के कई व्यक्तियों के गौरवपूर्ण कार्यों को अपना लिया होगा। -प्राचीन भारत का वृहद् इतिहास भाग-१ पृष्ठ ९७ डा० आर०सी० मजूमदार, डा० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता

सात वाहन शब्द बाद को ''शालिवाहन'' हो गया तथा उसके अनेक राजाओं ने शातकर्णी पद अपने नामों के साथ लगाया। -भारत की युग यात्रा भाग १. श्री रामचरण विद्यार्थी। पृष्ठ-१४६ ।

सातवाहन को ही कहीं-कहीं ''शालिवाहन'' लिखा है। -प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य पृष्ठ २३० बाबू वृन्दावन दास

सातवाहन शब्द प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा का रूप हैं जिसका शुद्ध संस्कृत रूप ''सप्तवाहन:'' है अर्थात् सात घोड़े रूपी भिन्न-भिन्न रंगों को धारण करने वाली किरणें हैं वाहन जिसकी अर्थात् सूर्य। यह सूर्य, श्री राम के वंश के आदि पुरूष, दक्ष की पुत्री अदिति के महर्षि मरीचि से उत्पन्न होने वाले १२ आदित्यों में से जिनमें वरूण सबसे बड़े और सूर्य सबसे छोटे थे वाले सूर्य नहीं थे जिनके सम्बन्ध में महाकवि कालिदास ने **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** नामक नाटक के सप्तम अंक में कहा है :-

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजस: कारणम् ,
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।
यस्मिन्नात्मभुवो परोऽपि पुरूषश्चक्रे भवायास्पदम् ,
द्वन्द्वं दक्षमरीचि सम्भवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ।।

अथवा श्रीमद् भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय, जिसमें श्रीकृष्ण युद्ध से विमुख हुए अर्जुन को ज्ञानकर्म सन्यास योग का उपदेश देते हुए, क्षत्रियोचित कर्म करने की प्रेरणा देते हुए समझाते हैं:-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ऽ ब्रवीत् ।।

एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तपः ।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि में सरवा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।

विवस्वान् - सूर्य, दक्षपुत्री अदिति और महर्षि मरीचि के बारह आदित्य पुत्रों में से एक छोटापुत्र मनु - विवस्वान् का पुत्र तथा इक्ष्वाकु - मनु का पुत्र। विवस्वान् श्री राम के वंश का आदि पुरुष।

किन्तु ये सातवाहन वंशी राजा तो संसार को प्रेरणा एवं जीवन प्रदान करने वाले सूर्य को अपने वंश का प्रवर्तक प्रेरणा देने वाला आदि, उद्‌भव स्थान मानते हैं जिसके सम्बन्ध में कहा गया है :-

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगाः ।
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः।
क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।।

इसी आधार पर सातवाहन वंशी राजाओं ने अपने वंश का दूसरा इसी का पर्यायवाची नाम शालिवाहन वंश रखा। इसी आधार पर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने जो किसी दूसरे के संवत् का प्रयोग नहीं करता था, ७८ ई० में क्षहरात वंश के शक क्षत्रप नहपान के वंश का समूल उन्मूलन करके "शालिवाहन संवत्" नाम रखा। यह संवत् शकों पर विजय प्राप्त करने तथा प्रसिद्ध शक वंश का सर्वनाश करने के उपलक्ष्य में चलाया गया था। इसलिये इसके नाम के प्रारम्भ में शाके शब्द और जोड़ दिया गया और इसका पूरा नाम "शाके शालिवाहनस्य संवत्" हो गया।

भारत में प्रचलित कुछ पञ्चागों पर यह "शाके शालिवाहनस्य संवत्" लिखा जाता है।

१. पं० नागरदत्त गणेशदत्त जी ने अपने विक्रम सं० २०२३ के असली लावड के पञ्चांग पर विक्रमादित्य संवत् २०२३ *शाके शालिवाहनस्य संवत् १८८८* मुद्रित किया है।

२. पं० रविदत्त शर्मा जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०३३ के पञ्चांग पर असली लावड का पञ्चांग विक्रमादित्य संवत् २०३३ शाके शालिवाहनस्य संवत १८९८ मुद्रित किया है।

३. बिसाऊ निवासी पं० भोलाराम शर्मा ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०३३ के पञ्चांग पर विक्रमादित्य संवत् २०३३ शाके १८९८ सन् १९७६-७७ मुद्रित किया है।

४. श्री पं० ऋषिकेश पाण्डेय जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०४६ के ''काशी का शुद्ध पञ्चांग'' पर विक्रमादित्य संवत् २०३२ शाके १८९७ मुद्रित किया है।

५. श्री पं० ऋषिकेश पाण्डेय जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०४६ के ''काशी का शुद्ध पञ्चांग'' पर विक्रमादित्य संवत् २०४६ शाके १९११ मुद्रित किया है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी पञ्चांगों पर विक्रमादित्य संवत् और शाके शालिवाहनस्य संवत् तथा शाके संवत् शब्दों का प्रयोग किया गया है। विक्रमादित्यसंवत् में षष्ठी विभक्ति के तत्पुरुष समास का सहारा लेकर विक्रमादित्यस्य संवत् अर्थात् विक्रमादित्य का संवत् यह अर्थ किया जायेगा किन्तु शाके शालिवाहनस्य संवत् अथवा शाके संवत् में शाके शब्द में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है और शालिवाहन शब्द में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अत: इस शब्द ''शाके'' का अर्थ स्पष्ट करने के लिये हमें, उस भाषा के व्याकरण और साहित्य का अध्ययन एवं परीक्षण करना आवश्यक होगा जिस भाषा का यह ''शाके'' शब्द है। यह शाके शब्द संस्कृत का शब्द है जिसमें सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। शक=एक जाति, शाक=शक जाति से सम्बन्धित, राज्य अथवा राजा शाके=शक जाति से सम्बन्धित राज्य अथवा राजा के .... ? इस प्रकार शाके शब्द के निम्नलिखित अर्थ पाणिनि की व्याकरण के आधार पर किये जा सकते हैं :-

१. शाके शालिवाहनस्य - शक जाति में पैदा हुए शालिवाहन का
२. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के प्रारम्भ होने पर शालिवाहन का
३. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के मध्य में शालिवाहन का
४. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के समाप्त होने पर शालिवाहन का

उपर्युक्त अर्थो में प्रथम अर्थ तो इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि शक ओर शालिवाहन दोनों भिन्न-२ जातियाँ हैं। दूसरा और तीसरा अर्थ भी इसलिये सम्भव नहीं है क्यों कि शक साम्राज्य के प्रारम्भ होने पर अथवा शक साम्राज्य के मध्य में शक संवत् का प्रारम्भ होना सम्भव हो सकता है न कि शालिवाहन संवत् का प्रारम्भ होना।

हाँ चतुर्थ अर्थ होना निश्चित है कि शक साम्राज्य को समाप्त कर देने पर अथवा शक साम्राज्य के समाप्त होने पर शालिवाहन का संवत् प्रारम्भ होना अथवा किया जाना।

संस्कृत व्याकरण के प्रवर्तक महर्षि पाणिनि ने ''यस्य च भावेन भाव लक्षणम्'' अष्टाध्यायी २-३-३७ सूत्र की रचना की है जिसकी संस्कृत व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान

आचार्य कात्यायन ने व्याख्या की है "यस्य क्रियया क्रियान्तर लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्।" इस सूत्र से "शाके शालिवाहनस्य संवत्" का अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि शक साम्राज्य को समाप्त करके शालिवाहन संवत् को प्रारम्भ किया गया।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब यह शालिवाहन संवत् है तो इसे केवल "शालिवाहनस्य संवत्" लिख देना ही पर्याप्त था; इसके साथ "शाके" शब्द क्यों जोड़ा गया ?

इसका उत्तर यह है कि हम पीछे लिख चुके हैं कि जोगलथम्बी में कुछ ऐसे चान्दी के सिक्के मिले हैं जिन पर प्रारम्भ में तो शक क्षत्रप नहपान की राजमुद्रा है अर्थात् उन सिक्कों को शक क्षत्रप नहपान ने चलाया था, फिर उस नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की राजमुद्रा है जिसका अभिप्राय पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने नहपान को पूर्ण रूप से नष्ट करके, उसके सम्पूर्ण राज्य एवं कोष पर अपना पूर्ण अधिकार करके भी उसके उन सिक्कों को नष्ट नहीं किया अपितु नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णी ने शक क्षत्रप नहपान को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है तथा उसके राज्य एवं राजकोष पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया है। जो एक प्रकार से गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की विजय एवं वीरता का सूचक है।

यद्यपि इन चान्दी के सिक्कों को गलवा करके फिर से अपने नाम के सिक्के ढलवाना एक प्रकार से आसान कार्य था और एक बार ढले हुए सिक्कों पर फिर से अपना नाम एवं अपनी राजमुद्रा अंकित कराना एक बहुत कठिन कार्य, किन्तु नहपान के सिक्कों को गलवा कर फिर से अपने नाम एवं अपनी राजमुद्रा वाले सिक्कों को ढलवाने से गौतमीपुत्र शातकर्णी की वह वीरता तथा नहपान की हार सूचित न होती जो गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी की वीरता और शक क्षत्रप नहपान की पराजय नहपान के नाम एवं राजमुद्रा वाले सिक्कों पर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी के नाम एवं राजमुद्रा के अंकित करने से सूचित होती है।

इसी प्रकार " शालिवाहनस्य संवत्" के पूर्व "शाके" शब्द को जोड़ना इस बात का सूचक है कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपने इस संवत् को अपने निकटतम महाराष्ट्र के शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान के वंश का समूल उन्मूलन करके उसके विशाल साम्राज्य के एक बड़े भाग पर अधिकार करके, उसके राजकोष आदि पर अधिकार करके उस विजय के उपलक्ष में चलाया था। इसलिये उसने "शाके" शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ना आवश्यक समझा। यह शाके शब्द इस बात को एकदम से इस बात को मस्तिष्क में उत्पन्न कर दे कि शालिवाहन का यह संवत् शकों को जीत लेने के उपलक्ष्य में प्रारम्भ किया गया है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि "शाके" शब्द जोड़ना आवश्यक ही था तो इसको पूर्ण रूप में "शाके समाप्ते शालिवाहनस्य संवत्" इतना करना चाहिये था जिससे अभिप्राय शीघ्रता से समझ में आता।

इस सम्बन्ध में इतना कहना है कि वह युग संस्कृत का युग था। संस्कृत के विद्वान् मानते हैं कि अपनी बात को कहने में, अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने में जितना कम उच्चारण करना पड़े तथा जितने कम शब्दों का प्रयोग करना पड़े उतना ही श्रेयस्कर है। संस्कृत के विद्वान् तो उच्चारण में अथवा लेखन में "अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवमिव मन्यन्ते वैयाकरणाः" अर्थात् उच्चाारण और लेखन में यदि आधी मात्रा भी कम करने से अभिप्राय पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है संस्कृत के वैयाकरणों को इतनी प्रसन्नता होती है जितनी पुत्र के उत्पन्न होने से होती है। उस समय अपनी बात को संक्षेप में अर्थात् सूत्र रूप में कहने का प्रचलन था। सूत्र का लक्षण है:-

अल्पाक्षरं असन्दिग्धं सारवत् विश्वतो मुखम्।

अस्तोमं अनवद्यं "सूत्रं" सूत्रविदो विदुः।। ब्रह्म सूत्र पर भाष्य मध्व १/१/१

संक्षेप का स्वरूप :- अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवमिव मन्यन्ते वैयाकरणाः।

इस उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में जब "शाके शालिवाहनस्य संवत्" कहने से अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है तो "शाके समाप्ते शालिवाहनस्य संवत्" इतना लम्बा वाक्य कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि शक जाति और शालिवाहन जाति दोनों एक दूसरे की न केवल विरोधी थी अपितु कट्टर शत्रु भी थी, दोनों का एक साथ उच्चारण करना, अर्थ निर्धारण करने में कठिनाई एवं सन्देह उत्पन्न कर देता है। अतः दोनों को एक साथ नहीं कहना चाहिये था।

इस सम्बन्ध में इतना कहना है कि दो विरोधी शक्तियों का एक साथ उच्चारण करने से यह निश्चित हो जाता है कि दोनों समकालीन थे। यथा राम रावण, कंस और कृष्ण। इसके अर्थ करने में भी सुविधा हो जाती है। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य मम्मट ने अपने उच्चकोटि के प्रसिद्ध एवं एक प्रकार से निर्णायक ग्रन्थ काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में अर्थ निर्धारण करने में सहायक तत्वों को बताया है कि :-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेणस्मृति हेतवः।।

अर्थ निर्धारण करने में सहचर्य निरन्तर का साथ होना तो सहायक है ही किन्तु विरोधिता- निरन्तर का विरोध अर्थात् कट्टर शत्रुता भी सहायक होती है। यथा "रामलक्ष्मणौ" कहने से राम और लक्ष्मण दोनों भाई हैं इसलिये रामलक्ष्मणौ का अर्थ दशरथ के पुत्र होता है, किन्तु "रामार्जुनौ" राम और अर्जुन कहने से दोनों एक दूसरे के शत्रु होने के कारण राम-परशुराम और अर्जुन-सहस्रार्जुन का बोध होता है। इसी प्रकार शाके शालिवाहनस्य संवत् कहने से एक दूसरे के निरन्तर विरोधी एवं कट्टर शत्रु होने से शाके शक राजाओं के तथा शक साम्रज्य के (समाप्त कर देने पर), शालिवाहनस्य शालिवाहन अर्थात सातवाहन वंशी राजाओं का, संवत् विजय के उपलक्ष्य में प्रारम्भ किया हुआ वर्ष का ज्ञान होता है। अत: शाके शालिवाहनस्य संवत् इतना वाक्य कहा जाना अनिवार्य है।

अत: यह शाके शालिवाहनस्य संवत् "सातवाहन वंश (शालिवाहन वंश) में उत्पन्न शक्तिशाली सम्राट गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने महाराष्ट्र के प्रसिद्ध शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान को ७८ ई० में समूल नष्ट करके, उसके साम्राज्य के बड़े भाग पर अधिकार करके ७८ ई० में (१३५ विक्रमी संवत् में) विजय के उपलक्ष में प्रारम्भ किया था।

कुछ विद्वान् अपनी विद्वत्ता का समुचित प्रयोग न करके सामान्य जनता में ऐसी निर्मूल भ्रान्तियां उत्पन्न कर देते हैं जिनका निराकरण करना अथवा समाधान करना एक कठिन कार्य हो जाता है। यथा कुछ विद्वान् अपने कुतर्कों द्वारा जनता में यह भ्रान्ति उत्पन्न करते हुए सुने गये हैं कि महर्षि वाल्मीकि जी द्वारा रचित आदि महाकांव्य रामायण एक कपोल कल्पित महाकाव्य है। इसके पात्र श्री राम आदि कल्पित हैं। यह भारतीय संस्कृति पर एक भयंकर कुठारघात है।

इसी प्रकार भारत के प्राचीन गौरव को तथा भारतीय वीरों के महत्व को समाप्त करने पर तुले हुए कुछ विद्वान् अनेक निराधार मनगढन्त बातें धड़ कर भारत के प्राचीन गौरव का महत्व विदेशी व्यक्तियों को देने लगते हैं जिससे भारतीय पराक्रम और वैभव की क्षति होती है। यथा भारतीय इतिहास में चार विक्रमादित्य हुए हैं और वे चारों शक ही थे। शक शासकों के विनाशकर्त्ता शकारि, सम्राट् विक्रमादित्य द्वारा चलाये हुए विक्रम संवत् को भी कुछ विद्वान् शक शासकों द्वारा चलाया हुआ संवत् मानते हैं यथा :-

मोया अथवा योगा पहला शक शासक था .....उसकी तिथि निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। विद्वानों ने १३५ ई० पू० से लेकर १५४ ई० तक (२८९ वर्षो के मध्य) अनेक तिथियां निश्चित की हैं। मोआ के उत्तराधिकारी आजेस प्रथम और द्वितीय हुए। आजेस प्रथम ने ही शायद पूर्वी पंजाब को जीता। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि विक्रम संवत् जो ५८ ई० पू० प्रारम्भ हुआ उसी न चलाया था। **भारत का राजनैतिक एवं**

सांस्कृतिक इतिहास - पृष्ठ १३४, डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव तथा डा० सत्यनारायण दूबे

जिस व्यक्ति के शासनकाल में १३५ ई० पू० से लेकर १५४ ई० तक का अर्थात् २८९ वर्षों का अनिश्चित काल का अन्तर हो उस व्यक्ति के किसी उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में यह सम्भावना व्यक्त करना कि उसने ५८ ई० पू० में कोई (निश्चित विक्रम) संवत् प्रारम्भ किया है कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है।

इसी प्रकार इस शालिवाहन संवत् को प्रारम्भ करने का श्रेय शालिवाहन वंशोद्भव गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को न जाय इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने निर्मूल एवं निराधार अनेकों भ्रान्तियां उत्पन्न कर दी हैं यथा :-

उज्जैन का शक शासक चष्टन था। इसने अपने पराक्रम से राजपद प्राप्त करके उज्जैन में क्षत्रप राज्य को स्थापित किया। *कई विद्वानों का मत है कि इसी शासक ने ई० सन् ७८ में शक संवत् प्रारम्भ किया। लेकिन अन्य विद्वान "कनिष्क" को इसका श्रेय देते हैं।*

प्राचीन भारत का इतिहास- पृष्ठ २६८, एस.के. माथुर

कनिष्क का राज्यारोहण- वीमकडफिस की मृत्यु के पश्चात् कनिष्क कुषाण साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। *उसके राज्यारोहण के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। लेकिन मतभेदों के आधार पर* फर्ग्यूसन, ओल्डेन वर्ग, टामस तथा रेप्सन आदि ने निष्कर्ष निकाला है कि कनिष्क प्रथम शताब्दी ई० में हुआ और उसी ने वह संवत् चलाया जो ७८ ई० से प्रारम्भ होता है। जो आगे चलकर शक संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्राचीन भारत का इतिहास-पृष्ठ २७२, एस.के.माथुर

कनिष्क कुषाणवंश का महानतम सम्राट था। .....*उसकी तिथि के विषय में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है।* टोमस तथा रेप्सन आदि विद्वानों का मत है कि वह प्रथम शताब्दी ई० में हुआ और उसी ने ७८ ई० से संवत् चलाया जो आगे चलकर शक संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास; पृष्ठ १३६,
डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, डा० सत्यनारायण दुबे।

कुषाण जाति के सरदार कुजुल कैड फाइसिस प्रथम ने २५ ई० के लगभग कन्धार (अफगानिस्तान) और पंजाब के कुछ प्रदेश अपने वश में कर लिये। कुजुल का पुत्र वेम कैडफाइसिस भी बड़ा पराक्रमी था। .....*उसके बाद १२८ ई० में कनिष्क राज्याधिकारी हुए।* -प्राचीन भारत में हिन्दूराज्य पृष्ठ २४५, बाबू वृन्दावनदास।

कनिष्क ने ७८ ई० में एक संवत् चलाया जो शकनृपकाल के नाम से विख्यात हुआ

संवत् के शक नाम होने के कारण यह हो सकता है कि भारतीय विद्वान् शायद कनिष्क को शक मानते थे। ..... *कुछ विद्वान् कनिष्क के राजगद्दी पर बैठने का समय १२५ ई० निश्चित करते हैं।* परन्तु अल्बेरूनी ने ऐसा कोई संवत् नहीं सुना था जो दूसरी शती में चला हो।

भारत की युग यात्रा भाग १, श्री रामचरण विद्यार्थी

कनिष्क की तिथि- कनिष्क की तिथि-निर्धारण की समस्या प्राचीन भारत के इतिहास की जटिलतम समस्याओं में से एक है। यह अत्यन्त विवाद ग्रस्त प्रश्न है कि कनिष्क का शासन काल कब से कब तक था। .....डा० फ्लीट का मत है कि कनिष्क ने दोनों कदफिसीजों से पहले शासन किया और उसने उस संवत् का प्रचलन किया जो कालान्तर में विक्रम संवत् के नाम से विख्यात हुआ- पृष्ठ ३३८, ...फर्गूसन, ओल्डेन वर्ग, टामस, बनर्जी, रेप्सन तथा अन्य कई विद्वानों के अनुसार कनिष्क ने ७८ सन् ई० वाले संवत् की स्थापना की जिसका नाम बाद में शक संवत् पड़ा। *परन्तु इस मत को दुब्रोआ नामक विद्वान् ने स्वीकार नहीं किया।* पृष्ठ ३३९। दुब्रोआ महोदय का कथन है कि मार्शल ने तक्षशिला में चिरस्तूप में एक लेख की खोज की है जिसमें १३ तिथि पड़ी है जो विक्रम संवत् के ७९ ई० सन् से मेल खाता है। उसमें जिस राजा का उल्लेख किया गया है वह कदाचित् कदफिसीज प्रथम है। *कनिष्क तो निश्चित रूप से नहीं है।* -पृष्ठ ३३९। प्रोफेसर दुब्रोआ का कथन है, स्टेनकोनोव ने यह दिखला दिया है कि तिब्बती और चीनी लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि *कनिष्क ने द्वितीय शताब्दी में शासन किया।* स्टेनकोनोव ने यह भी दिखलाया है कि *कनिष्क संवत् के अभिलेखों और शक संवत् के अभिलेखों का तिथिक्रम एक सा ही नहीं है।* पृष्ठ ३४०। मार्शल स्टेनकोनोव, स्मिथ तथा *अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार कनिष्क का शासनकाल लगभग १२५ ई० पूर्व अथवा १४४ ई० सन् (२६९ वर्षों का अन्तर) के प्रारम्भ में हुआ।* ..... डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि जिस संवत् की कनिष्क ने स्थापना की थी वह २४८ सन् ई० का त्रैकुटक कलचुरि-चेदि संवत् था। पृष्ठ ३३९। प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास डा० रतिभानुसिंह नाहर।

अनेक विद्वान् ७८ ई० सन् के संवत् को चलाने का श्रेय इसी (कनिष्क) को देते हैं। यह एक मात्र भारतीय संवत् है। .....इसमें सन्देह नहीं है कि कनिष्क कुषाण था न कि शक। किन्तु ७८ ई० वाले संवत् की उत्पत्ति के विषय में निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है। प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास भाग-१, पृष्ठ १०१, १०२ डा० आर.सी. मजूमदार डा० एच०सी० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता।

कनिष्क के सिंहासनारोहण के विषय में निम्नांकित मत प्रचलित हैं :-

१. फ्लीट ५९ ई० पू०, २. रैप्सन ७८ ई०, ३ स्मिथ १२० ई, ४. डा० आर०सी० मजूमदार २८९ ई०, ५. भण्डारकर २७८ ई०।

भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भाग 1, पृष्ठ 136, डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, डा० सत्यनारायण दुबे।

इनके अतिरिक्त एक और संवत् का पता चलता है जिसका प्रयोग महाकवि चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज चौहान के जन्म के सम्बन्ध में किया है, जो निम्न प्रकार है:-

"एकादह से पंचदह विक्रम साक अनन्द, तिहिरिपु जयपुर हरन को भये पृथिराज नरिन्द।"

एकादह -एकादश से अधिक पञ्चदह-पञ्चदश अर्थात् १११५ विक्रम अनन्द सक संवत् को पृथ्वीराज चौहान का जन्म हुआ। यह कौन सा संवत् है यह किसने चलाया यह पता नहीं। यह संवत् न तो शकारि वीर विक्रमादित्य के संवत् से मेल खाता है क्योंकि संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयानक के द्वारा रचित "पृथ्वीराज विजय" नामक काव्य में पृथ्वीराज का जन्म विक्रमी संवत् १२२३ दिया है। न ही ईस्वी सन् से मेल खाता है क्योंकि ई० सन् विक्रमी संवत् से ५७ वर्ष पीछे है अर्थात् १२२३-५७=११६६ होना चाहिये न ही शालिवाहन संवत् से मल खाता है जो विक्रमी संवत् से १३५ वर्ष पीछे अर्थात १२२३-१३५=१०८८ होना चाहिये था। यदि हम किसी प्रकार शालिवाहन संवत् स्वीकार करें भी तो शालिवाहन संवत् में ७८ वर्ष जोड़ देने पर १११५+७८=११९३ ई० सन् में पृथ्वीराज का जन्म बैठता है जबकि ११९२ ई० में तराइन के युद्ध के मैदान में मुहम्मद गौरी के साथ युद्ध करते हुए पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु हो गई थी। अत: चन्दबरदाई द्वारा पृथ्वीराजरासो में उल्लिखित पृथ्वीराज का जन्म संवत् १११५ कौन सा संवत् है यह पता नहीं चलता। यद्यपि विद्वान् लोग अनेक प्रकार से इसका समाधान करते हैं फिर भी वे किसी एक निष्कर्ष पर एक मत अथवा सहमत नहीं है।

यह बात कितनी विचित्र होने के साथ-२ आश्चर्यजनक भी है कि कुछ विदेशी विद्वान् भारतीय वीरों के श्रेष्ठ कार्यो का श्रेय विदेशी आक्रामकों को देने में तथा भारतीय वीरों के महत्व को कम करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। प्रमाण स्वरूप डा० फ्लीट का कथन है कि कनिष्क ने ५९ ई० पूर्व में शक संवत् को प्रारम्भ किया था जो बाद में विक्रमसंवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। डा० फ्लीट का मत है कि कनिष्क ५९ ई० पूर्व में सिंहासन पर बैठा था। दूसरे विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि मोआ अथवा योगा प्रथम शक शासक था जिसने १३५ ई० पूर्व से लेकर १५४ ई० तक २८९ वर्षो के मध्य कभी (पता नहीं कब) राज्य किया है।

मोआ का उत्तराधिकारी आजेस प्रथम था जिसने शायद पूर्वी पंजाब को जीता था। यह विक्रम संवत् जो ५८ ई० पू० से प्रारम्भ होता है इसी ने चलाया था। अन्य विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से प्रमाण सहित खण्डन करते हैं।

इसी प्रकार इस शालिवाहन संवत् का श्रेय कुछ विद्वान् वीर श्रेष्ठ शालिवाहन को न देकर उज्जैन के शासक शक क्षत्रप चष्टन को देते हैं। उनका मत है कि इस संवत् को तो उज्जैन के शासक शक क्षत्रप चष्टन ने चलाया था। अन्य विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् फर्ग्यूसन, ओल्डेन वर्ग, टॉमस तथा रेप्सन आदि का कथन है कि ७८ ई० में प्रारम्भ होने वाले इस संवत् को कनिष्क ने चलाया था जो आगे चलकर शक संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् दुब्रोआ, स्टेनकोनोव, स्मिथ तथा डा० आर०सी० मजूमदार डा० एच०सी० राय चौधुरी तथा डा० के०के० दत्ता इसका पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

ऐसी स्थिति में निश्चित समय वाले भारतीय वीर श्रेष्ठ सम्राट् विक्रमादित्य को विक्रम संवत् का श्रेय न देकर अनिश्चित काल वाले कनिष्क अथवा आजोस प्रथम को देना तथा गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को जो निश्चित रूप से ७८ ई० में शालिवाहन संवत् को चलाने वाला है, शालिवाहन संवत् को चलाने का श्रेय न देकर अनिश्चित काल वाले कनिष्क अथवा चष्टन को देना एक प्रकार से भारतीय इतिहास तथा भारतीय वीरों के साथ पूर्ण रूप से अन्याय करना है।

अधिकतर सामान्य व्यक्ति शासकों की भाषा का अनुकरण करते समय उनकी भाषा का वास्तविक उच्चारण न कर पाने के कारण, मुख सौकर्य के कारण तथा भाषा के भिन्न होने के कारण उसका उच्चारण कुछ भिन्न हो जाता है। कुछ समय पश्चात् परवर्ती सामान्य लोग उसे दूसरे अर्थ में ही ग्रहण करने लगते हैं। यथा किसी विशेष स्थान अथवा मुख्यालय पर आने वाले व्यक्ति से चौकीदार पूछता है कि **Who comes there ?** किन्तु चौकीदार उससे "हुकम सदर" कहकर पूछता है। इसी प्रकार यह संवत् भी प्रारम्भ में "शाके शालिवाहनस्य संवत्" था, बाद में शाके संवत् हुआ, तदनन्तर शाके हुआ और अब इसका प्रयोग केवल "शक संवत्" के रूप में होने लगा है। ऐसी बातों को ही ध्यान में रखकर संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि कालिदास ने कहा है कि:-

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

अर्थात् सबकुछ पुराना ही सही है ऐसा कहना ठीक नहीं है और यह कहना भी सही नहीं है कि सब कुछ नया ही ठीक है। विद्वान् लोग परीक्षा करके जो ठीक होता है उसे स्वीकार कर लेते हैं अथवा जिसका जितना भाग ठीक होता है उससे उतने भाग को स्वीकार कर लेते हैं। शेष भाग को छोड़ देते हैं किन्तु मूर्ख लोग तो स्वयं विचार एवं परीक्षा न करके दूसरों के द्वारा कही हुई बातों को ही उसी रूप में मानकर उन पर विश्वास कर लेते हैं।

हाँ इतना निश्चित है कि परीक्षा करने के लिये परीक्षा लेने के योग्य ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिये बहुश्रुत, बहुत अध्ययनशील, बहुत अधिक अनुभव का होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि :

एकं शास्त्रम् अधीयानो न विद्यात् शास्त्रं निश्चयम् ।
तस्मात् बहुश्रुतः शास्त्रम् विजानीयात चिकित्सकः ।। सु.सू. ७

अर्थात् केवल एक शास्त्र का पूर्ण अध्ययन करने वाला उस शास्त्र से सम्बन्धित सभी विषयों का पूर्ण ज्ञाता नहीं हो जाता, इसलिये चिकित्सक (विद्वान्) को अपने शास्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण विषयों का पूर्ण अध्ययन करना चाहिये। क्योंकि यह आयुर्वेद शास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ है इसीलिये यहाँ पर चिकित्सक शब्द का प्रयोग किया गया है। वैसे यह नियम सभी विषयों एवं शास्त्रों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण प्राप्त एवं प्रदत्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला एवं व्यवहार में लाया जाने वाला यह संवत् शक संवत् नहीं है, अपितु यह तो :-

१. शालिवाहन संवत् है।
२. शालिवाहन सातवाहन वंश का दूसरा नाम है।
३. इस संवत् को शालिवाहन (सातवाहन) वंशी सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में प्रचलित किया था।
४. शालिवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ७० ई० में सिंहासन पर बैठा था तथा जिसने ९५ ई० तक अर्थात् २५ वर्ष शासन किया था।
५. शालिवाहन (सातवाहन) वंश के सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने ७८ ई० में अपने निकटस्थ शक्तिशाली शत्रु महाराष्ट्र के क्षहरात वंश के शक क्षत्रप नहपान को समूल वंश सहित नष्ट किया था।
६. शालिवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने शक क्षत्रप नहपान को नष्ट करने के तथा उसके साम्राज्य के बड़े भाग को अपने साम्राज्य में मिलाने तथा विजय के उपलक्ष्य में ७८ ई० में इस संवत् को प्रचलित किया था।

७. गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी अपने से पूर्ववर्ती विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था अपितु अपनी गणना के अनुसार स्वयं के वर्षों तथा काल का प्रयोग करता था।
८. शालिवाहन संवत् विक्रम संवत् के १३५ वर्ष पश्चात् तथा ईस्वी सन् के ७८ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ था।

शालिवाहन (सातवाहन) वंशी राजा ब्राह्मण थे। यथा-

(क) सातवाहन नरेशों ने अपनी अभिलेखों मे अपने को ब्राह्मण कहा है। नासिक के अभिलेखों में गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी के लिये एक ब्राह्मण विशेषण का प्रयोग किया गया है। उनको क्षत्रियों (क्षत्रपों) के दर्प और मान का दमन करने वाला स्वत्तिय (खत्तप) दपमानदमनस तथा शक्ति में परशुराम के तुल्य कहा गया है। इन सब विशेषणों को जब हम एक साथ पढ़ते हैं तो इस बात में सन्देह का कोई कारण नहीं रह जाता है कि सातवाहन लोग ब्राह्मण थे।

प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
पृष्ठ ३०४, डा० रतिभानु सिंह नाहर।

(ख) सातवाहनों के लेखों से सिद्ध होता है कि वे ब्राह्मण वंश के थे। नासिक के एक अभिलेख में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को एक अतुलनीय ब्राह्मण कहा गया है जो पराक्रम में परशुराम के समान था। उसको क्षत्रियों का मद चूर्ण करने वाला भी कहा गया है। प्रोफेसर राय चौधुरी लिखते हैं अनेक कारणों से यह विश्वास किया जा सकता है कि आन्ध्र भृत्य सातवाहन राजा ब्राह्मण थे किन्तु उनमें नाग रक्त का कुछ मिश्रण अवश्य था।

भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भाग-१,
पृष्ठ १२१, डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव।

(ग) पुराणों के अनुसार ये (सातवाहन) लोग ब्राह्मण वंश के थे। नासिक के एक लेख से ज्ञात होता है कि सातवाहन राजा गौतमीपुत्र अतुलनीय ब्राह्मण था जो पराक्रम में परशुराम के समान था। इस वंश ने लगभग ४६० वर्ष राज्य किया (२३५ ई० पू० से २२५ ई० तक)।

प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ २६०, श्री एस०के० माथुर।

(घ) सातवाहन वंशी राजा ब्राह्मण थे। अनुश्रुति के अनुसार वे मिश्रित ब्राह्मण नागवंश के थे।

प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य, पृष्ठ २३०, बाबू वृन्दावनदास।

(ङ.) वह (गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी) वेदों का आश्रयदाता और सर्वोच्च ब्राह्मण था।

भारत की युग यात्रा भाग-१, श्री रामचरण विद्यार्थी।

गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी एक सुविस्तृत एवं सुविशाल साम्राज्य का स्वामी था। उसने

यह उपाधि "त्रिसमुद्रतोयपीतवाहनः" धारण की थी इसका अर्थ है कि जिसकी विशाल सेना ने पूर्वी समुद्र बंगाल की खाड़ी, दक्षिणी भारतीय महासागर तथा पश्चिमी समुद्र अरब सागर पर्यन्त विजय प्राप्त करके तीनों समुद्रों के जल को पीया है। उसके विशाल साम्राज्य में अपरान्त (बम्बई प्रान्त का उत्तरी भाग), अनूप (नर्मदा का काठा), विदर्भ (बरार), आकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति (पश्चिमी मालवा), ऋषिक (गोदावरी और कृष्णा के मध्य का प्रदेश), अश्मक (गोदावरी का तटवर्ती प्रान्त), मूलक (पैठन का निकटवर्ती प्रदेश), सुराष्ट्र कुकुर (उत्तरी काठियावाड) सम्मिलित थे। संक्षेप में उत्तर में मालवा और काठियावाड से लेकर दक्षिण में गोदावरी तक तथा पूर्व में बरार से लेकर पश्चिम में कोंकण प्रदेश तक के विशाल भूभाग का वह स्वामी था। उसके अधिकार में विन्ध्य (मध्य और पूर्वी विन्ध्य और अरावली की पर्वत श्रेणियाँ), ऋक्षवत (मालवा के दक्षिण में विन्ध्य पर्वत श्रेणी का एक भाग), पारियात्र (पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पर्वत श्रेणियाँ), सह्य (नीलगिरि की पर्वत श्रेणियों के उत्तर तक पश्चिमी घाट), मलय (त्रियांकुर की पर्वत श्रेणियाँ), महेन्द्र (पूर्वी घाट) और दक्षिणी भारत के प्रायद्वीप को घेरने वाली अन्य अनेक पर्वत श्रेणियाँ थी। संक्षेप में वह विन्ध्य पर्वत के उस पार सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का एक मात्र सम्राट् था।

आप जानते हैं कि संसार में प्रचार एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य जनता को तो क्या समझदार बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषों को भी भ्रम में डाला जा सकता है और डाला जाता रहा है और फिर कुछ समय तक इस प्रकार का सफलता पूर्वक किया हुआ प्रचार सत्यता का रूप धारण कर लेता है जिसके फलस्वरूप सामान्य व्यक्ति तो क्या विद्वान् व्यक्ति भी उसके विरोध में एक शब्द भी सुनना पसन्द नहीं करता अपितु उसके सम्मुख सत्यता का कथन करने पर वह सत्य कथन करने वाले व्यक्ति से लड़ने को तैयार हो जाता है। इसी कारण संसार के सभी देशों में सम्पूर्ण धर्मों में, सम्पूर्ण जनता में एक अन्धविश्वास का जन्म हुआ है। इस प्रकार का प्रचार तत्कालीन शासकों, धर्माधिकारियों एवं सशक्त वर्गों तथा सशक्त जातियों द्वारा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये किया जाता है। जब कोई विद्वान् उसका विरोध करता है तो उसको कठोर दण्ड, यहां तक कि उसको मृत्यु दण्ड तक दिया जाता है। संस्कृत के विद्वान् महाकवि श्री विल्हण ने अपने महाकाव्य विक्रमाड.कदेव चरितम् के प्रथम सर्ग के २७ वें श्लोक में कहा है:-

लंकापतेः संकुचितं यशो यत् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः ।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीया कवयः क्षितीन्द्रैः ।।

अर्थात् लंकापति रावण का जो यश समाप्त हुआ और रघुराज पुत्र श्री रामचन्द्र जो यश के पात्र बने वह सब कुछ आदि कवि महर्षि वाल्मीकि जी के प्रचार का प्रभाव है।

इसलिये राजा लोगों को कवियों (प्रचार करने वालों) को कभी भी असन्तुष्ट अप्रसन्न तथा क्रोधित नहीं करना चाहिये।

सम्भवतः महाकवि बिल्हण के उपर्युक्त श्लोक को पढ़कर कुछ लोग अप्रसन्न हों किन्तु वर्तमान काल में उपर्युक्त तथ्य से परिपूर्ण अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा पढ़ने में आया है कि जर्मनी के चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् गैलीलियो ने जर्मनी में प्रथम बार घोषणा की थी कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है (जो पूर्ण रूप से सत्य है तथा जिसकी भारतीय विद्वान् बहुत पहिले घोषणा कर चुके थे) तब जर्मनी के शासकों ने तथा धर्माधिकारियों ने गैलीलियो को दोषी, अपराधी तथा धर्मविरोधी घोषित करके जिन्दा ही जला दिया था। किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रबुद्ध जर्मनी के वैज्ञानिकों, विद्वानों एवं जनता ने उसको निर्दोष निरपराध तथा धर्म के अनुकूल घोषित किये जाने हेतु जर्मनी के न्यायालय में वाद प्रस्तुत करके उसको निर्दोष, निरपराध एवं धर्म के अनुकूल घोषित कराकर उसको एक वैज्ञानिक विद्वान् के पद पर सम्मानित सदस्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

रूस का प्रसिद्ध शासक मार्शल स्टालिन जो एक जार्जियायी मोची का पुत्र था एक बहुत कठोर प्रकृति का शासक था तथा जिसके सम्बन्ध में मरणासन्न लेनिन ने स्वयं लिखा था कि वह "स्टालिन" बहुत बहुत रूखा था और इस आधार पर उसे दल के महासचिव के पद से हटा देने की सिफारिश की थी। उस स्टालिन ने सन् १९३१ में कहा था "हम उन्नत देशों से पचास या सौ वर्ष पीछे हैं। हमें अपना पिछड़ापन दस वर्षों में दूर करना है। हम ऐसा कर लें वरना वे हमें कुचल देंगे। संयोग वश ठीक दस वर्षों के अन्दर ही रूस पर हिटलर की सेनाओं ने आक्रमण कर दिया। रूस परीक्षा में सफल उतरा। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त में विजय के दिनों में स्टालिन की प्रतिष्ठा ज़िस सीमा तक बढ़ी थी वह अपूर्व थी। .....रूसी जनता और विश्व की प्रत्याशाओं को पूरा करने की असफलता उसके जीवन की अन्तिम घटना थी। रूस का इतिहास पृ-४३१, जार्ज वर्नादस्की। किन्तु बाद में पढ़ने में आया कि उसकी नीतियों के विरूद्ध प्रचार के फलस्वरूप उसके विराधियों ने उसकी कब्र को खोदकर उसके शव को निकालकर उस पर अनेक आरोप लगाकर उसे दूसरे स्थान पर गाड़ कर एक प्रकार से उसे असम्मानित किया तथा उसकी पुत्री श्वेतलाना रूस से निर्वासित कर दी गई।

१८५७ में अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिये अंग्रेजों के विरूद्ध भारत में क्रान्ति हुई जिसे अंग्रेजी शासन में उनके अनुयायी इतिहास लेखकों ने विद्रोह अथवा गदर का नाम दिया। १९४७ में भारत के स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक इतिहास के विद्यार्थियों को उसे

विद्रोह अथवा गदर के नाम से पढ़ाया जाता रहा किन्तु १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उसे "प्रथम स्वतन्त्रता प्राप्ति संग्राम" का नाम दिया गया और इतिहास के विद्यार्थियों को "१८५७ का स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रथम संग्राम" इस नाम से पढ़ाया जाने लगा है।

सातवाहन (शालिवाहन) वंशी शासकों ने २३५ ई०पू० से लेकर २२५ ई० तक ४६० वर्षो तक शासन किया। इस वंश के प्रतापी शासक गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने शकों का विनाश करके शाके (विनाशे) शालिवाहनस्य संवत् को ७८ ई० में प्रारम्भ किया जो संवत् उपर्युक्त परिस्थितियों में परिवर्तित होता हुआ प्रथम तो शाके (विनाशे) शालिवाहनस्य संवत् के स्थान पर "शाके शालिवाहनस्य संवत्", तदनन्तर शाके संवत् तदनन्तर शक संवत् हो गया। जो वास्तविक अभिप्राय एवं स्वरूप के सर्वथा विपरीत है।

सम्पूर्ण ऐतिहासिक एवं साहित्यिक तथ्यों को सप्रमाण प्रस्तुत करते हुए नम्र निवेदन है कि जिस व्यक्ति ने जो श्रेष्ठ कार्य किया है उसका श्रेय उसी व्यक्ति को दिया जाना आवश्यक है। इसलिये

शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला एवं व्यवहार में लाया जाने वाला यह संवत् शक संवत् नहीं है। यह तो महाराष्ट्र के शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान का उसके वंश का, तथा उसके साम्राज्य का ७८ ई० में सर्वतोमुखी समूल विनाश करने वाले, ७० ई० से ९५ ई० तक एक शक्तिशाली शासक के रूप में शासन करने वाले सातवाहन वंशी (शालिवाहन) ब्राह्मण वंशी गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी द्वारा चलाया हुआ शालिवाहन संवत् है।

जिसको गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने महाराजा युधिष्ठिर के द्वारा अपने नाम से चलाये हुए युधिष्ठिर संवत् अथवा महाराजा विक्रमादित्य के द्वारा अपने नाम से चलाये हुए विक्रम संवत् की भान्ति अपने व्यक्तिगत नाम से न चलाकर अपने वंश के गौरव को प्रदर्शित करने के लिये अपने वंश "शालिवाहन" के नाम से "शालिवाहनस्य संवत्" के रूप में प्रचलित किया।

अतः पुनः सानुरोध नम्र निवेदन है कि १९१७ (१९९५ ई०-७८=१९१७ अथवा २०५२ वि०सं०-१३५=१९१७) को शक संवत् के नाम से न कहकर तथा व्यवहार में न लाकर "शालिवाहन संवत्" के नाम से पुकारा जाना चाहिये तथा व्यवहार में लाया जाना चाहिये।

पता :
आत्मज पण्डित सुखवीरदत्त मिश्र, शास्त्री,
२१३/मकतूलपुरी, रुड़की, २४७६६७

महर्षि दयानन्द सरस्वती

डॉ0 धर्मपाल

उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न और विकसित पुनर्जागरण काल के अनेक आन्दोलन भारतीय इतिहास के अध्येता के लिये विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। उस समय नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में सर्वत्र अशान्ति, अस्थिरता तथा अराजकता व्याप्त थी। देश सांस्कृतिक संकट की लपेट में था। लोग अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों से ग्रस्त थे। देश पराधीन था। यह पराधीनता किंकर्तव्यविमूढ़ता का पर्याय बन गई थी। स्वतन्त्रता, बन्धुत्व तथा एकता जैसे उदात्तभाव किसी के मन में ही न आते थे। भारतीय शिक्षा पद्धति स्वदेशी के प्रति हेय तथा विदेशी के प्रति प्रेम भावों को उद्दीप्त कर रही थी। ऐसे ही युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती का इस पुण्य धरा पर आविर्भाव हुआ। उसने विभिन्न क्षेत्रों में धूम मचा दी। भारतीय जनमानस को झकझोर दिया। उसने प्राचीन गौरव तथा स्वअस्मिता और स्वराज्य की अवधारणा से परिचित कराया, सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के केंचुल को उतार फेंकने की प्रेरणा दी, नारी जाति के लिए सम्मान तथा दलितों के लिए सामाजिक न्याय दिलवाने का महत्तर कार्य किया। उन्होंने स्वधर्म, स्वराष्ट्र और स्वसंस्कृति को स्वदेशोन्नति का आधार मानकर जनजागृति के क्षेत्र में महान् कार्य किया। उसी महापुरूष का आज जन्मोत्सव है।

जन्म : महर्षि दयानन्द का जन्म गुजरात प्रान्त के मौरवी राज्य के टंकारा नामक ग्राम में फाल्गुन बदी दशमी संवत् १८८१ (१२ फरवरी सन् १८२५) शनिवार को हुआ। उनके पिता का नाम श्री कर्षण जी तिवारी व माता का नाम यशोदा बाई था। उनका जन्म का नाम मूलशंकर था। श्री कर्षण जी तिवारी औदीच्य ब्राह्मण थे तथा शिव के उपासक थे। कुल परम्परा के अनुसार बालक मूलशंकर को ५ वर्ष की आयु में वर्ण शिक्षा का ज्ञान कराया गया। आठ वर्ष की आयु में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उन्हें अनेक मंत्र, स्तोत्र कण्ठस्थ करा दिए गए। उन्होंने १४ वर्ष की आयु तक व्याकरण, यजुर्वेद और अन्य वेदों के कुछ भाग याद कर लिए थे।

शिवपूजा तथा बोध–प्राप्ति : फाल्गुन कृष्ण संवत् १८९५ को शिवरात्रि का पर्व था। पिता के आदेश पर मूलशंकर ने भी शिवकथा महात्म्य सुनने के बाद शिवरात्रि उपवास व्रत रखा। रात को मूलशंकर शिवपूजा और जागरण के लिए, पिता के साथ शिवालय गए।

आधी रात बीत गई तो भक्तजन एक एक करके सोने लगे, परन्तु मूलशंकर जो सत्य और श्रद्धापूर्वक व्रती था, जागता रहा। एक विचित्र घटना हुई, उसकी आत्मा में चकाचौंध बिजली-सी चमक गई। उसकी आत्मा में नव जागृति-सी उत्पन्न हुई। एक चूहा आया, चढ़ावे की वस्तुएं खा गया और उछलकर मूर्ति के ऊपर चढ़ गया। मूलशंकर का विश्वास हिल गया। शिव जी तो पाशुपत अस्त्र से बड़े-बड़े राक्षसों का संहार करते हैं। यह सच्चा शिव नहीं है। उसने पिता को जगाया। पिता को झुंझलाहट हुई पर उन्होंने बालक को बहुत समझाया कि सच्चा शिव तो कैलाश पर्वत पर है, यहां कलियुग में उसका साक्षात् नहीं होता है, यहां पर तो उसकी पूजा आराधना की जाती है। परन्तु मूलशंकर को इन बातों से सन्तुष्टि नहीं हुई। वह चिन्ता से व्याकुल होकर विचार निमग्न हो गया। उसे मूर्तिपूजा में अश्रद्धा हो गई। सच्चे शिव को प्राप्त करने की अदम्य लालसा उसके मन में जाग गई। कुछ दिन बाद उनकी छोटी बहन और उसके कुछ दिन बाद उसके धर्मात्मा चाचा की मृत्यु हो गई। इन घटनाओं ने वैराग्य भावना को जन्म दिया। अब उनके दो व्रत हो गए - सच्चे शिव को प्राप्त किया जाए, अमर पद प्राप्त किया जाए। मूलशंकर ने एक दिन घर छोड़ दिया। मूलशंकर को किसी ने बताया कि सच्चे योगी से ही सच्चे शिव और अमर पद प्राप्ति का मार्ग पता चलेगा। उन्होंने बड़े-बड़े योगियों की खोज प्रारंभ कर दी। उन्होंने दीक्षा ली और अपना नाम "शुद्ध चैतन्य" रखा। एक परिचित वैरागी से पुत्र का पता पाकर पिता श्री कर्षण जी तिवारी सिद्धपुर के मेले में पहुंचे और वहां से मूलशंकर को पकड़कर वापिस घर ले आए, पर जिसके हृदय में लगन लगी हो, वह कहां रूकने वाला था। शुद्ध चैतन्य तो संसार को बन्धनों से छुड़ाने आया था वह कहां बंधा रहता। एक दिन अवसर पाकर वह पुनः भाग निकला। बस यही अन्तिम मिलन था पिता और परिवार वालों से।

दयानन्द सरस्वती : बालक मूलशंकर, ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य और फिर आगे दयानन्द सरस्वती इस सतत् यात्रा में उन्होंने कितने कष्ट उठाए होंगे, यह वही जान सकता है जिसने इस दिशा में कभी प्रयास किया हो। उस दृढ़व्रती बालक ने तो यही मार्ग चुना था। अनेक संकटों का सामना करता हुआ, वह बालक युवा ब्रह्मचारी भूख प्यास, गर्मी सर्दी सहन करता हुआ, बीहड़ जंगलों को पार करता हुआ, नर्मदा के किनारे चलकर चाणोद में पहुंचकर स्वामी पूर्णानन्द से मिला। स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने शुद्ध चैतन्य को उसके आग्रह पर सन्यास की दीक्षा दी। अब उनका नाम दयानन्द सरस्वती हो गया। इधर उध ार भ्रमण करते हुए उनका परिचय अनेक योगियों से हुआ। उन्होंने योग विद्या सीखी और कई विद्वानों से अनेक ग्रन्थ भी पढ़े। ऋषि दयानन्द तो वीतराग सन्यासी और आदर्श त्यागी थे। जब ओखी मठ के महन्त ने उनके सामने मठ का उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव रखा

तो उन्होंने कहा था कि "यदि मुझे धन की अभिलाषा होती, तो मैं अपने पिता की संपत्ति को, जो तुम्हारे इस ऐश्वर्य से कई गुना अधिक थी, न छोड़ता।" महन्त के पूछने पर कि वह कौन सी वस्तु है जिसकी खोज में तुम इतने परेशान हो। महर्षि दयानन्द ने उत्तर दिया था – "सच्चे शिव का साक्षात्कार और मृत्यु से बचने के लिए मोक्ष प्राप्ति के उपाय"। महन्त के पास धन व ऐश्वर्य तो था, पर न सत्य था, न शिव और न मृत्यु से बचने के लिए मोक्ष प्राप्ति के उपाय। वह वहां से भी चल पड़ा। प्रभु की जिस पर कृपा होती है, वह अनेक दुःखों को पार करता हुआ, अपने लक्ष्य तक पहुंच ही जाता है। किसी ने उन्हें प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द सरस्वती का पता दिया। ज्ञान और योग की इच्छा करने वाले युवा सन्यासी मथुरा पहुंचे और कार्तिक शुक्ल २, संवत् १९१७, (१४ नवम्बर १८६०) को उन्होंने परम् विद्वान् जगद्गुरु विरजानन्द दण्डी की कुटिया का द्वार खटखटाया, अन्दर से आवाज आई "कौन ?" दयानन्द ने उत्तर दिया "यही तो मैं जानना चाहता हूं कि मैं कौन हूं ?" स्वामी विरजानन्द ने जान लिया कि सत्य विद्या का जिज्ञासु, सत्यनिष्ठ शिष्य आया है। पूज्य गुरूवर ने दयानन्द सरस्वती को पाणिनी व्याकरण, पातंजल योगसूत्र तथा संपूर्ण वेद-वेदांग का अध्ययन कराया और चलते समय आदेश दिया – "पुत्र ! विद्या को सफल कर दिखाओ। परोपकार करो तथा सत्य शास्त्रों का उद्धार करो, मत मतान्तरों की अविद्या को मिटाओ। वेदों के प्रकाश से इस अज्ञान रूपी अन्धकार को समाप्त करो। वैदिक धर्म का आलोक सर्वत्र विकीर्ण करो। यही मेरी गुरू दक्षिणा है।"

दयानन्द सरस्वती ने नतमस्तक हो, गुरूवर के आदेश को शिरोधार्य किया – "यह कार्य कठिन है, शक्ति कम, फिर भी आज्ञा सिर माथे पर, आयु पर्यन्त इसके लिये कार्य करूँगा। गुरूवर ने कहा– पुत्र, ईश्वर तेरे पुरुषार्थ को सफल करे। यह मेरा आशीर्वाद है। यह मैं एक अन्तिम शिक्षा देता हूं कि मनुष्य कृत ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों की निन्दा है, परन्तु ऋषि कृत ग्रन्थों में नहीं। इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।"

आर्य समाज की स्थापना : महर्षि दयानन्द सरस्वती गुरुगृह से निकलर अनेक स्थानों पर गये। उन्होंने हरिद्वार में पाखण्ड खण्डिनी पताका फहरायी, कर्णवास प्रवास के समय राव कर्ण सिंह की तलवार तोड़कर उस पर दया दिखाई, उदयपुर में स्त्री जाति मातृशक्ति के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया, एकलिंग महादेव की गद्दी के प्रति कोई मोह न रखकर वीतराग भाव दर्शाया, अनूपशहर में स्वयं की हत्या करने का प्रयास करने वाले को भी क्षमा दान दिया, अम्बादत्त वैद्य और पं० हीराबल्लभ को शास्त्रार्थ में पराजित करके पाषाण मूर्तियों का विसर्जन कराया, फर्रूखाबाद, कानपुर काशी में शास्त्रार्थ किए, कलकत्ता

में ब्रह्मसमाज के नेता बाबू केशवचन्द्र सेन तथा देवेन्द्र ठाकुर को प्रभावित किया और यहीं से हिन्दी में बोलना लिखना प्रारम्भ किया। आगे चलकर उन्होंने चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९३२ को गिरगांव, बम्बई में डाक्टर मानिक चन्द्र की वाटिका में नियमानुसार आर्य समाज की स्थापना की। यहां से महर्षि दयानन्द सरस्वती का कार्य दिगदिगन्त व्यापी हो गया। उनके विचारों का चारों दिशाओं में स्वागत हुआ। उनके विचार सुप्त प्राय: आर्य जाति को झकझोरने वाले थे। आर्य समाज के नियम संपूर्ण विश्व के लिए, सभी के लिए सर्वमान्य थे। ये नियम कालातीत हैं। वेदों के अध्ययन तथा समाज कल्याण के भाव को इनमें वरीयता दी गई है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के क्रान्तिकारी विचार देशोत्थान तथा मानव जाति के कल्याण के लिए सर्वमान्य हैं।

स्वराज्य प्राप्ति की प्रेरणा : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देखा था कि राजनैतिक रूप से पराधीन जनता अपनी अस्मिता खो बैठती है, उन्होंने अपने अमर ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश में इस गंभीर विषय पर गहन चिन्तन किया है :-

''सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्यकुल ही में पैदा हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजा भ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है।''

''कोई कितना भी करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। मतमतान्तर को आग्रहरहित, पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी उत्तम नहीं होता।''

''जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।''

धार्मिक चिन्तन : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद को सब सत्य विद्याओं का ग्रंथ माना है। उनकी दृष्टि में वेद के सभी शब्द यौगिक हैं, और इसीलिए मानवी इतिहास शून्य है। वेद की सभी शिक्षाएं सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं। महर्षि की वेदार्थ शैली सायण आदि वेद भाष्यकारों से भिन्न है तथा यास्काचार्य आदि निरुक्तकारों की श्रेणी में आती है। उन्होंने शंकर, रामानुज आदि प्राय: सभी मध्यकालीन आचार्यों के संकोच की अवहेलना करते हुए वेद का द्वार मनुष्य मात्र के लिए खोल दिया है। यजुर्वेद के मंत्र ''यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:'' की घोषणा करते हुए, स्त्रियों और तथाकथित शूद्रों तथा अतिशूद्रों को भी उन्होंने वेदाध्ययन का अधिकार मान्य किया। उन्होंने वेद को स्वत: प्रमाण तथा अन्य शास्त्र ग्रंथों को परत: प्रमाण माना। उन्होंने मूर्ति पूजा, मृतक-श्राद्धादि पौराणिक प्रथाओं को अवैदिक मानते हुए हेय ठहराया और घोषणा की कि परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं होती ''न तस्य प्रतिमा अस्ति''। उन्होंने वेदों के आधार पर निराकार ईश्वर की ही पूजा का विधान किया।

महर्षि के प्रादुर्भाव के समय भारतवासी वेद के नाम मात्र से परिचित थे। महर्षि दयानन्द ने वैदिक ज्ञान से जनता को परिचित कराया, पुर्तगीज पादरियों द्वारा वेद के नाम पर फैलाए गए भ्रमों का उन्मूलन किया। उन्होंने वेद प्रतिपादित धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि नामक ग्रंथों का प्रणयन किया। इससे धोखे से हिन्दुओं को विधर्मी बनाने के पाश्चात्य प्रयास को धक्का लगा। ऋषिवर ने शुद्धि का द्वार खोलकर परावर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही शुद्धि को क्रियात्मक रूप प्रदान कर दिया था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने "वेद की ओर चलो" का नारा देकर आर्य जाति पर महान् उपकार किया है। उन्हें "वेदों वाला दयानन्द" कहा गया है। वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति व्याप्त अवमानना तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रति सम्मान की भावना को ऋषिवर ने उखाड़ फेंका। उन्होंने समय की धारा को मोड़कर, प्राचीन सभ्यता के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना को जागृत किया। इस बलवती भावना का प्रसार स्वामी दयानन्द सरस्वती के महान व्यक्तित्व, उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य, उनके त्याग और तपस्या तथा अपूर्व पांडित्य तथा निर्भीक सत्योपदेश के कारण ही संभव हो पाया।

सामाजिक चिन्तक : महर्षि दयानन्द सरस्वती का विशाल हृदय सभी को एक सूत्र में जोड़ना चाहता था। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था को सही अर्थों में व्यवहार्य सिद्ध किया। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों तथा अन्धविश्वास के गहन पंक से आर्यजाति को बाहर निकाला। उन्होंने बाल-विवाह के विरूद्ध सशक्त आवाज उठाई। उन्होंने ब्रह्मचर्य की महिमा का सिक्का, अपने उपदेशों और अपने क्रियात्मक जीवन से लोगों के हृदय में जमा दिया। बाल-विवाह की भांति वृद्ध-विवाह भी घोर अनिष्ट कर रहा था। इन दोनों का दुष्परिणाम था कि देश में करोड़ों विधवाएं घोर यातना का जीवन जी रही थी। भ्रूण हत्या, गर्भपात, नवजात बालिका वध आदि अनेक पातक हिन्दू जाति के लिए कलंक का टीका बने हुए थे। महर्षि दयानन्द ने इन विधवा बालिकाओं को त्राण दिलाया और विधवा विवाह की व्यवस्था की। मातृ शक्ति होते हुए भी उस युग में स्त्री जाति का घोर अपमान होता था। उन्हें पढ़ने लिखने का भी अधिकार नहीं था। शंकराचार्य की व्यवस्था थी - "स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्"। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी"। इसी का परिणाम है कि आज हमारे देश में कन्याओं के लिए ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। हमारी बेटियां सभी क्षेत्रों में प्रशस्त पथ पर अग्रसर हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जन्मगत जाति - पाति तथा छुआछूत का जमकर विरोध किया। आर्य जाति अनेक कल्पित जातियों और उपजातियों में विभक्त हो रही थी।

प्रत्येक का खान-पान, शादी-ब्याह पृथक्-पृथक् था। उन्होंने इस विष बेल को समूल उखाड़ फेंकने के लिए वेद-प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचार किया। आज सर्वत्र अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह उन्हीं के सम्यक् प्रचार का प्रतिफल है। उन्होंने दलित जातियों के साथ, उच्च जातियों द्वारा किए जा रहे अमानवीय व्यवहार का भी विरोध किया। इसी भेदभाव के कारण लोग विधर्मी बनते जा रहे थे। उन्होंने कर्मणा वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन करके सभी को समान अवसर प्रदान किए।

ऋषिवर ने देश, काल और पात्र को देखकर सात्विक दान देने की प्रथा प्रचलित की। जन्मना ब्राह्मण अथवा मठाधीश को दिया गया दान, निकम्मेपन को जन्म देता है। उन्होंने कहा कि दान उसी को दो, जो उसे सत्कार्य में लगाए।

हिन्दी भाषा के प्रति प्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन में अपूर्व योगदान दिया। उसकी मातृभाषा गुजराती थी, वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, परन्तु उन्होंने अपने सभी ग्रंथों का प्रणयन हिन्दी भाषा, आर्यभाषा में किया। उन्होंने संपूर्ण भारत का भ्रमण किया था। उन्होंने पाया कि हिन्दी भाषा ही सर्वग्राह्य है। उन्होंने कहा था कि "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्र एक्य है जहां भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाती है, वहां सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक एक करके प्रवेश करने लगते हैं।" वे तो यहां तक कहते हैं कि अपनी भाषा में वार्तालाप करना ही उत्तम है। स्वदेशियों में बैठकर विदेशी भाषा बोलने लग जाना, भला प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत ऐसा करना भद्दा प्रतीत होता है तथा उससे घमण्ड भी प्रकट होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती हिन्दी के पक्षधर थे। उन्होंने लिखा था कि "दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का ही प्रयोग और प्रचार हो। मैंने आर्यावर्त भर में भाषा का एक्य संपादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रंथ आर्य भाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।" महर्षि अन्य भाषाओं के अध्ययन के विरूद्ध नहीं थे। उन्होंने लिखा था "जब पांच वर्ष का लड़का लड़की हो तब उनको देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करना चाहिए। अन्य देशीय भाषाओं का भी अभ्यास कराना उचित है।"

स्वदेशी-प्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में जगह-जगह स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग की शिक्षा दी है। वे स्वधर्म, स्वभाषा, स्वराष्ट्र और स्वसंस्कृति को स्वदेशोन्नति का मूलाधार मानते हैं। वे एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य को देशोन्नति

के लिए अनिवार्य मानते हैं। आर्यावर्त की प्रशंसा स्वामी जी ने इस प्रकार की है, "यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश दूसरा देश भूगोल में नहीं है। इसलिए इसका नाम स्वर्णभूमि है। जितने भूगोल में देश हैं, वे इसी देश की प्रशंसा करते हैं और आशा करते हैं कि जो पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बातें झूठी हैं, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है, जिससे कि लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण हो अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।"

सहिष्णुता : ऋषि दयानन्द सरस्वती की सहिष्णुता सराहनीय थी। उन्हें जब अनूप शहर में एक व्यक्ति ने पान में विष दिया और सैयद मौहम्मद मजिस्ट्रेट ने उस विष देने वाले को पकड़वाकर हवालात में बन्द करा दिया तो स्वामी दयानन्द ने उसे छुड़वाते हुए कहा था "मैं दुनिया को कैद कराने नहीं, किन्तु कैद से छुड़ाने आया हूं।"

ब्रह्मचर्य : महर्षि दयानन्द सरस्वती ब्रह्मचर्य की मर्यादा का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। एक दिन वे यमुना तट के विश्रान्त घाट पर समाधिस्थ थे। उस समय एक देवी ने श्रद्धा से अपना सिर उनके पांव पर रख दिया, तब उन्होंने प्रायश्चित रूप में ३ दिन का उपवास किया था। ब्रह्मचर्याश्रम के संबंध में उन्होंने लिखा है "ब्रह्मचर्य जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं।" उन्होंने ब्रह्मचर्य पर बल दिया और युवकों को संबोधित करते हुए कहा, सौम्य युवकों ! वैसे तो व्यसन सभी बुरे हैं, परन्तु वेश्या सबसे अधिक नाशकारिणी है। इस व्यसन से सुरापान की बान पड़ जाती है और सभ्यवेश, सभ्यभाषा, सभ्याचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।" उन्होंने कामवासना से बचने का भी आग्रह किया, "कामवासना जीतने का यह विधान है कि एकान्त स्थान में न रहे, नाच आदि कभी न देखें।

महर्षि दयानन्द सरस्वती आदित्य ब्रह्मचारी थे। उन्होंने जालंधर के सरदार विक्रम सिंह की आठ घोड़ों की बुग्गी को हाथ से रोक लिया था। कोचवान चाबुक फटकारता रहा, पर बुग्गी न हिली। जब पीछे घूमकर देखा तो स्वामी जी चक्का पकड़े खड़े थे। यह उनके ब्रह्मचर्य का ही बल था।

वीरता : कर्णवास में स्वामी दयानन्द एक दिन गंगा तट पर उपदेश दे रहे थे। बरेली के राव कर्ण सिंह कुछ हथियार बन्द साथियों के साथ वहां आए और बातचीत करते करते वह इतने क्रोध में आ गए कि उन्होंने तलवार खींचकर स्वामी जी पर आक्रमण कर दिया। स्वामी जी ने तलवार छीनकर दो टुकड़े कर दिए और राव साहब को पकड़ कर कहा, "मैं तुम्हारे साथ इस समय वह सलूक कर सकता हूं, जो किसी आतताई के साथ किया जा सकता

है, परन्तु मैं सन्यासी हूं, इसलिए छोड़ देता हू। जाओ ईश्वर तुम्हें सुमति देवें।'' ऋषिवर के जीवन में आए अनेक प्रसंग उनकी वीरता के प्रतिपादक हैं।

निर्भीकता : महर्षि दयानन्द सरस्वती असत्य का खण्डन तथा सत्य का प्रतिपादन निर्भीक होकर किया करते थे। एक बार बरेली में उनके व्याख्यान हो रहे थे। उनके व्याख्यानों में अनेक विदेशी तथा अन्य धर्मानुयायी भी आया करते थे। उनसे कहा गया कि वे ईसाई मत का खण्डन न करें, क्योंकि इससे वहां के उच्च राज्य अधिकारी अप्रसन्न होंगे। उस दिन के व्याख्यान में, जबकि वहां पर उच्च राज्य अधिकारी भी उपस्थित थे, स्वामी जी ने गरज कर कहा- ''लोग कहते हैं कि असत्य का खण्डन न कीजिए, इससे कमिश्नर अप्रसन्न होगा, कलक्टर नाराज होगा, परन्तु चाहे चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।'' स्वामी जी ने यहां तक कहा है- ''यदि लोग हमारी अंगुलियों की बतियां बनाकर जला डाले तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश करूँगा।'' महर्षि दयानन्द की मान्यता थी कि यदि सत्याग्रह के लिए कारावास भी मिले तो कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए- ''सत्य के लिए कारावास कोई लज्जा की बात नहीं है। धर्म पथ पर आरूढ़ होकर मैं ऐसी बातों से सर्वथा निर्भय हो गया हूं। प्रतिपक्षी लोग अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलायेंगे, तो जहां कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक की कोई तरंग उत्पन्न न होगी, वहां मैं अपने प्रतिपक्षियों की अकल्याण की कामना भी कभी नहीं करूंगा।'' महर्षि के सत्य प्रतिपादन में कहीं भी बदले की भावना नहीं थी। वे पूर्णतः पक्षपात रहित थे। उन्होंने लिखा है ''जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है।'' वे पक्षपात रहित सत्य के ही समर्थक थे और सत्य प्रतिपादन में निर्भीक थे।

योग की विभूति : प्रयाग में एक दिन स्वामी जी सभा में विराजमान थे। पं. सुन्दर लाल जी आदि अनेक प्रतिष्ठित सदस्य भी उपस्थित थे। अचानक स्वामी जी हंस पड़े। उनसे हंसने का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि ''एक आदमी मेरे पास आ रहा है आपको एक आश्चर्य जनक दृश्य दिखाई देगा।'' थोड़ी देर बाद एक व्यक्ति आया और स्वामी जी के सामने मिठाई रखकर बोला कि ''महाराज आप भोग लगाएं।'' स्वामी जी मिठाई लाने वाले को देने लगे, परन्तु उसने लेने और खाने से इन्कार किया। इस पर स्वामी जी पुनः हंस पड़े। थोड़ी मिठाई एक कुत्ते को खिलाई गई, वह तुरन्त मर गया। मिठाई में जहर मिला हुआ था। जब स्वामी जी के श्रद्धालुजन उस व्यक्ति को पुलिस को देने लगे, तो स्वामी जी ने यह कहकर छुड़वा दिया कि ''वह स्वयं ही अपने किए पर लज्जित हैं। वह तो कांप रहा है।'' स्वामी जी को पूर्वाभास की दिव्य शक्ति प्राप्त थी।

अपूर्व विद्वत्ता : कर्णवास में स्वामी जी का शास्त्रार्थ अनूपशहर के पं. हीरा वल्लभ जी के साथ हुआ था। पं. हीरावल्लभ जी ने बीच में ठाकुर जी का सिंहासन रख दिया, जिस पर शालिग्राम आदि की मूर्तियां थी। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं स्वामी जी से इन्हें भोग लगवाकर ही उठूंगा। छः दिन तक धाराप्रवाह संस्कृत में शास्त्रार्थ होता रहा। सातवें दिन पं. हीरावल्लभ जी बोले कि जो कुछ स्वामी जी कहते हैं, वह ठीक है। उन्होंने सिंहासन से उठाकर मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया और सिंहासन पर वेद की प्रतिष्ठा की।

विश्वप्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण जातीयतापूर्ण नहीं था, वह तो मानववादी था और यही कारण है कि आर्यसमाज के नियम बनाते समय- ''संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है,'' इस विचार को उन्होंने सम्मिलित किया। उनके सभी ग्रन्थों में प्राणी मात्र के कल्याण की भावना आदर्श रूप में मिलती है। उनकी भाष्य शैली में भी यही स्वर सर्वत्र प्रमुख है। वास्तव में वर्तमान जातीयता का विचार विश्व में शान्ति स्थापित करने में बाधक है। विश्व शान्ति विश्वमैत्री द्वारा ही संभव हैं वैदिक उद्घोष- ''कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'' ही विश्व को एक सूत्र में निबद्ध कर सकता है।

आत्मनिरीक्षण : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हरिद्वार में ''पाखण्ड खण्डिनी पताका'' फहराई थी। एक दिन उन्होंने शयन से पूर्व आत्म निरीक्षण करते हुए पाया कि उनके धर्म प्रचार का जनता पर वह प्रभाव नहीं पड़ रहा है, जो अभीष्ट है। उन्हें इसका कारण अपनी तपस्या में न्यूनता जान पड़ी। तभी से उन्होंने सर्वमेध यज्ञ करके, केवल एक लंगोटी पहनकर गंगा के तट पर विचरना, तथा अपनी तपस्या और अपने ज्ञान में वृद्धि करने का प्रण कर लिया। अनेक वर्षों की साधना के पश्चात् उन्हें वह दिव्य शक्ति प्राप्त हुई जिसमें उन्होंने वैदिक धर्म का डिण्डिम घोष चहुं ओर प्रचारित किया।

शिक्षा-प्रसार : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा क्षेत्र में विशेष योगदान दिया। उन्होनें अपने जीवन काल में अनेक संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना भी की जिन्होंने अब विशाल और विस्तीर्ण रूप ग्रहण कर लिया है। वे स्त्री शिक्षा के भी अनन्य प्रबल समर्थक थे। उन्होंने स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य धारण और विद्या ग्रहण का अधिकार दिलाया। महर्षि ने अनिवार्य शिक्षा के विषय में लिखा है :-

''इसमें राजनियम और जाति नियम होना चाहिए कि पांचवें वर्ष के उपरान्त कोई मनुष्य अपने लड़के या लड़कियों को घर में न रख सके। अवश्यमेव उन्हें पाठशाला में भेजें। यदि न भेजें तो वह दण्डित किया जाए।'' महर्षि दयानन्द ने लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग शिक्षणालय खोले जाने की व्यवस्था दी थी। शिक्षा के समय उनकी मान्यता

थी कि "सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिए जावें चाहे वह राजकुमारी व राजकुमार हों। चाहे दरिद्र की सन्तानें हों। सबको तपस्वी होना चाहिए।"

आर्यसमाज के अनेक गुरूकुल, विद्यालय तथा कालेज चल रहे हैं। आज तो आर्य पद्धति पर आधृत शिक्षणालयों का जाल सा बिछा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा उनके अनुयायियों की शिक्षा नीति पर आधृत देश विदेश में अनेक विश्वविद्यालय तथा कालेज चल रहे हैं।

गौ-रक्षा : महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने धर्म प्रचार का कार्य तो किया ही, उन्होंने "गौरक्षा कार्यक्रम" का भी सूत्रपात किया। स्वामी जी ने देखा कि किस प्रकार लोग गोरक्षा की ओर से लापरवाही करते आ रहे हैं। उन्होंने आगरा में गोकृष्यादि रक्षिणी सभा की स्थापना गोरक्षा के लिए आन्दोलन करने के उद्देश्य से की। भारत देश की उन्नति में गोरक्षा का विशेष महत्व है। अजमेर में एक अंग्रेज कमिश्नर के विदाई समारोह में स्वामी जी ने ललकारते हुए कहा था- "आप जाकर महारानी से कह देना कि यदि गौहत्या इसी प्रकार जारी रही और सरकार हमारी धार्मिक भावनाओं से इसी प्रकार खेलती रही तो १८५७ की क्रान्ति पुन: दुहराई जा सकती है।"

ऋषिवर ने लिखा है "जब आर्यो का राज्य था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे।" उन्होंने अपने जीवनकाल में गौशालाओं की स्थापना की। आज भी अनेक गौशालाएं इस दिशा में कार्यरत हैं। आर्यसमाज निरन्तर गौशालाओं की स्थापना की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है।

नारी-सम्मान : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्त्रियों के लिए समान अधिकार दिए जाने का प्रावधान किया है। उन्होंने लिखा है "नारी न केवल गृहस्थ जीवन की अपितु मान व सम्मान की आधारशिला है। अत: उसका सुशिक्षित, सभ्य और सुसंस्कृत होना अनिवार्य है"। उन्होंने वैदिक पुत्री पाठशालाओं की स्थापना करके नारी जाति और शूद्रों को पढ़ने का अधिकार दिया। उन्होंने अपने सुधारवादी आन्दोलनों में विधवा-पुनर्विवाह बाल-विवाह और सतीप्रथा का निषेध, दास प्रथा से मुक्ति, गुण कर्म और स्वभाव के आधार पर वर्ण व्यवस्था तथा छुआ-छूत का विरोध करके एक स्वस्थ एवं समुन्नत सामाजिक व्यवस्था प्रदान की।

आज नारी-जाति नर के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रोत्थान के कार्यों में संलग्न है यह आर्यसमाज के ही प्रयासों का सुफल है।

अन्त समय मृत्यु का अद्भुत दृश्य : स्वामी जी महाराज अजमेर में भिनाय की कोठी

में मृत्यु शैया पर लेटे थे। संपूर्ण भारत से तथा विदेशों से भी अनेक भक्त उनके दर्शनार्थ वहां आते रहते थे। लाहौर के प्रसिद्ध विद्वान् पं. गुरूदत्त विद्यार्थी, एम.ए., भी आर्यसमाज लाहौर के प्रतिनिधि के रूप में वहां पर पहुंचे थे। स्वामी जी ने बातचीत करके सबको विदा किया और अपनी शैया पर बैठ गए। उन्होंने प्राणायाम किया। प्राणायाम के पश्चात् वेदमंत्रों का पाठ किया। मन्त्रोच्चारण करते समय उनके मुख पर मुस्कुराहट थी। गुरूदत्त ने सोचा कि मौत का नाम सुनकर लोग भयभीत होते हैं, कांपते हैं, पर ऋषिवर के मुख पर तो प्रसन्नता की स्फूर्तिदायक आभा है। उन्हें कोई कष्ट नहीं है। वे प्रसन्नवदन परमात्मा की आराधना कर रहे हैं। स्वामी दयानन्द की इस प्रसन्न मुखमुद्रा का गुरूदत्त पर विद्युतीय प्रभाव हुआ। उनके हृदय में जमा नास्तिकता का कूड़ा कर्कट क्षण भर में साफ हो गया। उनका हृदय कमल आस्था, विश्वास और श्रद्धा से प्रस्फुटित हो गया। स्वामी दयानन्द ने एक निःश्वास ली और प्रसन्न वदन बोले, ''प्रभु आपने अच्छी लीला की, आपकी इच्छा पूर्ण हो'' इन शब्दों के साथ उन्होंने अन्तिम श्वास खींचा और प्राण त्याग दिए।

मृत्यु के इस अद्‌भुत दृश्य ने प्रकट कर दिया कि जो महान् पुरुष ईश्वर विश्वासी होते हैं, जिनके हृदय में परोपकार के भाव भरे रहते हैं, जिनका संसार में किसी से राग-द्वेष नहीं होता, वे इस प्रकार प्रसन्न वदन, मुस्कराते और ईश्वर का स्मरण करते हुए संसार से विदा होते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीय पुनर्जागरण तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अग्रदूत थे। उन्होंने भारत की सुप्त, पराधीन ज़ाति की हृत्तन्त्री को झंकृत करके, उन्हें नवस्फूर्ति तथा नवचेतना प्रदान की। सामाजिक कुरीतियों तथा अंधविश्वासों के उन्मूलन तथा स्त्री-जाति और दलितों को उनका समान अधिकार दिलाने के लिए सबल प्रयास किया। वेदोद्धारक ऋषिवर की वैज्ञानिक अन्वेषण दृष्टि ने आर्य जाति को अपने व्यवहार में उच्चता, उदात्तता तथा मानवीयता लाने की गुणवत्ता प्रदान की। उनकी स्वराज्य की अवधारणा तथा स्वभाषा प्रवर्तन की भावना ने राष्ट्रोत्थान तथा राष्ट्रीयता की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। वे हमारे प्रेरणा स्रोत तथा वन्दनीय एवं स्मरणीय है। उनके जन्म दिवस पर, उनकी स्मृति में हमारी विनत श्रद्धांजलि।

कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.

हरिद्वार - २४९४०४

वेद एवं भगवद्गीता के दर्शन पर तुलनात्मक दृष्टि

डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'

वेद और गीता संस्कृत वाङ्मय की अमर कृतियां हैं। परवर्ती मानव और साहित्य इनसे सदा ही आप्लावित और अनुप्राणित रहा है। जहां वेद का ज्ञान परमपिता परमात्मा ने मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए सृष्टि के आदि में दिया[1] वहीं गीता का उपदेश भी योगिराज कृष्ण ने दिग्भ्रमित अर्जुन को युद्ध भूमि में दिया। यह सुविदित है कि पार्थ सारथि भगवान् श्री कृष्ण ने महाभारत युद्ध भूमि कुरूक्षेत्र में धर्माधर्म के विषय में किंकर्तव्यविमूढ़ अपने जिज्ञासु भक्त पृथा पुत्र के प्रति अनादि एवं अपौरुषेय वेदों का जो निष्कृष्टार्थ गान किया,[2] उसी का श्री वेदव्यास द्वारा संगुम्फित स्वरूप 'श्रीमद्भगवद्गीता' है जिसका सात सौ श्लोकों का अष्टादशाध्यायात्मक आकार है।[3] इन सात सौ श्लोकों में से प्रथम अध्याय के सैंतालीस तथा द्वितीय अध्याय के दस, कुल सत्तावन श्लोक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखते हैं, शेष छह सौ तैंतालिस श्लोक दार्शनिक भावों के सूक्ष्म विवेचन से सम्बद्ध हैं।

महर्षि मनु के अनुसार वेद 'सर्वज्ञानमय' हैं। इनमें तृण से लेकर मोक्ष पर्यन्त सभी पदार्थों का कहीं विस्तार से तो कहीं अल्प 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशतिवत्' वर्णन हुआ है। आध्यात्मिकता से तो वेद अनुस्यूत हैं। इनमें दार्शनिक भावों का तो बड़े ही मार्मिक शब्दों में वर्णन किया गया है। वेदों ने जहां ईश्वर और प्रकृति की सत्ता का बखान किया, वहीं जीव की 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' कहकर उसकी सत्ता भी सिद्ध की है। वेदों में इन तीनों अनादि तत्वों के अलावा सप्तचक्र, षट्चक्र, पञ्चचक्र और द्विचक्र आदि विविध तत्वों का भी वर्णन मिलता है। वेद का दर्शन षड्दर्शन धारा और मध्यकालीन आचार्य दर्शन परम्परा से कुछ हटकर भी है। वेद केवल तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा का ही वर्णन नहीं करता अपितु, इनमें विज्ञान एवं दर्शन से लेकर मानव की गहनतम ज्ञान की जिज्ञासा का समाधान भी है। दर्शन

---

१. वैदिक भारतीय परम्परा वेदों को निराकार परमात्मा द्वारा सृष्टि के आदि में दिया हुआ ज्ञान स्वीकारती है।

२.१- गीता शास्त्र सम्पूर्ण वैदिक शिक्षओं के तत्वार्थ का सार संग्रह है- 'समस्त वेदार्थ सार संग्रह भूतम्' द्र० गीता, शांकर भाष्य की भूमिका।

२.२ गीता में उन्हीं सत्यों का प्रतिपादन किया गया है जो वेदों में पहले से ही विद्यमान हैं- ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभि: विविधै: पृथक्। ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै: ।गी०१३/४

३- यह श्लोक संख्या गीता प्रेस, गोरखपुर के संवत् २०५१ में प्रकाशित एक सौ सन्तानवें संस्करणानुसार है।

कारों ने जिन विषयों को सूत्रों में ग्रथित कर दिया है वे उन्हें वेदों में विस्तृत रूप से स्पष्ट मिले थे। वेदों का हर मन्त्र, हर सूक्त, हर अध्याय अपने आप में एक दर्शन है। मन्त्र का, सूक्त का, अध्याय का कोई न कोई ऋषि अवश्य है। वह मन्त्र उस ऋषि का दर्शन है जिसके अर्थों का दर्शन उसने समाधि में किया है। ब्रह्म के सानिध्य में किया है। जिस प्रकार वैशेषिकादि दर्शन महामुनि कणाद आदि के दर्शन हैं वैसे ही वेदों में उपलब्ध सूक्त उन पर उल्लिखित ऋषियों के दर्शन हैं। वे ही वैदिक षड्दर्शनों और तत्सम्बन्धी चिन्तना के आधार हैं।

वेदों के पश्चात् सबसे अधिक यदि किसी ने वैदिक दर्शन और आध्यात्मिकता को विश्व में फैलाया है तो वह निश्चित रूप से 'श्रीमद्भगवद् गीता' ही है। स्वाध्याय करने पर अथर्ववेद (१९/९/५) में 'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि' इस मन्त्र को देखा तो श्री मद्भगवद्गीता का मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति' (१५/७) यह वचन तथा कठोपनिषद् (१/२/१५) में- .....

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

इस वचन को देखकर गीता (८/११) का-

'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।

यह वचन स्मरण हो आया। इसी प्रकार गीता (८/९) के-

कविं पुराणमनुशसितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्ण तमसः परस्तात्।।'

इस श्लोक को देखकर वेद एवं उपनिषदों के निम्न वचन स्मृति पटल पर छा गये।

- कविर्मनीषी — यजु. (४०/८)
- आदित्यवर्ण तमसः परस्तात् — यजु. (३१/१८)
- स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् — यजु. (१३/४)
- वेदाहमेतमजरं पुराणम् — श्वे उ०
- अणोरणीयान्महतो महीयान् — श्वे उ०
- अचिन्त्य रूपम् — मु०उ० (३/१/७)

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम का वेदरहस्यात्मक अर्थ गीता के वक्तव्य के रूप में बताते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं -

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
यस्मात् क्षरमतीतो ऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मिन् लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम।।
(गीता १५/१६/१८)

श्री जगन्नाथ शास्त्री 'सारस्वत' ने अपने 'भगवत्गीता और वेदगीता' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम सम्बन्धी गीता-वक्तव्य की निम्न मन्त्रों से तुलना की है-

१. यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी।।
(शु०य० ८/३६)

कुछ पदों के परिवर्तन के साथ शुक्लयजुर्वेद के ३२/५ वें मन्त्र के रूप में भी यह मन्त्र पठित है।

२. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। (श्वे. उप० १/१०)

३. एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्व प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।। (श्वे.उ.१/१२)

इसी प्रकार गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२/४७) एवं १८/६,७,८,९ आदि सैंकड़ों स्थल जिनमें 'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि (यजु० ४०/२) आदि वेद मन्त्रों की छाया प्रतिबिम्बित हो रही है, अध्ययन करते समय पदे-पदे दखे गये। तब गीता के प्रत्यध्याय की पुष्पिका में पठित 'श्रीमद् भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इस वचन और गीता के माहात्म्य में आये 'सर्वोपनिषदोगावः' श्लोक के आधार पर यह समझते देर न लगी कि वेदों का सार उपनिषद् और उपनिषदों का सार गीता है। अनन्तर ही वेदों से गीता के दार्शनिक भावों के समन्वय की भावना प्रबल हो गयी। वस्तुतः गीता का आरम्भ वैदिक धरातल पर ही हुआ हैं। ये दोनों विरोधी नहीं हैं। यदि कहीं इनके दार्शनिक विचारों में विरोध नजर आता है तो उसकी सही व्याख्या होनी चाहिए। गीता में जो 'वेदवादरताः' जैसे वचनों में कहीं-कहीं वेदों की निन्दा की गयी जान पड़ती है, वास्तव में वहां वेदानुकूल आचरण न करने वाले लोगों की भर्त्सना है।

गीता के आविर्भाव के पश्चात् से ही तत्तत्कालीन भाष्यकार, सम्प्रदायाचार्य तथा उनके अनुयायी विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके दार्शनिक भावों का सुविशद्विवेचन करते आ रहे हैं और सबने यत्र-तत्र स्वरकार भी किया है कि गीता के दार्शनिक भावों की आधारशिला वेद ही है। गीता की अन्तःसाक्षी भी स्वयं इसकी पुष्टि करती है।

वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार - २४९४०४

गतांक से आगे-

शून्यवाद का खण्डन

डॉ0 सूनृता विघालंकार

शून्यवाद बौद्ध के मत की आलोचना करते हुए भाष्यकार कहते हैं[14] कि शून्यवादी लोग भी उक्त पंचस्कन्ध विषयक महानिर्वेदरूप वैराग्य के लिए तथा तज्जन्य पुनर्जन्माभावरूप प्रशान्ति के लिए गुरू के पास में 'साक्षात्कार पर्यन्त ब्रह्माभ्यास करूंगा' ऐसा कहकर स्कन्धतिद्विषयक वैराग्य, अन्य, मोक्ष, गुरुपसत्ति तथा ब्रह्माभ्यास आदि सर्वपदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हुए भी, फिर आत्मा की सत्ता का ही अपलाप करते हैं। शून्य ही तत्व है ऐसा मानते हैं। अतः इनका मत भी 'प्रत्यक्ष' न्याय विरूद्ध' ही समझना चाहिए।

यहां पर विज्ञानभिक्षु ने शून्यवादी के मत में, जो स्वमत विरोध तथा न्याय विरोध रूप दोष दिए हैं वे वेदान्त मन में भी लागू पड़ते हैं, ऐसा कहा है[15]। क्योंकि, वैदान्ती भी गुरुवेदादि सकल संसार को मिथ्या कहते हुए ब्रह्मचर्यादि मोक्ष साधनों को उपदेश करते हैं। परन्तु यह कहना समीचीन नहीं क्योंकि वेदान्त मत में मिथ्यया शब्द का अर्थ शून्य नहीं, किनतु व्यावहारिक है और व्यवहार काल में संसार तथा गुरू वेदादि सर्वसाधन सत्य है। अतः उक्त दोष का अवकाश नहीं भाष्यकार ने जो कहा है वह ठीक ही है कि सांख्ययोग मतावलम्बी पुरूष को ही चित्त का भोक्ता मानते हैं।

पुनः बौद्धवादी लोग कहते हैं कि यदि चित्त न स्वग्राह्य है औन न चित्तान्तर ग्राह्य, किन्तु आत्मा ग्राह्य है अर्थात् पुरूष के द्वारा उसका ग्रहण होता है तब निर्लेप, स्वयं प्रकाश तथा निष्क्रिय पुरूष में चित्त का भोक्तृत्तवरूप दर्शनकर्तृत्व कैसे ? भाव यह है कि पुरुष क्रियारहित तथा अपरिणामी है और ज्ञान प्राप्त करने अथवा किसी विषय को ग्रहण करने में क्रिया एवं परिणाम दोनों होते हैं। फिर पुरुष चित्त के विषय का ज्ञान किस प्रकार कर सकता है ? इसका समाधान इस सूत्र में है कि यद्यपि अपरिगामी भोक्तृशक्ति पुरुष किसी विषय से सम्बद्ध न होने से निर्लेप है तथापि विषयाकार परिणामी बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से तदाकार होने से, वह उस बुद्धि का ज्ञान प्राप्त करता है[16]।

यद्यपि निर्विकार पुरुष में दर्शन कर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है किन्तु जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्बत हुए चन्द्रमा में अपनी चंचलता का अभाव रहता है किन्तु जल रूप उपाधि की चंचलता से वह भी चंचल सा प्रतीत होता है वास्तव में नहीं, वैसे ही चैतन्य में दर्शनकर्तृत्वादि धर्म स्वाभाविक नहीं अपितु औपचारिक रूप से दिखायी पड़ते हैं।

इस प्रसंग में भाष्यकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है[17] उस श्लोक का अभिप्राय यह

है कि व्यावहारिक काल में चेतन बुद्धिवृत्यवशिष्ट ही है। जिस गुफा में शाश्वत ब्रह्म निहित है वह गुफा न पाताल है न पर्वतों की गुफा है न अन्धकार है न समुद्रों की खाड़ी है किन्तु प्रतिबिम्बत चेतना से अभिन्न जो बुद्धिवृत्ति है उसी को कवि ब्रह्म गुहा कहते हैं।

चित्त एवं पुरुष के अभिन्न्ता का रहस्य

चित्त एवं पुरुष को विज्ञानवादी बौद्ध अभिन्न कैसे मान लेते हैं इस भ्रान्ति के बीज का उद्घाटन करते हुए सूत्रकार कहते हैं[18] कि चित्त द्रष्टा एवं दृश्य दोनों के आकार को प्राप्त होने के कारण सर्वाथ कहा जाता है। चित्त की दृश्याकार एवं पुरुषाकार वृत्ति होती है। वह मन स्वयं विषय (दृश्य) होने से पुरुष की निजंवृत्ति (चिदात्मक वृत्ति) के साथ संयुक्त है। चित्त पुरुष का विषय रूप होता हुआ भी पुरुष के समान अविषयी, जड़ होता हुआ भी चेतन के समान मालूम पड़ता है। इस प्रकार चित्त पुरुष की तरह चेतन प्रतीत होने से विज्ञानवादी बौद्ध उसी को आत्मा समझ बैठते हैं। उनके मतानुसार सम्पूर्ण जगत् ज्ञान का ही आकार मात्र है अतः वृत्ति के आधार का दर्शन पुरुष को होता है विषय का नहीं इसलिए वह विषय को ही गोलमाल करके चित्त (वृत्ति) को ही सर्वेसर्वा मान बैठे हैं। ऐसे बौद्ध दया के पात्र हैं ऐसा भाष्यकार का मत है।

इस प्रसंग में पुनः विज्ञानवादी बौद्धों के मत को उपस्थित कर भाष्यकार ने खण्डन किया है[19]। योगाचारमतावलम्बी क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों के मतानुसार चित्तमात्र ही है। यह सम्पूर्ण प्रपंच गवादि, घटादि सकारण लोक कुछ नहीं है, चित्त से अतिरिक्त बाह्य प्रपंचका अभाव है ऐसे बौद्ध लोगों की भ्रान्ति का कारण है चित्त का सर्वाकार रूप से दीखने वाला स्वरूप। अतः समाधिकाल में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसमें तीन पदार्थ भासते हैं ध्येय, ध्यान, ध्याता। प्रज्ञा में प्रतिबिम्बित होकर जो भासता है वह ध्येय रूप अर्थ है और जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वह ध्यान रूप प्रज्ञा है एवं प्रतिबिम्बसहित प्रज्ञा का जो आधार है वह ध्यातारूप पुरूष है। इस प्रकार विवेक करने पर चित्त से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है।

यदि वैनाशित लोग- उक्त प्रज्ञा का आधार आत्मा नहीं किन्तु चित्त ही क्यों न माना जाय? ऐसा कहेंगे इस पर भाष्यकार कहते हैं यदि प्रज्ञा का आधार चित्त मात्र होगा तो प्रज्ञा से ही प्रज्ञा रूप को किस प्रकार ग्रहण किया जाएगा अर्थात् 'कर्मकर्तृविरोध' उपस्थित हो जायेगा।

अतः सिद्धान्त पक्ष है कि समाधिप्रज्ञा में प्रतिबिम्बीभूत अर्थ को जानने वाला चित्त से भिन्न पुरुष है। इस प्रकार ग्रहीता (पुरुष), ग्रहाण (वृत्ति) ग्राह्य विषयादि चित्त यह तीनों जाति से भिन्न है ऐसा यथार्थदर्शी ज्ञानी लोग मानते हैं।

अन्तिम प्रश्न है कि जब चित्त से सब व्यवहार चल रहे हैं और उसी में सब वासनायें रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध होता है। इसका समाधान सूत्रकार ने इस प्रकार किया है[20] कि चित्त अनगिनत वासनाओं से चित्रित होता हुआ भी परार्थ है क्योंकि वह संहत्यकारी हैं। चित्त इन्द्रियादि संघात के साथ मिलकर काम करने वाला है। इस पर पूर्वपक्षी का प्रश्न हो सकता

है कि चित्त संहत्यकारी होने पर भी भोग और अपवर्ग अपने लिए सम्पादन करे अतः चित्त से भिन्न आत्मा को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान भाष्यकार ने किया है[21] कि सुखदुःखमय भोगोत्मक चित्त सुखदुःखरूप भोगात्मक चित्त के लिए नहीं है अर्थात् चित्त अपने ही लिए भोग समोक्ष का सम्पादन नहीं कर सकता क्योंकि कर्मकर्तृ विरोध हो जाएगा। भाव यह है कि प्रवृत्तिशील चित्त भोग कहा जाता है और निवृत्तिशील चित्त मोक्ष कहा जाता है। अतः भोगमोक्ष चित्त रूप होने से भी अन्य आत्मा के लिए है अपने लिए नहीं। जो जो असंहत्यकारी होता है वह पर होता है इस 'व्याप्ति' से जो चित्त से पर पदार्थ होता है वह पुरूष है। यदि चित्त से पर कोई संहत पदार्थ ही स्वीकार किया जाएगा तो पदार्थ की धारा की विश्रान्ति न होने पर अनवस्थारूप दोष प्राप्त होगा। अतः चित्त से पर जो पदार्थ स्वीकार किया जाय वह असंहत पदार्थ ही होना चाहिए।

अतः यद्यपि चित्त असंख्य वासनारूप चित्र से चित्रित है, उसी को भोक्तारूप से स्वीकार करना उचित है। क्योंकि, जो वासना का आश्रय होता है, वही भोग का भी आश्रय होता है, यह नियम है। तथापि वह चित्त स्वार्थ नहीं, किन्तु पुरूष के लिए भोग मोक्ष का सम्पादक होने से पुरूषार्थ है। क्योंकि लोक में जो जो पदार्थ परस्पर मिलकर किसी एक कार्य को सम्पादन करते हैं, वे सब पदार्थ ही देखे जाते हैं, स्वार्थ नहीं। जैसे शयन, आसन, गृहादि पदार्थ परस्पर मिलकर गृहपतिरूप पुरूष के भोग के लिए होते हैं। वैसे ही चित्त भी क्लेश, कर्म, वासना एवं विषयादि के साथ मिलाकर आत्मा रूप पुरूष का अर्थ सम्पादन करने के लिए है, स्वार्थ नहीं। अतः जो भोगावर्गरूप अर्थवाला है वही पुरूष है।

यह सब युक्तियां चित्त को आत्मा से भिन्न बतलाकर दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। पुरूष की सत्ता में प्रमाण देकर अब पुरूष का स्वरूप क्या है ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। वैसे पुरूष की सत्ता सिद्ध करते हुए ही स्वरूप का भी कहीं-कहीं उल्लेख हो गया है परन्तु संक्षिप्त रूप में।

पुरूष का स्वरूप

भाष्यकार ने पुरूष का स्वरूप चित्रित करते हुए कहा है कि पुरूष अपरिणामी, विषय से असम्बद्ध, विषयों का द्रष्टा, शुद्ध एवं नित्य है। यह इसका मिश्रित स्वरूप है। सांसारिक अवस्था में चित्त के साथ संयुक्त होने पर वह चित्तवृत्ति[22] को स्ववृत्ति मान लेता है तभी भोग का आरम्भ होता है।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि चित्त एंव पुरूष के संयोग से ही विषय का ज्ञान हो सकता है जैसे घटादि का प्रकाश सूर्य से सम्पर्क होने पर होता है तब चैतन्य में वृत्तिप्रतिबिम्ब तथा चित्त में चैतन्य प्रतिबिम्ब मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि परस्पर प्रतिबिम्ब के बिना पुरूष-प्रकृति के संयोग से विषयज्ञान सम्भव है।

इस विषय में विज्ञानभिक्षु की दर्शन साहित्य को महत्वपूर्ण देन है। वे 'बिम्ब प्रतिबिम्ब' भाव से उपस्थापक हैं। उनके मतानुसार बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

चैतन्य में वृत्तिप्रतिबिम्ब की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि यदि वृत्तिप्रतिबिम्ब न माना जाय तो कूटस्थनित्य, विभु, चैतन्य का सभी विषयों के साथ सम्बन्धह होने से सर्वदा विषयमान होता रहेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि कोई व्यक्ति कहे कि अज्ञानवश विषयों का स्फुरण सर्वदा कहीं होता है। इसका उत्तर देते हुए भिक्षु महाराज कहते हैं कि पुरूष तो नित्य ज्ञान स्वरूप है उसमें अज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।

अतः कभी विषय का स्फुरण होता है कभी नहीं इसमें अर्थाकारता ही प्रमाण है[23]। यह अर्थकारता बुद्धि में परिणामरूपा है तथा पुरूष में प्रतिबिम्बरूपा है[24]। संस्कारशेष बुद्धि का प्रतिद्वम पुरूष में नहीं पड़ता क्योंकि कई विषय अतीन्द्रिय होते हैं जैसे परमाणु आदि। उनका प्रतिबिम्ब पड़ना असंभव है। अतः पुरूष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही पुरूष को ज्ञान होता है।

जिस प्रकार से चैतन्य में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार बुद्धि में भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से जड़ होती हुई भी विषय का प्रकाश करने लगती है। तथा चैतन्य का प्रतिबिम्ब न पड़ने से चित्त ही द्रष्टा के रूप में सिद्ध होने पर कर्मकर्तृ विरोध हो जाएगा। तथा पुरूषाकार चित्तवृत्ति का होना असम्भव हो जाएगा। क्योंकि पुरूष विषय न होने से पुरूषाकार चित्तवृत्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का होना अवश्यम्भावी है।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि पुरूष निर्गुण होने के कारण नीरूप है अतः उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? क्योंकि यह नियम है कि जो सगुण होता है रूपवान् होता है उसी का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। इसका समाधान भी विज्ञानभिक्षु ने किया है कि बुद्धि परिणाम ही प्रतिबिम्ब शब्द से कहा गया है। जलादि में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है इसका तात्पर्य है कि सूर्याधाकार बुद्धि परिणाम होता है। अतः प्रतिबिम्ब शब्द का लौकिक अर्थ न होकर यहां पर 'प्रतिबिम्ब' शब्द से अभिप्राय है कि किसी के स्वरूप को ग्रहण कर लेना।

अतः सिद्ध हुआ कि यद्यपि पुरूष उदासीन है और सुखदुःखादि बुद्धिसत्व में उत्पन्न होते हैं उस समय पुरूष का प्रतिबिम्ब बुद्धिसत्व में पड़ता है। उस समय भोग प्रारम्भ हो जाता है। जिस प्रकार जय एवं पराजय योद्धाओं के धर्म होते हैं पर उन धर्मों का राजा में आरोप किया जाता है उसी प्रकार सुखदुःखादि धर्म बुद्धिसत्व के होते हुए भी अहंकारवश आत्मा अपने धर्म मान लेता है।

सांसारिक पुरूषों का चित्र खिंचते हुए भाष्यकार ने कहा है कि भोगी पुरूष स्त्री पुत्रादि में रत रहने से अधिभौतिक, आधिदेविक तथा आध्यात्मिक क्लेश का अनुभव करते हैं। परन्तु उनको यह पता नहीं होता कि इस विषयसुख में भी दुःख ही है। मनुष्य सुख की तरफ दुःखनिवारणार्थ भागता है परन्तु महान् दुःखमयी कीचड़ में फंस जाता है। जिस प्रकार कोई पुरूष बिच्छु से डरकर सांप से डस लिया गया हो[25]।

पाद-टिप्पणी

१४. तथा स्कन्धानां महानिर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्य चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्वस्य पुनः सत्वमेवापह्नुवते-व्यासभाष्य, पृ० ४३३

१५. एतेनाधुनिकवेदान्तिब्रुवा अपि न्यायविरुद्धा मन्तव्याः, तेऽपि मोक्षार्थं गुरूमुपासन्ना ब्रह्मातिरिक्तं सर्व शुक्ति रजतवदत्यन्ततुच्छमिति गुरूपदेशान्मोक्षतत्साधनादिकमेवापलपन्तीति-योगवार्तिक, पृ० ४३३

१६. चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्ती स्वबुद्धि सर्वंवेदनम्- योगसूत्र ४/२२

१७. न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्। गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमवशिष्टां कवयो वेदयन्ते। -व्यासभाष्य, पृ० ५३५

१८. दृष्टदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वाथम्- योगसूत्र ४/२३

१६. अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्व, नास्ति खल्वयं गवादिर्घयदिश्च सकारणो लोक इति, अनुकम्पनीयास्ते, कस्माद्- अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वेषामाकार-निमसिं चित्तिमित्ति- समाधिप्रज्ञायां प्रतेयोर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्याऽलम्बनी भूतत्वादन्यः- व्यासभाष्य, पृ० ४३८

२०. तदसंख्येयवासनामिश्चित्रमपि परार्थ संहत्यकारित्वाद्- योगसूत्र ४/२४

२१. न सुखचितं सुखार्थ न ज्ञानं ज्ञानार्थ उभयमप्येतत्परार्थम्- व्यासभाष्य, पृ० ४४०

२२. वृत्तिसारुप्यमितरत्र-योगसूत्र १/४

२३. अतोऽर्थमानस्य कादाचित्कत्वाद्युपपतयेऽर्थाकारतेवावग्रहणं वाच्यं-योगवार्तिक, पृ० २

२४. सा चार्थाकरता बुद्धौ परिणामस्वरूपा पुरुषे च प्रतिबिम्बरूपा- योगवार्तिक, पृ० २२

२५. स खल्वयं वृश्चिकविषमीतित इवाशीविशेण दृष्टो- व्यासभाष्य, पृ० १८०

प्रभारी
कन्या महाविद्यालय
(गु.कां.वि.वि.)
हरिद्वार

*

* *सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।*

संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और मानसिक उन्नति करना।

(महर्षि दयानन्द सरस्वती)

भारतीय संस्कृतौ नारीणां यज्ञाधिकारः

डॉ० रामनाथ वेदालंकारः
वेदमन्दिरम्, ज्वालापुरम्, हरिद्वारः

वेदाः खलु भारतीयसंस्कृतेर्मूलम्। वेदेषु च नारीजीवनम् अतिशयेन पावनं, श्लाघ्यं, सुन्दरं, गौरवपूर्णं च विद्यते, तत्र कालिम्नो रेखापि न दृग्गोचरी भवति। वेदोक्ता नारी सुशिक्षिता, शिष्टा, विनम्रा, शीलवती, प्रकाशवती, लक्ष्मीवती, मेधान्विता, श्रद्धामयी, तपोमयी, स्नेहमयी संकल्पनिष्ठा, व्रतनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, राष्ट्रसेविका, शौर्यवती, वीरप्रसवा, विजेत्री, पापासुरसंहारिणी, दैत्यदलविमर्दिनी च विद्यते। तत्र भार्या स्वभर्त्रा सह दैनिकमग्निहोत्रमनुतिष्ठति। वैदिके कर्मकाण्डे पत्नीं विना कश्चिद् यजमानसंज्ञां न लभते। दम्पती परस्परं मिलित्वैव यज्ञं कुरुतः। महर्षियाज्ञवल्क्यानुसारम् अपत्नीकस्य यज्ञाधिकारो नास्ति- **"अयज्ञियो वा एषा योऽपत्नीकः** (श. ब्रा. ३/३/३/१७)

केषुचित् स्मृतिग्रन्थेषु नारीणां यज्ञकर्तृत्वं निषिद्धम्, परं **"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु स्मृतिरेव गरीयसी"** इति न्यायेन ताः स्मृतयो वेदविरुद्धत्वात् प्रमाणकोटिं नाधिरोहन्ति। सर्वैरेव प्रमुखैर्वेदभाष्यकारैः वेदे नार्या यज्ञाधिकारः समर्थितः।

ऋग्वेदस्यैकस्मिन् मन्त्रे तादृशौ द्वे धेनू वर्णिते ये एकमेव वत्सं प्रति धावतः।

समानं वत्समभि संचरन्ती विष्वग् धेनू विचरतः सुमेके। ऋ० १/१४६/३

एतन्मन्त्रस्य व्याख्याने सायणाचार्यो वत्सशब्देन 'अग्निम्' धेनुशब्देन च 'पत्नीयजमानौ' गृह्णाति। यजमानो यजमानपत्नी च समानं वत्सम् अग्निं प्रति संचरतः, आहुतिं प्रयच्छतः इत्यर्थः। तथा हि - "समानम् एकमेव वत्सं वत्सस्थानीयं पुत्रवद् हर्षहेतुम् अग्निम् अभिमुखं संचरन्ती संचरन्त्यौ द्वे धेनू अग्निहितकरणेन प्रीणयित्र्यौ पत्नीयजमानलक्षणे धेनू विष्वग् विचरतः स्तनपानादिसदृशेन इन्धनप्रक्षेप-संमार्जनादिना सम्यग् वर्धयत इत्यर्थः" इति सायणीया व्याख्याऽत्राऽनुसन्धेया, यया नारीणां यज्ञाधिकारः स्वीकृतो जायते।

अपरोऽपि ऋग्वेदीयो मन्त्रोऽवलोकनीयः-

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया विभाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईडाना हविषा घृताची।। ऋ० ५/२८/१

प्रातर्वेलायां यज्ञाग्निं समिद्धं दृष्ट्वा प्रोच्यते- एषोऽग्निः समिद्धोऽस्ति, अस्य ज्वाला अन्तरिक्षे श्रयति, उषसमभिमुखः सन्नेषोऽग्निर्विस्तीर्णतया प्रकाशते। विश्ववारा नारी नमस्कारैर्देवान् पूजयन्ती घृतपूर्णया स्रुचा सहिता हविषा च युक्ता आहुतिं प्रदातुम् अग्निमुपगच्छति। तथा च सायणः- "नमोभिः स्तोत्रैः देवान् इन्द्रादीन् ईडाना स्तुवती हविषा पुरोडाशादिलक्षणेन युक्तया घृताची घृताच्या स्रुचा सहिता विश्ववारा सर्वमपि पापरूपं शत्रुं वारयित्री एतन्नामिका प्राची प्राङ्मुखी सती एति, एवंभूतमग्निं प्रति गच्छति" इति। एतेन नारीणां यज्ञाग्नौ घृतपुरोडाशादिहविर्दानं सिध्यति।

ऋग्वेदस्याष्टमे मण्डले यज्ञकारिणोर्दम्पत्योः किं महत्फलं भवतीति एकत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रपञ्चितम्। तथा हि -

या दंपती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा।।
प्रति प्राशव्याँ इतः सम्यञ्चा बर्हिराशाते। न ता वाजेषु वायतः।।
न देवानामपि ह्नुतः सुमतिं न जुगुक्षतः। श्रवो बृहद् विवासतः।।
पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। उभा हिरण्यपेशसा।।

ऋ० ८/३१/५-८

अर्थात् यौ समानमनस्कौ यज्ञकारिणौ दंपती जायापती सोमाभिषवं कुरुतः, अभिषुतं सोमरसं दशापवित्रेण शोधयतः, गोक्षीरेण च योजयतः, भक्षणार्हान्, हविर्योग्यान् अन्नादीन् प्राप्नुतः परस्परं संगतौ यज्ञं विरचय्य तत्र हविः प्रयच्छतः, तयोः कृते अन्नधनादिकस्य कदापि न्यूनता न जायते। यौ दंपती देवानाम् इन्द्रादीनां हविर्भागस्य अपलापं न कुरुतः, तान् स्तुत्या वञ्चिताँश्च न विधत्तः तौ बृहद् अन्नं यशाश्च प्राप्नुतः। तौ पुत्रवन्तौ कुमारीवन्तौ च सन्तौ सम्पूर्णम् आयुरधिगच्छतः, उभावपि च हिरण्मयैराभरणादिभिर्युक्तौ जायेते।

सायणाचार्योऽप्याह- "अत्र यजने दंपत्योः स्तुतिः। .....या यौ दंपती यज्ञकारिणौ जायापती... तौ देवेभ्यो हविषां दातारौ दंपती .... सम्यञ्चा सम्यञ्चौ समीचीनौ संगतौ बर्हिः यज्ञम् आशाते आनशाते" इत्यादि। ऋग्वेदीये दशमे मण्डले पञ्चाशीतितमस्य विवाहसूक्तस्यान्तिमा ऋग् विद्यते -

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ।।

ऋ० १०/८५/४७

आश्वलायनगृह्यसूत्रविनियोगानुसारेण विवाहसंस्कारयज्ञे एतामृचं पठित्वां वधूवरौ परस्परस्य हृदयं स्पृशतः। सायणाचार्येणापि स एवार्थः समर्थितः।

दशममण्डलस्यैव ११४ तमे सूक्ते एका प्रहेलिका इत्थं निगदिता -

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्याँ सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।।

ऋ० १०!११४!३

अत्र चतुष्कपर्दा काचित् सुन्दरी युवतिर्वर्णिता यस्या उपरि द्वौ वृषणौ निषीदतः। आचार्यः सायणः प्रहेलिकामिमां द्विधा समाधत्ते, याज्ञिकप्रक्रियया, अध्यात्मप्रक्रियया च। तन्मते याज्ञिकप्रक्रियायां चतुष्कपर्दा युवतिर्वर्तते चतुष्कोणा यज्ञवेदिः, तस्यां वृषणा वृषणौ हविषां वर्षितारौ सुपर्णा सुपतनौ जायापती निषण्णौ भवतः। एवं पत्या सह जायाया अपि यज्ञाधिकारः सिद्धः।

ऋग्वेदानुसरणे तु नारी न केवलं यज्ञाधिकारिणी, प्रत्युत यज्ञे **ब्रह्मा** अपि भवितुमर्हति - 'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' (ऋ० ८/३३/१९)

सम्प्रति **यजुर्वेदीये कर्मकाण्डे** दृष्टिं निक्षिपामः। माध्यन्दिनवाजसनेयिशुक्लयजुर्वेदसंहिताया भाष्यम् आचार्येण उवटेन महीधरेण च कर्मकाण्डपरं कृतम्। महीधरेण प्रायशः सर्वत्र प्रमाणरूपेण कात्यायनश्रौतसूत्रमुद्धृतम्।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ।। य० २/३३

कात्यायनानुसारमेतां कण्डिकां पठित्वा पुत्रकामा पत्नी मध्यमं पिण्डं प्राश्नाति- "आधत्तेति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामेति (का०श्रौ०सू० ४/१/२२) इति।

चातुर्मास्ययज्ञे "प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण सजोषसः।। य० ३/४४ इति कण्डिकां प्रतिप्रस्थाता नाम ऋत्विक् पत्नीं वाचयति।

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा।।
य० ३/४५

एतन्मन्त्रस्य विषये उवट आह- "पत्नीवाचनो मन्त्रः। पत्नी दक्षिणाग्नौ करम्भपात्राणि जुहोति" इति। एष विनियोगोऽपि कात्यायनानुसारी महीधरेण कात्यायनसूत्रमुद्धृतमपि। तस्मिन्नेव प्रसङ्गे **"अक्रन् कर्म कर्मकृतः,** य० ३/४७" इति मन्त्रमपि श्रृत्विक् पत्नीं वाचयति। तथा च कात्यायनसूत्रम् **"अक्रन् कर्मेत्येनां वाचयति** (का० श्रौ०सू० ५/५/१३) इति।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः।।
य० ३/६०

इति मन्त्रं पतिकामा कुमारी पठति।

एकादशाध्यायेऽग्निचयनप्रसङ्गे **"युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः** (य० ११/५)" इति मन्त्रस्य व्याख्याने- "पत्नीयजमानौ 'वाम्' इति पदेनोच्येते। हे पत्नीयजमानौ, वां युवयोरर्थे नमोभिरन्नैः इदानीं हुतैर्घृतैः सहितं पूर्व्यं पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितं परिवृढम् अग्निचयनाख्यं कर्म अहं युजे युनज्मि संपादयामि" इति महीधरः।

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः। य० १५/५० इत्यस्मिन् मन्त्रे पत्न्यादिभिः सह यज्ञकरणस्य विधानं प्रतिपादितम्। तथा च महीधरः - "हे देवाः दीप्यमाना ऋत्विजः पत्नीभिः कलत्रैः सह, पुत्रैरुत पुत्रैरपि सह भ्रातृभिर्वा भ्रातृभिश्च हिरण्यैः सुवर्णादिद्रव्यैश्च सह तमग्निम् अनुगच्छेम वयमनुसरेम, सेवेमेत्यर्थः" इति।

अथर्ववेदोऽपि नारीणां यज्ञविधानं पुष्णाति। चतुर्दशे काण्डे विवाहसूक्तेऽसकृद् वध्वै अग्निहोत्रोपदेशः कृतः। तथा हि-

उपस्तृणीहि बल्वजम् अधिचर्मणि रोहिते। तत्रोपविश्य सुप्रज्ञा इममग्निं सपर्यतु।।
आरोह चर्मोपसीदाग्निम् एष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा।
सुमङ्गल्युपसीदेममग्निं सं पत्नी प्रतिभूषेह देवान्।। अ० १४/२/२३-२५

एवं भारतीयसंस्कृतेर्मूलभूते वैदिकसाहित्ये यदा नारीणां यज्ञाधिकारः सिध्यति, तदा तासां वेदमन्त्रपाठाधिकारः सुतरां सिद्धः, मन्त्रपाठं विना यज्ञस्यासंभवत्वात्। किञ्च, उपर्युक्तेषु प्रमाणेषु क्वचित्तु नारीद्वारा स्पष्टतो मन्त्रपाठस्यैव विधानं कृतम्।

अतः साम्प्रतिके काले ये जना नारीं वेदाध्ययनाद्, वेदमन्त्रपाठाद्, यज्ञाच्च बहिष्कर्तुं यतन्ते तेषामियं चेष्टा वेदविरूद्धत्वाद्, नारीगौरवविरूद्धत्वाच्च सततमुपेक्षणीया न्यायमत्राच्चाद् दण्डनीया च वर्वर्ति।

God and His two brothers
(परमात्मा के दो भ्राता)

By
Inder Dev Khosla, Advocate

Definition

The word brother means a male person born of the same parents, a relative, a kins man, an associate of the same rank professor, or occupation, a fellow deeply associated, one who resembles with another person having same manners and disposition. भ्राता= भाई, सहोदर, भैया, वन्धु व साथी, सम्बन्धी-सम्बोधनात्मक शब्द यथा भाई या भाई के समान

from the above definition it is abundently clear that two fellows of the same kind or of the same stock or closely relatred are also called as brothers in a brother sense on this anatogy we shall find what vedas say.

Three brother

अस्य वामस्य पलितस्य होतुः तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्रः।
तृतीयो भ्राता धृतपृष्ठो अस्त्यस्य अत्रीपश्यं विश्पति सप्तपुत्रम्।। *(Rig.1.164.1)*

This mantra also appears in Atharveda (9.9.1) and this fact confirms the importance of this subject. If we carefully study this mantra, we find that it supports the theory of (त्रैतवाद) holy trimity in a beautiful manner. It is like a puzzle which needs to be solved. Brahman grantha assists us in solving it and we discuss it as under :-

Eldest brother

Vamasya (अस्य वामस्य) It refers to great Lord (परमात्मा) of this universe, who is the master of all power & pelt is happiness incarnate. God has brought into being this universe (वाम means to vomit out) for the benefit and enjoyments of His subjects viz living beings (souls) (पलितस्य) Palitasya :- Not only that God created this world and left it over unconcerned but he also preserves it and provides to all & sundary according to their (कर्मा) deeds. The use of the word हेतु : Confirms this fact that He is (कर्म फल प्रदाता) Justice loving and gives award according to the (कर्मा) deeds done by individuals.

तस्य भ्राता मध्यमो अस्ति प्रश्नः God number two brother is soul which is in the middle between matter and God. Soul is aho situated some where in the middle of the body of living beings from where to carries out is functions and excercises control. The soul (जीव) being in the middle has a course either to go towards the eldest brother God for achieving salvation or to bend towards the younger brother (प्रकृति) nature to enjoy the wordly objects & they remain in bondage (circles of lives and deaths). The choise is with the soul. In this mantra the word (ç'u) Ashram is used for soul because it is more inclined towards प्रकृति the younger brother so as to enjoy material things. Matter (प्रकृति) is inanimate and can't, by itself enjoy anything, it is only the soul that enjoys while in contact with the body. God too does not enjoy because He needs nothing He is perfect in Himself. परमेश्वर प्रकायो धीरः प्रभूतः स्वयम् भू-रसेन तृप्तःतृतीयो भ्राता धृतपृष्ठो अस्य The third youngest brother is (प्रकृति) matter or nature from this third brother souls derive all wealth, food and other material benefits, Method being inert has no interest in enjoyment of any thing. Charita indicates as source of physical strength. Then there is mention of seven sons , of nature in this mantra. (सप्तपुत्र) Saputva. These seven sons are प्रकृतो महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्च तन्मात्रा) (Sankhya Darshan) Mahantatva, ego, (अहंकार), (शब्द) voice, (स्पर्श) touch, (रूप) beauty, (रस) taste and (गन्ध) smile. Through these seven sons the soul the soul in the body carries out in functions. There are seven pranas (प्राण) in the body they too can be called sons & they are the main source life.

Shri Shankaracharya interprets these three brothers as sun, middle region (air) and fire (youngest one). According to him seven sons are the seven coloured rays of the sun (VIBGYOR) violet, indigo, Blue, Green, Yellow, Orange & Red.
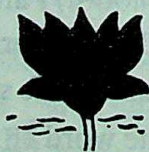
Thy friendship O Lord is everlasting. (Rg. 1/15/5)

Mirage Of a National Government

V.N. Gadgil

The fathers of our Constitution consciously and rightly adopted the British model of parliamentary democracy as best suited to the genius of India. During the last 50 years, this Westminster model has, by and large, worked fairly well in India.

Occasionally, the model breaks down, resulting in instability and turmoil. On such occasions, the usual response of many a sincere, honest, well-meaning and well-intentioned politician, academic and intellectual is either a demand for replacement of the parliamentary system by the presidential type of government or a plea for the formation of a national government.

The latest such plea was made by Speaker P.A. Sangma, who suggested we have a national government for the next 10 years.

The idea of a presidential form of government has been debated and discussed a number of times in the last 25 years. It is surprising that very little attempt has been made to examine the merits of the concept of a national government.

Since we have adopted the British model, it may be profitable to assess the British experience in this matter. This century has seen three coalitions in Britain which claimed to have a national character.

(a) The war-time coalition from May 1915 to November 1922.

(b) A national government which lasted from August 1931 to Sep tember 1932.

(c) The war-time coalition from May 1940 to May 1945.

The British Experience

On closer examination, it will be found that the first two could be called national governments only by stretching the meaning of the term. Only the third was a truly national government, created to win the Second World War, but it did not work very successfully and ended even before the war with Japan was over.

The national coalition of Liberals, Unionists and Labour, under Prime Minister H.H. Asquith was brought about in May 1915, ostensibly to win the First World War. It was the result of the desperate efforts of two party leaders, Bonar Law and Asquith, to maintain their credibility. It came about in very curious circumstances. Discontent in the Unionist rank and file was grow-

ing fast owing to shell shortage scandal and the resignation of Admiral Fisher after a violent quarrel with Winston Churchill. To forestall the discontent, Law had no alternative but to propose a coalition with Asquith.

It has been described as "the most precarious of shotgun marriages." It is said it was the most unpredictable of governments the product of intrigue and manoeuvre, with no agreed line of policy for the future. It cannot be categorized as a national government because its essential justification was that it existed to keep the "pacifists" of the Independent Labour Party and the Union of Democratic Control firmly at bay. The coalition was a poor advertisement for the concept of national governemnt despite the unifying pressures of the world war.

The coalition under Asquith did not have a smooth run. Home Minister Sir John Simon resigned on the issue of conscription. Many Liberals thought the government, although a national coalition, was in fact pursuing Unionist policies. The result was that the coalition gave way to another which was still narrowly based.

The Lloyd George coalition which ruled from December 1916 was a national government only in name. The conservatives dominated the war cabinet which had only one Liberal and one Labour member. Nearly all the leading figures of the Liberal party were opposed to it. It was a government of factions of parties with only the Conservatives giving total support. The Labour representative in the coalition - Arthur Henderson - resigned in August. 1917 after a qurrel with the prime minister over the question of attendance at an international socialist conference in Stockholm.

The Liberals were disenchanted, but there was very little they could do in view of the war. The Labour Party was officially part of the government, but its rank-and file movements amongst Welsh miners, the engineering and shipyard workers and pacifist bodies clearly showed that the coalition was not in any sense national.

The 1929 elections produced a hung parliament. A minority single-party government was formed with Ramsay Mac Donald as Prime minister. The government soon landed in trouble owing to Labour's reluctance to take strong measures to meet the economic crisis of 1930. The run of the sterling led banking opinion to demand more cuts in goverment was signed in the evening of 20 August 1931 when the Trade Union Congress made it clear that it would not accept any further cuts in expenditure on the unemployed.

Earlier, Lloyd George and the editor of The Observer had started a campaign for a national government. Mac Donald has also expressed a fleeting sympathy for the idea. But when the crisis came, he hesitated till the last minute. He knew that the Labour Party would react to the idea of a national government very sharply as betrayal of the movement. But he thought the surest way to avoid a forced devaluation was to form a national government. It is said the King played a controversial role and brought about a national government by persuading Prime Minister Mac Donald.

A national government created in such an atmosphere was bound to fail. Even the Liberal ministers resigned. The end came in September 1932 with hardly any mourners. In the Labour Party, the event is still regarded as a banker's coup, a Conservative conspiracy, and the Great Betrayal. This experiment of national government which lasted only for 13 months, instead of strengthening the national government led to a split in the Labour Party and marginalization of the Liberal Party.

The Churchill Government

The national government under Churchill from May 1940 was a truly national government as it included all political parties. Its supreme aim was to win the war. It looked as is the very existance of the nation was in danger. Yet things went badly for the government. Formal approval of the decision of join the government was not given unanimously by the annual conference of the Labour Party. The votes were 2,45,000 in favour and 1,70,000 against.

In the Conservative Party also there was no unanimity. Chamnerlain loyalists did not show much enthusiasm for the national government. When Churchill came to the House of Commons to deliver the famous blood, toil, tears and sweat speech, the Conservatives rose and cheered Chamberlain and not Churchill ! Cheers for Churchill came only from the Labour benches.

The war Cabinet was divided over many issues : negotiated peace with Hitler, opening of the second front, direction and conduct of war, the role of the defence supply committee, rationing of coal, the Beveridge report, equal pay for women teachers and many others. Churchill never developed with Atlee the intimacy that Lloyd George had with Bonar Law. Churchill ran the defence ministry arbitrarily, without giving any role to the three ministers incharge of the three services. He did not have a high opinion of any of the Labour ministers except Bevin. He rarely consulted the Conservative Party. The only two persons whom he trusted were Lord Beaverbrook and the scientist Lindermann.

A censure motion was moved protesting against the army action against Greek freedom fighters. Although the motion was lost, 24 Labour members

voted against the government and many asbtained. Twenty-five Conservatives voted against the motion to approve the Yalta Agreement. Shinwell, Winterton and Nye Bevan frequently opposed the government and attacked Churchill. Bevan described Churchil as "a bloated bladder of blasted lies" and observed in the House of Commons that" he wins debate after debate and loses battle after battle."

The war with Germany ended on 8 May 1945. Some Conservative leaders proposed that the coalition should continue at least till the war with Japan was over. However, the annual conference of the Labour Party which met in May 1945, rejected the proposal.

National Government Unnatural Government

All this goes to show that a national government is not a natural government. It is created by abnormal circumstances such as war or economic crisis. Its disintegration starts the minute the pressure of circumstances eases.

There have been many occasions in England when a national government was proposed by eminent persons, but the logic of the Westminster model rejects such attempts. For example, the 1974 elections did not produce a majority for any party. The electoral result aroused once again interest in the idea of a government of national unity bringing in the best talent without regard to party yet, the proposal was not purused by any party.

The truth is that, like the British system of judicial trial which we had adopted, the British model of parliamentary government is essentially adversarial. There is no room in it for consensual politics. On all occassions in this century, when general elections failed to produce a single-pary majority in Britain, the outcome was a single-party minority government (as in 1923, 1929 and 1974), never a coailtion or a national government.

A national government cannot work successfully merely because no party has secured a majority. A national government by its very definition will have to comprise all parties including the BJP. Image how it will work. Let us say that the very first item in the very first cabinet meeting of such a national government is the common civil code, or Article 370, or Ram Janmabhoomi. Will the cabinet ever be able to decide on any one of these items ? Let us, therefore realize that the concept of a national government is a mirage which we better give up.

Monthly Research Magazine

— अंक

डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

श्रद्धानन्द - अंक

सम्पादक

डॉ0 भारतभूषण विद्यालंकार

उपसम्पादक

डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द

जन्म-1856 बलिदान-23 दिसम्बर 1926
(फा.कृ. त्रयोदशी संवत्-1913)

येषां जीवितमेव सर्वमभवल्लोकोपकारेऽर्पितं,
दातुं वैदिकशिक्षणं गुरुकुलं, संस्थापितं यैः शुभम।
अस्पृश्यत्वनिवारणार्थमनिशं, यत्नः कृतो यैः सदा,
श्रद्धानन्दमहोदयान् गुरुवरान् वन्देऽतिभक्तया युतः।।

गुरुकुल-पत्रिका
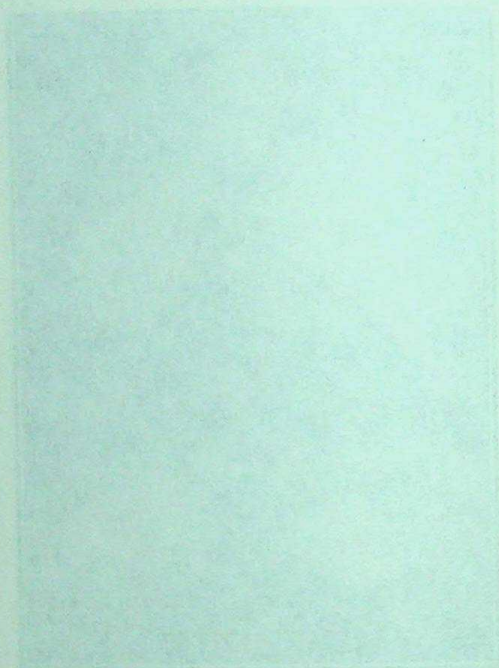
शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

श्रद्धानन्द अंक

सम्पादक

डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार

वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.

प्रोफेसर - वेद विभाग

एवं

निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन संस्थान

उपसम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'

वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार — 249404

अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर	वर्ष	आश्विन-पौष (कृष्ण)
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

प्रकाशक	:	प्रो० श्याम नारायण सिंह कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार - २४९४०४
मूल्य	:	१०० रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कांगडी फार्मेसी, कनखल फोन 415975

विषय-सूचि

श्रुति-सुधा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।
(ऋग्वेद : 10.151.1)

(श्रद्धया अग्निः समिध्यते) श्रद्धा द्वारा मन की अग्नि प्रदीप्त होती है। (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा से ही जीवन यज्ञ में आहुति दी जाती है। (श्रद्धां भगस्य मूर्धनि) श्रद्धा से ही हम सौभाग्य शिखर पर पहुंचते हैं। यह सत्य वेदवाणी द्वारा अनुमोदित और प्रमाणित है- इसे जानो।

The sacred fire is kindled with sincere faith, the oblation is offered with the same intensity of faith. Likewise the soul is infused with intense devotion and actions are dedicated at the feet of God with the spirit of devotion. The whole life attains glory through devoted deeds. This fact is declared by divine scriptures.

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।
(ऋक्: 3.62.10, यजु0: 22.9, साम: 6.3.1)

हम(देवस्य सवितुः) अक्षय ज्योति के स्रोत प्रभु के (तत् वरेण्यं भर्गः) उस दिव्य प्रकाश को (धीमहि) ध्यान द्वारा धारण करें। (यः नः धियः प्रचोदयात्) जो प्रकाश हमारी धारणाओं को दिव्य बनाये, ज्योतिष्मान् बनाये।

O Supreme Lord !
Thou art ever existent,
Ever conscious, blissful.
We meditate on Thy most sublime glory.
Mayest Thou guide and inspire our intellect
On the path of highest divinity !
May we be able to discriminate
Between truth and falsehood.

-(वेद सौरभ, सत्यकाम विद्यालंकार, पृ० ७-८ से उद्धृत)

सम्पादकीयम्

भारत की राजधानी दिल्ली के चाँदनी चौक में स्थित, एक विशालकाय भव्य मूर्ति को देखकर सहसा ही उस लौह पुरुष की याद आ जाती है, जिसने गोरों की संगीनों के आगे अपना वक्षस्थल खोलकर कहा था- "यदि हिम्मत हो तो चला दो गोली, सन्यासी का सीना खुला है।" कैसा अनोखा व्यक्तित्व था वह न मरने की चिन्ता और न दैन्य से जीने की चाह। आकुलता से निहारती हुई जामा मस्जिद आज कह रही है कि संसार के इतिहास में केवल यह अनोखा व्यक्तित्व ही था जिसने किसी मस्जिद में जाकर पवित्र वेद मंत्रों का उच्चारण किया। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु सामाजिक क्षेत्र में भी स्वामी श्रद्धानंद ने वह अनोखा कार्य किया, जिसके आगे आज सारा विश्व नतमस्तक है। प्राचीन आर्ष शिक्षा पद्धति के उद्धारक आचार्य दयानन्द के बताये मार्ग पर चलने वाले श्रद्धानंद ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने गुरुकुल पद्धति के शिक्षणालय की "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत" - के निर्देशानुसार, हिमालय की कन्दराओं में स्थापना की। यही नहीं, इस शिक्षणालय में सबसे पहले अपने ही बच्चों को प्रविष्ट किया।

स्वामी श्रद्धानंद इस बात को मानते थे कि संस्कृत का अध्ययनाध्यापन देश भक्ति का कार्य है। उनकी मान्यता था कि भारत की शिक्षा पद्धति सच्चे अर्थों में तभी राष्ट्रीय हो सकती है जब यहाँ के विद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन हो। अंग्रेजी सरकार ने भारत में जिस शिक्षा प्रणाली को प्रचलित किया है वह देश भक्ति का विनाश कर रही है और उन्हें "मानसिक दास" बना रही है। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा की एक ऐसी योजना तैयार की जाये, जो सच्चे अर्थों में "राष्ट्रीय" हो। स्वामी जी मानते थे कि विशाल संस्कृत साहित्य का आरम्भ बिन्दु वेद ही है अतएव गुरुकुल के विद्यार्थियों को वेदज्ञ बनाने के लिए वे पौराणिक विद्वानों को भी गुरुकुल में अध्यापनादि के लिए बुलाते थे।

यह स्वामी श्रद्धानंद का ही असाधारण व्यक्तित्व था जो कि गुरुकुल जैसी अतुलनीय संस्था के निर्माणानन्तर भी, उन्हें न केवल विद्यार्थियों से ही अपितु अपने आर्य समाजी भाईयों से भी इस शिक्षण संस्था के लिए विरोध का सामना करना पड़ा। ८ श्रावण, संवत् १६६५ (सन् १६०८) के "सद्धर्म प्रचारक" के अंक में वे स्वयं लिखते हैं- "ब्रह्मचर्याश्रम के उद्धार के लिए जिस दिन गुरुकुल की पाठविधि तथा उसके प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम हाथ में लेकर सेवकों ने काम करना प्रारम्भ किया था, उसी दिन

गुरुकुल पर वज्र प्रहार प्रारम्भ हो गये थे। अपनों और बेगानों, आर्यों और अनार्यों सभी प्रकार के पुरुषों ने उसको जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किये। किन्तु जब गंगा तट पर पहुँचकर ब्रह्मचारियों के समूह ने इस जंगल को वेद मंत्रों की ध्वनि से गुंजाना शुरु किया तब से तो आक्रमणों की कुछ गिनती ही नहीं रही"।

महात्मा मुंशीराम के अथक परिश्रम से जिस गुरुकुल ने थोड़े ही दिनों में दिन-दूनी और रात चौगुनी उन्नति और ख्याति प्राप्त की, उस गुरुकुल को विदेशी भी देखने के लिए आने लगे। गुरुकुल के इन पाश्चात्य दर्शकों में श्री सी०एफ० एण्ड्रूज सबसे प्रमुख थे। सन् १९१३ ई० में, गुरुकुल को देखने पर मार्डन रिव्यू (कलकत्ता) में उन्होंने एक लेख में लिखा था- "जिस भारत को मैं जानता था जिस भारत से मैं प्रेम करता था जो भारत मेरे स्वप्नों में था वह मुझे यहाँ देखने को मिला। मैंने अपने सम्मुख उस मातृभूमि को देखा जो न शोकातुर थी और न श्रान्त न क्लान्त, जिसमें अनन्त अनश्वर यौवन था जो बसन्त के समान ताजा व नवयौवना थी। यहाँ गुरुकुल में यह नवभारत विद्यमान था।"

स्वयं महात्मा गाँधी ने एक बार बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय के उत्सव से लौटने पर, मदनमोहनमालवीय को पत्र में लिखा था- "अगर स्वामी श्रद्धानंद हरिद्वार में गंगा के पावन तट पर बैठकर छात्रों को भारतीय सभ्यता का पानी पिला सकते हैं तो, आप वाराणसी के अन्दर उसी गंगा के किनारे बैठकर व्यर्थ में ही टेम्स नदी का जल क्यों पिला रहे हो ?"

स्वामी श्रद्धानंद ने हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। आत्मकथा-लेखकों में स्वामी जी का ही नाम सबसे प्रथम लिया जाता है। "कल्याण मार्ग का पथिक" स्वामी जी की वह आत्मकथा है जिसमें उन्होंने निःसंकोच अपना वृतान्त लिखा है- चाहे वह उनका उज्ज्वल पक्ष हो या अनुज्ज्वल। यही महापुरुषों की पहचान है।

महात्मा मुंशीराम देश के लिए ही जिये और उसके खातिर ही मरे। उनका बलिदान आज हमको प्रेरणा दे रहा है कि- हे भारत के कर्णधारों ! इस चमन को तुम बर्बाद न होने देना यह पौधा मुरझाये नहीं यह फल और फूलों से सदा आबाद रहे यदि इसके ऊपर कभी विपत्ति के बादल मँडराये तो उसको सहर्ष, चाहे प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े, हटा देना। उस महान् मनीषी, भारत के नवनिर्माता को डॉ० सत्यव्रत 'अजेय' के निम्न शब्दों में श्रद्धांजलि देता हूँ-

"इस मुल्क के चमन को, है चश्मेतर से सींचा।
इल्मोहुनर से सींचा, कभी मालोजर से सींचा।।
"श्रद्धा" बयाँ करें क्या, कुर्बानियाँ तुम्हारी।
जब वक्त आ पड़ा तो, खूनेजिगर से सींचा।।

– 'दिनेशचन्द्र शास्त्री'

मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न

-*स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती*

स्वप्नावस्था में ही जागृत की सारी तैयारी होती है। इसी अवस्था में योगी परमात्मा की सृष्टि का सौन्दर्य देखना आरम्भ करता है और उसी दशा में साधारण पुरुष का मन कर्म-काण्ड की तैयारी करता है।

गुरुकुल के लिये जिस दिन धन एकत्र करने के लिये मैं घर से निकला था (१२ भादों १९५६ वि. तद्नुसार २६ अगस्त १८९९) उसी दिन रेलगाड़ी में बैठते ही कुछ विशेष कल्पनाएँ, गुरुकुल सम्बन्धी कार्यक्रम की मैंने कर ली थीं। फिर जब कार्तिक सम्वत् १९५८ में मुझे आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से आज्ञा मिली कि शीघ्र कांगड़ी ग्राम में कुछ अस्थिर मकान बनवा गंगातट पर गुरुकुल खोल दिया जाये, तब भी २२ फाल्गुन १९५८ की शाम तक गुरुकुल भूमि में पहुँचने से पहिले मेरे मन में बहुत से संकल्प उठे थे। उस समय से सब संकल्प स्वप्नवत् ही थे। उनमें से कुछ तो जागृत में परिणत हो आशा से बढ़कर पूरे हुये कुछ असिद्ध रहकर अब भी स्वप्नावस्था में ही पड़े हुये हैं। स्वप्नावस्था में पड़े हुये असिद्ध संकल्पों का वर्णन इसलिये कर देता हूँ कि शायद कोई उन्हें सिद्ध करने वाला कर्मवीर निकल आवे और अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल अवस्थाओं के कारण जो मैं न कर सकता, उसमें वह कृतकार्य हो जावे।

प्रथम आर्थिक दशा सम्बन्धी कुछ स्वप्न थे जो पूरे न हो सके। आरम्भ में मेरा विचार यह था कि ५० लाख रुपयों का स्थिर कोष जमा करके उसके सूद से ही गुरुकुल का काम चलाया जावे। परन्तु ब्रह्मचारियों को कांगड़ी में ले जाते ही ऐसा चौमुखी युद्ध करना पड़ा कि धन एकत्र करने के लिये बाहर जाना मेरे लिये कठिन हो गया और जिनका इस संस्था को चलाना कर्तव्य था उनमें बहुत से उसको तोड़ने के लिये ही कमर बाँध बैठे। तब धन कौन लाता ? फिर शनैः-शनैः यह भाव स्थिर हुआ कि रुपयों के स्थिर कोष के स्थान में आमदनी का स्थिर यत्न किया जाये, जिससे यह शिक्षणालय आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा हो सके। इसके लिये मैंने नीचे लिखे साधन सोचे थे-

(क) एक वर्कशॉप (कारखाना) खोला जाये जिसमें एंजन लगा कर कई प्रकार के व्यवसाय का काम हो। कांगड़ी ग्राम और उसके आस-पास के जंगल में खैर के वृक्ष बहुत हैं। एक कारखाना कत्था बनाने का खोला जाये। अपने जंगल में ढाक के वृक्ष

बहुत हैं उनसे लाख पैदा की जाये, और उन्हीं के फूलों (टेसू) से रंग बनाया जावे। सेंभल की रूई इकट्ठी करके बेची जाये। पास के जंगल से शीशम और तुनु की लकड़ी सस्ती मिल सकती है। उन लकड़ियों से मेज कुर्सी आदि सामान बनवा कर बेचा जाये। इनके अतिरिक्त और भी व्यवसाय कार्य जारी हो सकते थे। स्वामिनी सभा के अधिकारियों से जब बातचीत की तो उन्होंने विरोध ही किया। शिवालिक की पड़ोसी पहाड़ियों पर औषधियाँ बहुत होती हैं और बिना मूल्य मिल सकती हैं। वैद्य के आने पर सभा से आज्ञा चाही गई कि चरक, सुश्रुत में दिये नुस्खों के अनुसार औषधियाँ बनाकर वैद्यों के हाथ बेचने की आज्ञा दीजिये। हुकुम हुआ कि ना मंजूर।

अब सभा ने ऐसी बेरुखी दिखाई तो मैंने एक धनाढ्य पुरुष को व्यवसाय के कामों के लिये धन देने को तैयार कर लिया। धामपुर के रईस रायबहादुर चौधरी रणजीत सिंह जी गुरुकुल देखने आये। कारखाने की बातचीत आते ही उन्होंने मुझसे पूछा कि पूरा कारखाना बनाने के लिये क्या व्यय होगा। मैंने एक लाख का अनुमान बतलाया। उक्त महोदय ने प्रतिज्ञा की कि ५० हजार रुपये वह देंगे, शेष धन इकट्ठा करने का मैं यत्न करूँ। परन्तु जहाँ घर में कलह हो और उल्टी माला फेरी जाती हो वहाँ बाहर से क्या सहायता मिल सकती है। श्रीमान् चौधरी रणजीत सिंह जी गुरुकुल से घर लौटकर दस पन्द्रह दिनों के अन्दर ही अचानक मृत्यु के ग्रास हुये। यह विचार दिल का दिल में ही रह गया। यदि वह स्वप्न जागृत में परिवर्तित होता तो जहाँ एक ओर गुरुकुल चलाने के लिये स्थिर आय होती, वहाँ ब्रह्मचारियों के आर्थिक भविष्य का प्रश्न भी शायद किसी हद तक हल हो जाता।

(ख) कांगड़ी ग्राम की भूमि १२०० पक्के बीघों के लगभग है। उनमें से केवल अनुमानतः १७५ बीघे में खेती होती है। ३२५ बीघे के लगभग में नाला आदि हैं। १०० बीघे भूमि गुरुकुल की इमारतों के नीचे होगी। शेष ६०० बीघे में से ४०० बीघे को नौतोड़ किया जा सकता है। मैंने कृषि विभाग इसीलिये खोला था कि उस विभाग के ब्रह्मचारी तो कृषि का सारा काम सीखेंगे परन्तु जो काम (नलाई, कटाई, जुताई इत्यादि) केवल मजदूरी सम्बन्धी होंगे वह गुरुकुल के अन्य ब्रह्मचारियों से, उनके खाली समय में, कराया जायेगा। पैदावार बढ़ाने के लिये ग्राम में एक कूप लगवाया था। विचार था कि दानियों को प्रेरित करके दस बारह कूप लगवा कर खेती की पैदावार बढ़ाई जावे। मेरा अनुमान था कि यदि ४०० बीघे और नौतोड़ हो जाये तो वर्ष भर में से नौ महीनों के लिये अनाज यहीं से निकल आया करेगा। ब्रह्मचारियों में जोश भी पैदा कर दिया गया

था। कृषि विभाग से विभिन्न ब्रह्मचारी भी आश्रम की वाटिकादि में काम करने लग गये थे। परन्तु प्रबन्धकर्ता सभा के अधिकारियों की असहानुभूति के कारण यह काम भी न चल सका।

(ग) एक बार ब्रह्मचारियों में यह उत्साह हुआ कि इमारत का काम वे स्वयं (मिस्तरी की सहायता से) कर लिया करें। एक कमरे की तैयारी में बहुत कुछ काम उन्होंने किया भी, परन्तु उनके मार्ग में इतने विघ्न डाले गये और इतना निरुत्साहित किया गया कि उनका जोश ठण्डा पड़ गया और फिर उन्हें इस काम के लिये किसी ने उत्साहित नहीं किया।

(घ) कांगड़ी ग्राम के जंगल से एक वर्ष ईंटों के भट्टे के लिये लकड़ियाँ कटवाई गई। उस वर्ष जंगल की आमदनी तीन हजार से बढ़ गई। मैंने बजट में वह रकम ग्राम की उन्नति के लिये स्वीकार करवाई। साथ ही उपाध्यायों तथा अध्यापकों के लिये निवास स्थान उसी भूमि में बनवाने का विचार किया, जहाँ नया आदर्श ग्राम बनाया जाना था। मैं कई कारणों से गुरुकुल से अलग जा बैठा। मेरे उत्तराधिकारियों ने जहाँ उपाध्याय गृह गुरुकुल के समीप बना लिये, वहाँ ग्राम के लिये स्वीकार की हुई रकम बिना व्यय हुई ही, वर्ष के अन्त में, लैप्स हो गई और उसकी पुनः स्वीकृति न मिली। यदि कृषिकारों के जीवन का सुधार हो जाता तो पैदावार बहुत बढ़ जाती और गुरुकुल का यश भी अधिक विस्तृत होता। एक बार फिर विचार उठा कि स्थिर धन-राशि को जमीन पर लगाना चाहिये। पचास हजार में एक ग्राम बिकता था। उनका नकदी लगान इतना वसूल होता था कि ४० पैसे सैकड़ा मासिक का सूद फैल जाता। नगर का पानी लगता था। यदि उन्नति की जाती तो पैदावार और बढ़ सकती थी। कुछ एक आर्य पुरुषों का पालन भी हो सकता था। परन्तु इस विषय को सभा में पेश करने से ही अधिकारियों ने इंकार कर दिया। गुरुकुल को तो ५० हजार में ही ग्राम मिलता था। पीछे उसका मूल्य ६० हजार से भी बढ़ गया।

इन सब प्रस्तावों का उत्तर अधिकारियों की ओर से यही था कि यदि इन कामों की आज्ञा लाहौर से दे दी गई तो साधारण सभासद् यह समझेंगे कि सारी शक्ति कांगड़ी को जा रही है मुझे कहा जाता था कि मेरी बदनामी इस प्रकार की जायेगी कि जो थोड़ी बहुत सेवा धन या तन से मैंने की है उसके बदले मैं अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता हूँ। अब यतः ऐसा आक्षेप नहीं हो सकता इसलिये वर्तमान कार्यकर्त्ताओं को आय बढ़ाने के

लिये उपरोक्त साधनों को प्रयोग में लाने का यत्न करना चाहिये, यदि वे उसे उचित समझें।

दूसरे ब्रह्मचारियों के शारीरिक स्वास्थ्य तथा उन्नति सम्बन्धी कुछ विचार थे जो स्वप्नावस्था में ही विलीन हो गये। गतकर, फरी, घुड़सवारी और अन्य देशी खेलों का शिक्षक अर्जुन सिंह बहुत उत्तम मिला था। कई कारणों से वह अलग किया गया। कई ड्रिल मास्टर आये और चले गये। अन्त में चैत्र, १६७३ को सरदार फतेहसिंह को रखा गया जो दिल से काम कर रहे हैं। खेलों में तो ब्रह्मचारी अनुराग से सम्मिलित होते हैं और उससे उनकी शारीरिक दशा औरों की अपेक्षा बहुत उत्तम रहती है, परन्तु प्रातःकाल का, नसों को संगठित करने तथा शरीर को दृढ़ करने वाला, व्यायाम ठीक प्रकार नहीं होता। मुझे आशा थी कि शनैः-शनैः गुरुकुल के स्नातक ही अध्यापन के काम में लग जायेंगे और व्यायाम के स्वयं अभ्यासी ब्रह्मचारियों के प्रातःकाल के व्यायाम को ठीक कर देंगे। परन्तु न तो गुरुकुल और उसकी शाखाओं में पढ़ाने के लिये अधिकतर गुरुकुल के स्नातक ही मिले और न ही अन्य सब अध्यापक ऐसे आये जो स्वयं भी व्यायाम के प्रेमी हों।

(क) जिस प्रकार पहिले कुछ वर्षों के अध्यापक स्वयं खूब व्यायाम करते थे और अब भी कोई-कोई ऐसा करते हैं, इसी प्रकार इस समय की सर्वशाखाओं तथा मुख्य गुरुकुल के अध्यापक और उपाध्याय स्वयं व्यायाम को अत्यन्त आवश्यक समझ कर ब्रह्मचारियों के साथ व्यायाम किया करें, तब मेरा स्वप्न फलीभूत होगा।

(ख) शारीरिक शिक्षा तथा शरीर रक्षा और उन्नति के सम्बन्ध में बड़ा विचार मैं यह लेकर गुरुकुल में आया था कि रात की पढ़ाई विद्यार्थियों को न करनी पड़े। परमेश्वर ने दिन, शरीर और इन्द्रियों से काम लेने को बनाया है और रात इन सबको आराम देने के लिये। यदि अध्यापक ऐसे मिलें जो दिन की पढ़ाई के समय ही विद्यार्थी को सब कुछ उपस्थित करा दें तो रात में पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती और दिन के अन्य समयों में मानसिक परिश्रम का कोई प्रयोजन नहीं रहता। तब आँखों और दिमाग को कमजोरी की शिकायत भी नहीं हो सकती। आरम्भ में दो वर्ष तक तो कुछ यह क्रम चला, शायद इसलिये कि उस समय सर्व नियत विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध न था, परन्तु आगे चलकर जब बड़े-बड़े अध्यापक और प्रोफेसर जमा हो गये तो जितना परिश्रम मैं इस आदर्श को ले जाने में करता उतनी ही रात को पढ़ाई अधिक हो जाती।

शायद इसमें मेरी ही भूल हो, परन्तु यदि गुरुकुल के संचालकों को मेरे प्रस्ताव में कुछ सार दिखाई दे तो आशा है कि वे इस ओर फिर ध्यान देंगे।

तीसरी कुछ कल्पनायें मानसिक शिक्षा सम्बन्धी थीं। उनमें से बड़ी कमी उचित पाठ्यपुस्तकों की है। आज कल के सभ्यताभिमानी देशों की युनिवर्सिटियों के पास अपना प्रेस होना अत्यन्तावश्यक समझा जाता है। गुरुकुल की शिक्षाप्रणाली (इस युग के लिये) नई, उसका पाठ्यक्रम नया, उसकी उमंगें नई फिर पुस्तकों का संशोधन तथा निर्माण इस शिक्षणालय का एक मुख्य अंग होना चाहिये था। यही सोचकर मैंने गुरुकुल के अर्पण सद्धर्म-प्रचारक प्रेस का सारा सामान कर दिया था। इसी आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर गुरुकुल कोष से सहस्रों रुपये व्यय करके प्रिन्टिंग मशीन, ईन्जन तथा टाइप का विस्तृत सामान भी मंगाया था। आधुनिक संस्कृत साहित्य की पाठ्य-पुस्तकों में से अश्लील तथा अनुचित भाग निकाल कर पुस्तकें तैयार की गईं, वैदिक मैगजीन आदि की सारी अपनी छपाई गुरुकुल में होने लगी; गुरुकुल का यन्त्रालय इन प्रान्तों में केवल इण्डियन प्रेस, प्रयाग, से दूसरे दर्जे पर पहुँच गया था, पर अकस्मात् प्रेस-भवन में आग लग गई और दस बारह हजार का सामान जल कर राख हो गया। प्रेस के जलने के साथ पाठ्यपुस्तकें छपवाने का प्रश्न भी फिर खटाई में पड़ गया। फिर प्रेस दिल्ली में गया, उसका बड़ा भाग ६५०० रूपये में बेचा गया, और कुछ हैन्डप्रेस और कटिंग मशीन आदि बचाकर फिर से गुरुकुल प्रेस की बुनियाद पड़ी। उसके पश्चात् दो बार मैंने सभा से कुछ स्वीकृति प्रेस को बढ़ाने के लिये माँगी, परन्तु मुख्य अधिकारियों के कटाक्ष पर कि मैंने सहस्रों रुपये प्रेस में बरबाद करा दिये हैं, मैं अपने प्रस्ताव पर जोर नहीं देता रहा।

प्रेस का कार्य बढ़ाने से बहुत से अन्य लाभ भी हैं, इसलिये जब वर्तमान मुख्याधिष्ठाता जी की कार्यकुशलता तथा धन रक्षा की योग्यता पर पूरा भरोसा है तो आशा है कि सभा उनको आठ हजार रुपया व्यय करके प्रेस को बढ़ाने की आज्ञा देगी।

गुरुकुल विश्वविद्यालय और उसकी शाखाओं के लिये उत्तम साहित्य मुद्रित करना तो गुरुकुल यन्त्रालय को विस्तृत करने का फल होगा ही किन्तु उसके साथ ही उससे स्थिर आय भी खासी हो जायेगी।

(ख) गुरुकुल के स्नातकों के लिये आजीविका का प्रबन्ध करने के विचार से ही नहीं, प्रत्युत उनको जाति और राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक फलदायक बनाने के लिये,

गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षाप्रणाली में ही आयुर्वेद, कृषि और व्यापार शिक्षा का ध्यान रखा गया था। कब से मैं इन विषयों के लिये बल देता रहा हूँ और किस प्रकार की रुकावटें उस प्रयत्न के मार्ग में खड़ी होती रही हैं - इस कहानी से यहाँ कुछ लाभ न होगा। मैंने कृषि शिक्षा का कार्य आरम्भ भी किया परन्तु कई कारणों से उसमें अब तक वह कृतकार्यता प्राप्त न हुई जो सहज में ही हो सकती थी। मेरे सामने तो कृषि विभाग का जीवन ही सन्दिग्ध था, परन्तु अब फिर कृषि विभाग को योग्य उपाध्याय मिल गये हैं। यदि इस विभाग को तोड़ने का प्रयत्न न हुआ तो जहाँ ब्रह्मचारियों को कार्यशील बनाने में सहायता मिलेगी, वहाँ कुछ वर्षों के पीछे इससे आय भी अच्छी होने लग जायेगी।

फिर आयुर्वेद के लिये भी कुछ वर्षों से मैंने प्रस्ताव कर रखा था। जिस वर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कविराज योगेन्द्रनाथ सेन एम.ए. आये थे, उसी वर्ष बहुत से धन की भी, आयुर्वेद विभाग खोलने के लिये, प्रतिज्ञायें हुई थीं कुछ धन वसूल भी हुआ था, और योग्य वैद्य भी मंगा लिये गये थे। परन्तु शासक सभा के अधिकारियों ने उस विभाग को खुलवाना उचित न समझा। मेरा निश्चय है कि यदि आयुर्वेद विभाग के साथ ही, एक योग्य डाक्टर रख कर अनाटमी, सर्जरी आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया जाता तो शायद इस समय तक गुरुकुल के स्कूल ऑफ मेडिसिन को गवर्नमेन्ट का चिकित्सा विभाग प्रमाणित भी कर देता। अब बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आयुर्वेद विभाग को खोलने का प्रस्ताव गुरुकुल की शासक सभा में स्वीकार कर लिया है और यदि इस समय कोई योग्य डाक्टर भी अपनी सेवा गुरुकुल को अर्पण कर दे तो आशा है कि जहाँ गुरुकुल के स्नातक कलकत्ता, मद्रास आदि भटकते फिरने से बच जायेंगे वहां बाहर के विद्यार्थी भी इस विभाग से पूरा लाभ उठा सकेंगे।

यह भी सुनने में आया है कि व्यापार तथा महाजनी की शिक्षा के लिये भी पाठविधि तैयार हो रही है। परमेश्वर शासक सभा को बल प्रदान करें जिससे अधिकारीगण इन कार्यों के चलाने में आलस्य न कर सकें।

आत्मिक शिक्षा सम्बन्धी जो दिव्य स्वप्न देखकर मैं गुरुकुल में गया था, उसका निरन्तर १६ वर्षों तक काम करते हुये, स्मरण नहीं आता था। उनके संस्कार तो प्रबन्ध के द्वन्द युद्ध से मुक्त होने पर ही पुनः जागे हैं। गुरुकुल भूमि में पग धरा था यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके कि सात वर्षों तक वेदांगों में परिश्रम कर तथा आत्मिक

साधनों द्वारा बल प्राप्त करके ऋषि दयानन्द की बतलाई प्रणाली पर वेदाध्ययन में ब्रह्मचारियों की स्वयं सहायता करूँगा और तब आचार्य कहलाने का अधिकारी बनूँगा। गया था अभ्यासी बनने और आत्मिक शक्तियाँ सम्पादन करने, परन्तु गुरुकुल भूमि में प्रवेश करते ही घोर संग्राम में फँसना पड़ा। जहाँ प्रकृति प्रत्येक प्रकार से अनुकूल थी, जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल हिमालय के पवित्र चरणों में जाह्नवी के किनारे डेरा डालकर आशा थी कि ब्रह्मचर्याश्रम के बड़े बोझ को उठाने के लिये बल मिलेगा, वहां मानवी हृदयों की उठाई अशान्ति ने पूर्व के साधनों से प्राप्त बल को भी शिथिल करने के लिये आक्रमण कर दिये। इस विषय में मनुष्यों के प्रति, वाणी या लेखनी द्वारा, कुछ बतलाया नहीं जा सका। जो कल्पनाओं का मनोहर तथा शान्तिप्रद उद्यान हृदय भूमि पर बनाया था वह अब स्मरण में आ रहा है। आत्मिक अवस्था को उच्चासन पर ले जाने और वैदिक ज्ञान को क्रियात्मक बनाने का अवसर, परमेश्वर की कृपा से, अब मिलेगा और इस जन्म की तैयारी आगामी जन्म में अवश्य काम आवेगी। इस आशा पर ही मैं काम कर रहा हूँ। **परन्तु अपनी मृत्यु के पहिले यदि एक बार यह दृश्य देख लूँ कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य पद पर एक ऐसे विद्वान् स्थित हैं जो वेद ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को आचरणों में डालते हुये ब्रह्मचारियों को मनुष्य के परम पुरुषार्थ की ओर ले जा रहे हैं, तो मैं बड़े सन्तोष से आने वाले जन्म की तैयारी कर सकूँगा।**

ब्रह्मचारियों की आत्माओं पर निःस्वार्थ भाव को भलि प्रकार अंकित करने तथा उन्हें धर्म और जाति सेवा के लिये तैयार करने का बड़ा भारी साधन यह समझा गया था कि उनके संरक्षकों पर उनकी पढ़ाई एवं उनके पालन-पोषण का कुछ भी बोझ न पड़े। गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षा-विधि की तैयारी के समय से ही मैं इस पर बल देता रहा और इसीलिये नियम धारा ६ के नीचे नोट दिया गया था- 'जब कुछ समय में पर्याप्त धन एकत्रित हो जायेगा तो समस्त ब्रह्मचारियों का शिक्षा-दान तथा उनका पालन पोषण बिना किसी व्यय लिये किया जायेगा।' मैंने बहुत बार हाथ-पाँव मारे कि पर्याप्त धन (५० लाख रूपये) जमा हो जावे, परन्तु उसके लिये परिश्रम करने का मुझे समय और अवसर ही न मिला। फिर जब संवत् १९६७ में कई कारणों से मैं मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद से त्याग-पत्र देकर अलग हुआ तो कुछ सज्जन मित्रों ने मेरी हार्दिक इच्छा को जानकर सर्वथा शुल्क मोचन पर बल दिया और उनका प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया। फिर जब मुझे पुनः गुरुकुल की सेवा के लिये लौट आने के लिये

बाधित किया गया तो शुल्क लगाने का प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ। उस वर्ष तो पुराने प्रस्ताव को ही सभा से दृढ़ता मिली, परन्तु उससे दूसरे वर्ष इस प्रश्न को फिर सभा में रखा गया। यह देखकर कि कुछ काम करने वाले बिना गुरुकुल के ब्रह्मचारियों पर शुल्क लगवायें काम करना छोड़ देंगे, मैंने उस अधिवेशन में सम्मिलित होने से ही बचना चाहा, परन्तु शुल्क के पक्षपातियों की ओर से श्री प्रधान जी ने विश्वास दिलाया कि आठ श्रेणियों तक कोई शुल्क लगाने का विचार नहीं; उससे ऊपर शुल्क लगाने का निश्चय है। मैं तो इस समझौते पर चुप रहा परन्तु प्रस्तावकर्ताओं ने पूर्ववत् सब श्रेणियों के लिये शुल्क स्वीकार कर लिया। मैंने अपनी निज प्रतिज्ञानुसार मौन धारण किये रखा और सम्मति भी कुछ न दी।

इस समय बिना शुल्क के गुरुकुलों को चलाना असम्भव सा ही हो गया है। क्योंकि जहाँ प्रबन्ध उत्तम है और अपने कर्तव्य को समझने वाले संचालक हैं वहाँ धन पर्याप्त नहीं, और जहाँ शुल्क न लेने का आडम्बर रचा जाता है वहाँ ब्रह्मचारी तो साधारण भोजनों के लिये भी तरसते हैं और गुरुकुल भक्त सांसारिक भोगों का आनन्द लूटते हैं। मेरा यह स्वप्न भी इस जीवन में पूरा होता नहीं दीखता।

गुरुकुल के सम्बन्ध में मेरी एक और प्रबल इच्छा थी जो अपूर्ण रह गई। मेरा विचार था कि प्रत्येक नगर के पास और प्रत्येक पाँच ग्रामों के समूह के मध्य स्थान में प्रारम्भिक शिक्षा के लिये पाठशालाएँ खोल दी जायें, जिनमें बालक गुरुकुल के लिये तैयार किये जायें। चार वर्ष की पाठविधि हो। जनता की सभाएँ बना कर अनिवार्य शिक्षा का प्रचार किया जाये, जिससे उस ओर का कोई भी बच्चा (लड़की हो या लड़का) अशिक्षित न रह जाये। गुरुकुलों के सम्बन्ध में तो कई कारणों से मैं इस विचार को असली सूरत न दे सका, परन्तु यह प्रबल इच्छा अवश्य है कि आर्यसमाज का इतिहास समाप्त करके, धर्म प्रचार करता हुआ, आर्यभाषा पाठशालाएँ खुलवाने का यत्न करता रहूँ। उन पाठशालाओं में साधारण ज्ञान देने के अतिरिक्त प्रत्येक आर्य बालक और बालिका को वैदिक-धर्म का आवश्यक ज्ञान भी कराया जावे। इस काम के लिये ऐसे धर्मवीरों की आवश्यकता होगी जो वर्तमान समय के अनुचित भोगों को तिलांजली देकर तप का जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार हों। स्वर्गीय महात्मा गोपालकृष्ण गोखले को इस काम के लिये उत्तेजित करने का मैंने प्रयत्न किया था, परन्तु वे कई बार इच्छा प्रकट करके भी मेरी प्रार्थनानुसार एक सप्ताह गुरुकुल में निवास न कर सके और इसलिये हमारी स्कीम पक न सकी।

गुरुकुल सम्बन्धी और भी बहुत सी मेरी आकांक्षाएँ थीं जो पूरी नहीं हुई, उनके वर्णन से इस समय लेख को बढ़ाना उचित नहीं है। मैंने इन सब असिद्ध स्वप्नों में असफलता का कारण यही समझा था कि गुरुकुल का प्रबन्ध एक ऐसी कार्यकारिणी सभा के अधीन है जिसके सभासदों का गुरुकुल के साथ सीधा सम्बन्ध बहुत कम रहता है। प्रथम तो आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में सभासद लिये ही किसी अन्य भाव से जाते हैं, फिर बहुत से गुरुकुल के सच्चे हितैषी (अधिक दान देने वाले, स्नातक, ब्रह्मचारियों के संरक्षक तथा अन्य विद्वान्) इसके नियन्त्रण में भाग नहीं ले सकते और सबसे बढ़कर कमी यह है कि शासक सभा में बैठकें गुरुकुल से दूर होने के कारण उसकी आवश्यकताओं को सभासद दृष्टि में नहीं रख सकते। मैंने गुरुकुल की भलाई इसी में समझी थी कि उसके लिये एक पृथक् नियन्त्रण परिषद् बनाई जावे जिसमें दानियों, स्नातकों तथा अन्य गुरुकुल प्रेमियों के प्रतिनिधि भी लिये जा सकें। मैंने ऐसा प्रस्ताव दस, ग्यारह वर्षों से कर रखा है। परन्तु ऐसा नियम-संशोधन का प्रस्ताव आर्य प्रतिनिधि सभा के उस अधिवेशन में पेश हो सकता है जिसमें सभासदों की उपस्थिति दो तिहाई से कम न हो। एक बार उपस्थिति (कोरम) ठीक हो गई और बहुपक्ष अनुकूल भी था, परन्तु सम्मति लेना दूसरे दिन पर रोका गया और दूसरे दिन कोरम न रहा।

सारा सभ्य संसार इस समय अनुभव कर रहा है कि शिक्षा प्रणाली पर ही संसार की वर्तमान अशान्ति की औषधि आर्यपुरुषों ने समझ रखी है। बाह्य संसार के कुछ शिक्षक भी इस विषय में आर्यों के साथ सहमत हो चुके हैं। तब गुरुकुल की रक्षा और उन्नति के लिये जो भी उपाय उचित हों उनसे आर्य जनता को उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसीलिये मैंने आर्यजनता की सेवा में अपने उद्गार उपस्थित करने का यत्न किया है।

'स्वामी श्रद्धानन्द एक विलक्षण
व्यक्तित्व" - से साभार

उदार श्रद्धानन्द

स्व0 आचार्य अभयदेव

स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन की सम्पूर्ण विशेषता को मैं जिस एक विशेषण से कह सकता हूं, वह है 'उदार' उदार श्रद्धानन्द पुकार लेने से उनका सारा जीवन, उनके जीवन की एक-एक महान् घटना आंखों के सामने चित्रित हो जाती है। स्वामी जी के जिन दोषों की तरफ लोग इशारा करते हैं ये भी उनमें उदारता की ही अति के कारण थे। पर इसे भाग्यचक्र के सिवाय और क्या कहूं- बदकिस्मती के सिवाय और क्या पुकारूं कि उनके जीवन के अन्तिम दिन- वे शुद्धि और संगठन के दिन- ऐसे बीते हैं कि बहुत से लोगों के (और ऐसे अनजान लोग आम जनता में बहुत हैं) दिलों में श्रद्धानन्द का सम्बन्ध अनुदारता, संकुचित साम्प्रदायिकता के साथ जुड़ गया है। उन द्वारा जगत् प्रसिद्ध गुरुकुल की स्थापना, उन द्वारा आर्य समाज का शानदार नेतृत्व, सन्यासी बनकर उनका मनुष्यमात्र की सेवा में लग जाना आदि सम्पूर्ण जीवन को लोग भूल जाते हैं और अन्तिम बलिदान के कारण उन्हें एक शुद्धि संगठन के नेता के तौर पर याद रख रहे हैं। पर आम लोग तो यह भी नहीं जानते कि संगठन के विषय में और शुद्धि के विषय में स्वामी जी के विचार कितने उदार थे। यह उनके नजदीक रहने वाले ही जानते हैं कि उनके संगठन और शुद्धि के विचार उनसे बहुत भिन्न थे जो कि उस समय की जहर के विचार थे या जो कि कट्टर लोगों के विचार थे। उनका उंदार हृदय तो संकुचित ढंग से विचार ही नहीं सकता था।

उन्हीं शुद्धि-संगठन के दिनों की बात है कि एक बार मैं रात्री के नौ बजे देहली में स्वामी जी के स्थान पर पहुंचा तो देखा कि स्वामी जी ने अपने रहने के स्थान पर दीपावली जगा रखी है। जरा एक काम से शहर में गया तो वहां एक और बड़ा मकान दीवाली के दीपकों से जगमगाता हुआ दीखा। पूछने पर पता चला वह मस्जिद थी। उस दिन (तारिख याद नहीं) टर्की के कमाल पाशा का एक विजय का दिन मनाया जा रहा था और सारे देहली शहर में या तो मस्जिदों में दीवाली मनाई गई थी या स्वामी श्रद्धानन्द जीं के निवास पर (उसी श्रद्धानन्द बलिदान भवन पर जिसमें उनका बलिदान हुआ था।) एक प्रतिष्ठित साथी ने हंसी उड़ाते हुस स्वामी जी से पूछा भी कि 'स्वामी जी ? आपने यह क्या कर रखा है।, स्वामी जी ने जवाब में गम्भीरता से यह आशय प्रकट किया- "हमें मुसलमानों से या उनके धर्म से जरा भी द्वेष नहीं होना चाहिए कमाल पाशा की विजय न्याय की विजय है, अतः यही हमारी भी विजय है।"

जिन सिख भाइयों (तत्खालसों) ने एक समय स्वामी जी के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन उठा रखा था, उन्हीं के लिये कुछ दिनों बाद, हम देखते हैं कि स्वामी जी ने अपनी साठ वर्ष की उमर में जेल काटी। उनके जीवन भर में यह रहा है कि वे मौका पड़ते ही दिखला देते थे कि विरोध रखते हुए भी उनके विशाल हृदय में किसी के प्रति भी दुश्मनी का क्षुद्र भाव नहीं ठहर सकता था।

गांधी जी ने स्वामी जी के जीवन पर लिखते हुए लिखा था कि "यदि मैं उन्हें कुछ भी जानता हूं तो कह सकता हूँ कि प्राण छोड़ते समय स्वामी जी के मन में अपने हत्यारे के विषय में यह विचार आया होगा कि परमेश्वर उस नादान को क्षमा करें"

स्वामी जी इतनी जल्दी करुणार्द्र हो जाते थे- इतनी जल्दी क्षमा कर दिया करते थे कि गुरुकुल में उनके सहयोगी उनकी इस आदत के कारण दिक थे और समझते थे कि उनकी इस आदत से गुरुकुल को नुकसान पहुंचता है। गुरुकुल के सहयोगियों की यह शिकायत भी ठीक थी कि स्वामी जी पैसा खर्च करने में भी अति उदार थे। परन्तु इस तरफ अधिक ध्यान इसलिए नहीं खिंचता था कि स्वामी जी के इस उदारता के कारण ही पैसा उन्हें मिलता बहुत था।

स्वामी जी का आर्य समाज पर कैसा प्रभाव था ? इस विषय में मुझे एक पंजाबी प्रतिष्ठित आर्य समाजी मित्र के हाल में बातचीत में कहे शब्द बहुत ठीक लगे। उन्होंने कहा कि कालेज-पार्टी की अपेक्षा गुरुकुल-पार्टी में जो एक स्पष्ट सुधार में आगे बढ़ने की प्रवृत्तिं और उदारता दिखाई देती हैं, यह स्वामी श्रद्धानन्द जी के महानू नेतृत्व से आई है और स्वामी जी के उठ जाने से अब गुरुकुल पार्टी में भी संकीर्णता के चिह्न दिखाई देने लगे हैं इस समय संकीर्णता से हमें ऊपर उठाने वाला कोई व्यक्ति आर्य समाज में नजर नहीं आता।

स्वामी जी ने सन्यासी होने पर जो आर्य-जाति पर उदार आशय के लेख लिखे थे, जो फिर आर्य समाज से अपने मतभेद भी उन्होंने लिख डाले थे और जो 'सत्यार्थ प्रकाश' के उत्तरार्द्ध के खण्डनात्मक समुल्लासों के विषय में उनकी सम्मति थी, उन सबके कारण बहुत से कट्टर आर्य समाजी उनसे बिगड़ गये थे और उन्हें आर्य समाज से बाहर का समझने लगे थे। गांधी जी ने जब आर्य समाज पर टीकाटिप्पणी की थी, तब गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पं० सत्यकेतु जी ने जो एक लेख गांधी जी के समर्थन में लिख दिया था, उस पर जहां बहुत से आर्य समाजी भाई इतने बिगड़े थे कि कइयों ने पं० सत्यकेतु जी का स्नातक-प्रमाणपत्र छील लेने तक के लिए पत्र लिखे तथा **आर्यमित्र** आदि पत्रों में उन पर कठोर आक्षेप किये गए, वहां स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पं० सत्येतु जी के इस

लेख पर सम्मति दी थी कि "सत्यकेतु ने जो कुछ लिखा है, उसे मैं अपनी दी हुई उदार शिक्षा का ही परिणाम समझता हूं।"

यहां जरा पाठक यह भी सोच लें कि गांधी जी ने अपने उस लेख में यदि किसी को बुरा भला कहा था तो वह केवल स्वामी श्रद्धानन्द जी ही थे। पर स्वामी श्रद्धानन्द जी गांधी जी के उस लेख के पक्ष पोषक स्नातक को अपनी शिक्षा का सुफल देने वाला स्नातक कहकर उसके समर्थन में सम्मति दे रहे थे। ऊपर जो मैंने पं० सत्यकेतु जी के लेख के विषय में श्रद्धानन्द जी की सम्मति उद्धृत की है, वह उनके अपने हाथ से लिखे हुए एक पत्र से ली है और वह पत्र मेरे पास सुरक्षित है। यदि पाठक चाहेंगे तो मैं वह पत्र प्रकाशित कर देने में प्रसन्न हूंगा। अस्तु।

स्वामी जी महाराज की उदारता की कथा तो बहुत लम्बी है क्योंकि स्वामी जी ने सत्तर वर्ष के जीवन में जो एक से एक अद्भुत कार्य किये हैं, उन सबका मूल- उन सबका रहस्य- उनका यह उदारता का ही महान् गुण था। अतः उनके जीवन से आर्य समाज को, हिन्दू और मुसलमानों को यदि कुछ सीखना चाहिए तो वह उदारता है। पाठक अनुभव करें कि स्वामी श्रद्धानन्द जी के पवित्र नाम को लोगों के साम्प्रदायिक, संकुचित क्षुद्र भावों को उत्तेजित करने में इस्तेमाल करना कितना अनर्थ करना है ? सचमुच स्वामी जी को केवल शुद्धि और संगठन के संकीर्ण विचारों के प्रचारक के तौर पर पूजना, याद करना उनकी हत्या करना है। बेचारा अब्दुल रशीद तो उनकी हत्या क्या करता ? वह तो उनको अमर कर देने में सहायक हुआ है। पर अमर होते हुए स्वामी जी को हम मार देंगे- कम से कम अपने लिए मार देंगे- यदि हम उस असली महानता को जीवित न रखेंगे अर्थात् उनकी उदारता की पूजा न करेंगे।

श्रद्धानन्द तो गुरुकुल जैसी अपनी उदार महान् कृतियों द्वारा जीवित रहेंगे ही, गुरुकुल के उदार स्नातक तथा अन्य उनके सच्चे अनुयायी उनको अमर करा देंगे। देहली की जामा मस्जिद के मंच से उनका व्याख्यान कराने वाले मुसलमान भाई भी उनका नाम जीवित रखेंगे किन्तु मैं तो शुद्धि संगठन से प्रेम रखने वाले हिन्दू भाईयों से कहना चाहता हूं कि आप भी स्वामी जी की उदारता के उपासक बनिये। यदि आप अनुदार श्रद्धानन्द को पूजते हैं तो आप किसी और को पूजते हैं, श्रद्धानन्द को नहीं पूजते। आपको श्रद्धानन्द से बल, स्फूर्ति और जीवन तभी मिलेगा जब आप उस महान् आत्मा की उसकी उदारता के कारण पूजा करेंगे। तब स्वामी जी का अभीष्ट सफल हिन्दू संगठन और उनकी अभीष्ट शुद्धि भी सम्पन्न हो जायेगी। उदार श्रद्धानन्द की जय हो।

('अलंकार' के श्रद्धानन्द विशेषांक जनवरी १६३५ में प्रकाशित)

श्रद्धा का आनन्द

स्व0 आचार्य अभयदेव

आर्य समाज के सन्यासी प्रायः अपना नाम आनन्दान्त रखते हैं। आर्य समाज के प्रवर्त्तक महान् सन्यासी का नाम भी तो ऐसा ही था- दयानन्द। ऐसा लगता है कि मानों सन्यासी होकर मनुष्य आनन्द (आनन्द मग्न, आनन्द रूप) हो जाता है। बल्कि अधिक ठीक यह कहना होगा कि जब किसी महानुभाव को एक उच्चतर आनन्द की झांकी मिल जाती है, तभी वह उस आनन्द को पा लेने के लिये उसमें बाधक रूप बन्धनों को तोड़ देना चाहता है, त्याग देता है, सन्यास कर देता है, अर्थात् सन्यासी होता है। उच्च आनन्द का दर्शन ही मनुष्य को सन्यासी उच्चतम-आश्रमस्थ बनाता है।

ऋषि दयानन्द ने दया के आनन्द को उपलब्ध किया था। 'दयाया आनन्दो विलसति सदा यस्य पुरतः' ऐसे संस्कृत श्लोक उन्होंने अपना नाम कीर्त्तन करते हुए लिखे भी हैं। उन्होंने दया के आनन्द को उपलब्ध ही नहीं किया था, सिद्ध भी किया था। दुःख क्लेश से सताये हुए प्राणियों को, विदेशियों से पादाक्रान्त हुए इस आर्यावर्त्त देश को, अज्ञान अन्धकार तथा जड़ता से ग्रस्त हुई एवं पक्षपात, राग-द्वेष, भय आदि विकारों से नाना प्रकार से पीड़ित समस्त मानव जाति को ही देखकर उनकी महान् आत्मा सहज भाव से करुणार्द्र हुई, दयायुक्त हुई। उनकी इस दिव्य दया का आनन्द ही था जिसके कारण वे जीवन भर विरोधियों के ईंट-पत्थर आदि की मूर्खतापूर्ण मार सहते रहे और अन्त में हमारे लिए विषपान तक कर गये, पर सदा अपनी दया के प्रेम में प्रसन्न और आनन्दित रहे।

इसी तरह मुंशीराम से श्रद्धानन्द होने वाले हमारे कुलपिता ने सन्यासी बनते समय जिस महान आनन्द की उपलब्धि की, वह श्रद्धा का आनन्द था। उन्होंने सन्यासी होने पर लाहौर समाज के उत्सव पर जो श्रद्धा पर व्याख्यान दिया था, वह आज भी हमें ऊँचा उठने को ललकार रहा है, आज भी ज्योति स्तम्भ का काम कर रहा है। वह व्याख्यान वस्तुतः फिर-फिर पढ़ने लायक है, आज भी ताजा है। उन्होंने उसके बाद जो साप्ताहिक पत्रिका गुरुकुल से निकाली, उसका नाम 'श्रद्धा' रखा था। अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति- यह गीता का श्लोक वे अक्सर बोला करते थे। ज्ञानयुक्त श्रद्धा रखने के कारण वे कभी भी संशयात्मा, किंकर्त्तव्य विमूढ़ या ढुलमुल एक क्षण के लिये भी नहीं होते थे। अन्दर से हमारा नाश कर देने वाला संशय-राक्षस उनके सामने फटक नहीं सकता था। वे सदा श्रद्धापूर्ण थे, अतएव अजेय थे। वे वीर थे।

वे बीहड़ जंगलों को चीरकर अपना नया सीधा रास्ता बनाने वाले शेर थे। दुनिया के उन श्रद्धालुओं की बनाई हुई लम्बी चौड़ी चक्करदार पगडंडियों में घूमते हुए सड़ना उन्हें सह्य न था। दुनियापन उन्हें फुसला नहीं सकता था, उनके सत्य के मार्ग पर कोई रुकावट नहीं खड़ी कर सकता था। जो सत्य होता था, कर्त्तव्य था, उसे वे करते ही थे। अतः वे उन अंग्रेजों की संगीनों के सामने छाती तानकर खड़े हो सकते थे जिनके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। मार्शल लॉ के दिनों में जब पंजाब के आसमान में उड़ने वाले पक्षियों के भी पर जलते थे तब वे पंजाब में घूम-घूमकर पंजाब को होश में लाकर वहां राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन सफलतापूर्वक करा सकते थे और अन्त में अम्लान-चित्त से, बल्कि उसकी हितकामना करते हुए अब्दुल रशीद की गोली भी खा सकते थे। सच तो यह है कि उनके लिये कुछ भी 'असम्भव' कहलाने वाला असम्भव नहीं था। यह सब इसीलिए था क्योंकि वे श्रद्धा के आनन्द में चूर थे, उन्होंने यह सोमरस अघाकर पी रखा था। तो उनके सामने दुनिया की कौन सी बाधा ठहर सकती थी ?

ब्यास जी ने योग भाष्य में श्रद्धा के विषय में क्या सुन्दर कहा है- 'कल्याणीव जननी योगिनं पाति।' श्रद्धा कल्याणी माता की तरह योगी की रक्षा करती है। अध्यात्म-मार्ग पर चलने वाले योगी को तो न केवल इस स्थूल जगत् के किन्तु अन्य जगत् के बड़े भारी-भारी शक्तिशाली असुरों के मुकाबले में आना पड़ता है, वहां श्रद्धा की शक्ति ही माता की तरह उनकी निरन्तर रक्षा करती है। हमारे इस जगत् में भी उन विकट घड़ियों में, जबकि निराशा की घनघोर घटा छा जाती है। और कुछ भी नजर नहीं आता, जबकि लगातार आपत्तियों से घबराकर मनुष्य का धैर्य समाप्त हो जाता है, जबकि असुरों के सामने बेदम और परास्त होकर हम अपने दिव्य हथियार छोड़ने को तैयार हो जाते हैं, वे ही लोग अडिग, अटल और अजेय रहते हैं जो श्रद्धामय दिव्य कवच से परिवेष्टित होते हैं, केवल उन्हीं की शांति अक्षुण्ण बनी रहती है जो श्रद्धा माता की गोद में शरण पा चुके होते हैं। अतः धन्य हैं वे लोग जिन्हें श्रद्धा प्राप्त हुई है और जिन्हें श्रद्धा का आनन्द प्राप्त हुआ है।

ऐसे ही धन्य हमारे श्रद्धानन्द जी महाराज थे। ईश्वर करे कि वे श्रद्धा के जिस दिव्य आनन्द की अपने जीवन द्वारा वर्षा कर गये हैं, उसके कुछ छीटें पाकर हम भी कुछ अंश में श्रद्धामय और दिव्य सैनिक बन सकें और अपने जीवन को इस आनन्द द्वारा कृतकृत्यं कर सकें।

(२५ दिसम्बर १९८८ के 'आर्यजगत्' से उद्धृत)

उत्तर के सुमेरु स्वामी श्रद्धानन्द

आचार्य चतुरसेन शास्त्री विख्यात उपन्यासकार

उन्नीसवीं शताब्दी के अपराह्न में पंजाब में चार महापुरुष ऋषि दयानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में पंक्ति में आ खड़े हुये। इनमें एक थे महात्मा हंसराज दूसरे थे महात्मा मुंशीराम (पीछे स्वामी श्रद्धानन्द), तीसरे थे लाला देवराज और चौथे लाला लाजपतराय। महात्मा हंसराज ने लाहौर में डी.ए.वी. कालेज, महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल कांगड़ी और लाला देवराज ने जालंधर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की तथा लाला लाजपतराय ने देश में स्वतन्त्रता की धूम मचाई इन चार मंगल मूर्तियों का उत्तर भारत में ऐसा सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा कि उनका मूल्य किन्हीं भी शब्दों में नहीं आंका जा सकता।

महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय ने जब लाहौर में, डी.ए.वी. कालेज की स्थापना की तब देखते ही देखते यह कालेज आधुनिक पद्धति पर सहस्र-सहस्र युवकों को ज्ञान-दान देने लगा और उनके हृदय में आर्य संस्कृति तथा वैदिक सभ्यता का बीजारोपण करने लगा।

इन दिनों स्त्रियों को पढ़ाना-लिखाना पाप समझा जाता था और लोगों में यह विश्वास था कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ जल्दी विधवा हो जाती हैं। स्त्री-शिक्षा के हिमायतियों को लाठी खानी पड़ती थी। ऐसी अवस्था में लाला देवराज ने जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की, जिसने पंजाब में स्त्रियों के जीवन की कायापलट कर दी। परन्तु उत्तर भारत में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह हुआ स्वामी श्रद्धानन्द के द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के रूप में। यह ऐसा विद्यामन्दिर था, जहां यूनिवर्सिटियों और पाश्चात्य शैलियों का सर्वथा त्याग किया गया। वैदिक संस्कृति और वैदिक धर्म का भारत में प्रचार करना इस विद्यामन्दिर का मूल मन्त्र था। यहां के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली पर ब्रह्मचारी वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पड़ता था। यह एक नवीन परिपाटी थी, जिसने बड़ी शीघ्रता से समस्त उत्तर भारत का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। संपूर्ण उत्तर भारत में स्वामी श्रद्धानन्द के इस सु-उद्योग का सुफल अंकुरित हुआ लोगों के हृदयों में स्वप्न से जागे हुओं की भांति अपनी भाषा अपनी संस्कृति और अपने देश के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुये। इस विद्याकेन्द्र के स्नातक प्रथम श्रेणी के लेखक सिद्ध हुए, जिन्होंने साहित्य को विचार, विज्ञान और प्रगति से ओतप्रोत कर दिया। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि आज के जागृत

उत्तर भारत के मूलप्रेरक स्वामी श्रद्धानन्द थे और उन्हें **उत्तर भारत का सुमेरु** कहना सर्वथा उपयुक्त है। इन्हीं स्वामी श्रद्धानन्द के बारे में प्रस्तुत हैं मेरे अपने व्यक्तिगत संस्मरण।

पहली और अन्तिम भेंट

कुछ ऐसे कारण थे कि उनसे मिलते हुए मैं हिचकता था लेकिन डा० युद्धवीर सिंह उस दिन मुझे उनके पास घसीट ले गये। किसी सार्वजनिक संस्था को कुछ रुपयों की आवश्यकता थी। प्रातःकाल का समय था और स्वामी जी स्नान करके स्वस्थचित बैठे थे। प्रसन्न मुद्रा में थे। हमने संक्षेप में अपना अभिप्राय कह सुनाया। उन्होंने चुपचाप सुना। एक-एक गिलास ताजा दूध आग्रहपूर्वक पिलाया, इधर-उधर की बातें पूछीं और एक हजार का चेक हस्ताक्षर करके हमारे हवाले किया। आश्चर्य और प्रसन्नता से हम लोग अभिभूत हो गये। लखपति, करोड़पति साहूकार भी इतनी आसानी से अंटी ढीली नहीं कर सकते क्षण भर के लिए स्वामी जी का ध्यान दूसरी ओर गया तब मैंने डाक्टर साहब की बगल में टहोका मारकर आहिस्ते से कहा- "यह तो बड़ा मालदार साधु है। कुछ और ज्यादा क्यों न वसूला जाये।" त्यों ही वह वज्रदृष्टि मेरी और घूमी एक गूढ़ मुस्कान ओठों में भर कर वह बोले- 'आज आप कैसे निकल पड़े आप तो कहीं आते-जाते नहीं।'

जिस बात से डर रहा था वही सामने आई। समझ गया, अब खैरियत नहीं। ये हजार रुपये और उनका सूद अभी वसूल किया जायेगा। मैंने धीरे से कहा- "डाक्टर साहब खींच लाये।"

"यह मेरा ख्याल है, परन्तु आप एक उदीयमान साहित्यकार हैं और साहित्यकार एकान्तप्रिय होते हैं। परन्तु अधिक एकान्त में यह दोष पैदा हो जाता है कि साहित्यकार की दृष्टि में कल्पना प्रधान हो जाती है, सत्य पीछे छूट जाता है। जहां तक भावना का प्रश्न है, इससे उतनी हानि नहीं होती, पर जब घटनाओं का प्रश्न आता है और उनसे किसी व्यक्ति का सम्बन्ध स्थापित होता है और दुर्भाग्य से वह व्यक्ति यदि सार्वजनिक होता है तब कभी-कभी बहुत भद्दी भूलें हो जाती हैं जो पीछे किसी मूल्य पर भी परिमार्जित नहीं की जा सकतीं।"

मतलब मैं स्पष्ट ही समझ रहा था। पर स्वामी जी कोई बात अधूरी छोड़ते नहीं थे, कोई बात उधार खाते डालते नहीं थे। उन्होंने बिना इस बात की परवाह किये तनिक कठोर भाषा में कहा- "अब आप इस कहानी की बात लीजिये जिसमें मुझे और

मेरे पुत्र को आपने पात्र बनाया है, एक बहुत गंभीर आरोप आपने उसमें मेरे ऊपर लगाया है। मैं नहीं जानता, कहां से ये तथ्य आपको मिले और उनमें आपने कितना कल्पना का सहारा लिया, परन्तु मैं तो अभी ज़ीवित था, यहीं इसी नगर में रहता था, आप यदि मेरे पास आते तो आपको मेरे पास तो सत्य की ही उपलब्धि होती और तब शायद आप की यही कहानी कुछ दूसरा ही रूप धारण कर लेती।"

मुझमें शक्ति नहीं थी कि इस महापुरुष से विवाद करता या जवाब देता। असल बात यह थी कि उस कहानी में कुछ अत्यन्त गुप्त रहस्यों का उद्घाटन हुआ था, जिनके कुछ आभारों के सम्बन्ध में एक शब्द भी क़ह नहीं सकता। वक एक अति भयानक राजनीतिक कहानी थी और उसमें भारत में घटित एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी घटना का संकेत था, जिसका सम्बन्ध दिल्ली के कुछ फांसी प्राप्त क्रान्तिकारी से भी था। कहानी "चांद" में छपी थी और उसके कारण "चांद" की तीन हजार की जमानत जब्त हो चुकी थी। स्वामी जी उस कहानी को बख्शेंगे नहीं यह मैं जानता था और इसी कारण उनकी आँखों के आगे आने के सब अवसरों से बचता रहता था। पर अब तो आमना-सामना हो चुका था। मैं नीचे सिर झुकाये निरुत्तर बैठा रहा एक शब्द भी मैंने नहीं कहा।

स्वामी जी ही बोले- "अभी आप नवयुवक हैं। खून आपका गर्म है। पर कभी आप मेरी उम्र को भी पहुंचेंगे, किन्तु, कदाचित् आपका जीवन उस भयानक बवंडर में न फंसे, जिसमें मुझे फंसना पड़ा, क्योंकि आप तो साहित्यिक है, सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं। विरोध सत्ताओं के शक्ति संचालन का कदाचित् आपको अवसर मिले ही नहीं। ऐसी स्थिति में आप अपनी भूल को कभी समझ न सकेंगे। परन्तु मैं तो यह समझता हूं कि साहित्यकार को समाज के समूचे ढांचे को उसी प्रकार ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है जिस प्रकार एक चिकित्सक को शरीर की भीतरी बाहरी पेंचीली बनावट, साथ ही जीवन क्रिया के मूलाधारों को जान लेना आवश्यक है। इसके लिए साहित्यकार ही रहना चाहिए।"

मैंने तो इस पर भी कोई उत्तर नहीं दिया। जब हम चले तब वह चैक और वह दूध बहुत बोझिल हो रहा था और जीने से नीचे उतरते हुए मेरे पैर लड़खड़ा रहे थे। वज्रवाक्य तो जैसे तप्त शलाका से मेरे हृदय-पटल पर लिख दिये गये। आज चालीस बरस बीत जाने पर भी वे ज्यों के त्यों मेरे अन्तस्तल पर अंकित हैं।[1]

---

(१) संभवतः यह लेख सन् १९६० के आसपास लिखा गया होगा। (सं०)

और जब कत्ल हो गये

इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद मुझे अप्रत्याशित रूप में जल्दी-जल्दी उस जीने की सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ा। अच्छी तरह मुझे उस दिन की प्रत्येक बात याद है- खारी बावली में मैं दाल चावल खरीद रहा था। एक आदमी दौड़ता हुआ जा रहा था और जोर-जोर से चिल्ला रहा था- "स्वामी जी कत्ल हो गये! स्वामी जी कत्ल हो गये।"

बाजार में हलचल मच गई और मैं तत्काल ही लपकता हुआ नये बाजार की ओर दौड़ा। कुछ आदमी सड़क पर भीड़ बनाकर खड़े थे, कुछ जीने पर चढ़ रहे थे। भीड़ चीरकर जब मैं ऊपर पहुँचा तब देखा सेवक धर्मसिंह की जांघ से रक्त बह रहा था, पर वह दीवार का सहारा लिए खड़ा था। पलंग पर स्वामी जी लहूलुहान पड़े थे। तीन गोलियाँ उनके सीने के पार हो चुकी थीं। स्नातक धर्मपाल ने कातिल को अपनी बलिष्ठ बाहों में दबोच लिया था और वह भाग निकलने को छटपटा रहा था। रिवाल्वर अब भी उसके हाथों में था। स्वामी जी का प्राणान्त हो चुका था। उनका मुंह और उनकी आंखें आधी खुली थी और इन्द्र जी उनके ऊपर झुके हुये थे। नीचे और ऊपर की अब भीड़ बढ़ गई थी। शोर भी बहुत हो रहा था। कोई एक व्यक्ति चाकू हाथ में लेकर कातिल को कत्ल कर डालने को जोर कर रहा था और लोग उसे पकड़ रहे थे। पुलिस आई और उसने कातिल को कब्जे में किया। लाला दीवानचन्द्र आये और आँखों में आंसू भरकर स्वामी जी का सिर गोद में लेकर उठ गये। डाक्टर अंसारी और डा० अब्दुल रहमान भी आ गये थे। पर अब क्या हो सकता था। डाक्टर अंसारी की आँखें गीली थीं। कातिल अधेड़ उम्र का मुंशी जैसा आदमी था। जब पुलिस ने उसे हथकड़ी पहना कर खड़ा किया तब मुस्करा दिया और कहा "डाक्टर साहब, आदावअर्ज।" इससे भीड़ में बहुत उत्तेजना फैल गई और डा० अंसारी पुलिस के संरक्षण में वहां से चले गये।

और फिर दिल्ली के इतिहास में अभूत-पूर्व उनकी शवयात्रा निकली। दिल्ली और पंजाब के तरुणों का उछलता हुआ रक्त जोश मार रहा था। अनगिनत भजन-मंडलियाँ भजन गाती जाती थीं। उनमें से एक मैं भी सम्मिलित था। आप कदाचित् विश्वास न करें, मैं स्वयं चीख-चीख कर गा रहा था, कुछ अपने ही द्वारा रची गई पंक्तियों को।

उसके बाद एक सभा कम्पनी मांग में हुई, जहाँ लोगों के सिर ही सिर नजर आते थे। उस सभा की एक बड़ी घटना मुझे याद है-लाला लाजपतराय का भाषण। लाला जी भाषण नहीं दे रहे थे, वह तड़प रहे थे। कह रहे थे- "श्रद्धानन्द, तुम्हारे जीवन पर भी मैंने सदा रश्क किया और मौत पर भी रश्क करता हूं। भगवान् मुझे ऐसी ही मौत दे तो मैं इतना समझूं कि मैं तुमसे आगे न बढ़ सका तो पीछे भी न रहा।" और झर-झर आंसू उस नरशार्दूल की आंखों से बह रहे थे।

एकता का सूत्रधार – श्रद्धानन्द

डॉ. धर्मपाल

संसार में कभी-कभी ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं जो अपने, त्याग, तपस्या, परमार्थ एवं बलिदान से नए युग का और नए इतिहास का निर्माण करते हैं। उनके पदचिन्हों पर चलकर आने वाली पीढ़ियाँ अपने को धन्य मानती हैं। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में नई दिशा प्रदान करने वाले महापुरुषों की श्रृंखला लम्बी है और हमें ऐसे महापुरुषों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना चाहिए ताकि हम उनके जीवन और कृतित्व से प्रेरणा ग्रहण कर सकें तथा सामाजिक कल्याण के कार्य करके अपने जीवन को अर्थवता तथा सार्थकता प्रदान कर सकें। युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ऐसे ही महामानव थे। वे एक ऐसी पारसमणि थे जिसके स्पर्श से अनेक पाप-पंक में निमग्न मनुष्य स्वर्ण बन गए और उनका तेजोदीप्त निर्मल सुरभित जीवन दूसरों के काम में लग गया। ऐसे ही महापुरुषों ने सर्वमेध यज्ञ तक करने में भी संकोच नहीं किया। वे अपनत्व से ऊपर उठ गए थे। वे सबके लिए हो गए थे। और ऐसे ही एक महामानव थे स्वामी श्रद्धानन्द जो मात्र एक बार स्वामी दयानन्द के ओजस्वी, तेजस्वी स्वरूप को देखकर, उसके अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर, उनकी ईश्वर और धर्म की व्याख्या सुनकर उनके हो गए। स्वामी श्रद्धानन्द का पूर्व नाम मुंशीराम था। अनेक दुर्व्यसनों से ग्रस्त मुंशीराम का जीवन स्वामी दयानन्द के उपदेशामृत का पान करके सुवर्णमय हो गया। उनका सारा संसार ही आलोकित हो गया। उनकी सभी दशों दिशाएँ सुवासित हो गयीं। वह जिस दिशा में भी गया, उनकी चरण-रेखा वहीं पर अंकित हो गई। उन्हीं कदमों पर आज भी अनेक चलने को लालायित है।

वकील मुंशीराम की मानसिक और बौद्धिक चेतना की जागृति उच्च शैल शिखर से आविर्भूत शुभ्र जलस्रोत के समान थी जो कल कल करती चारों दिशाओं में फैल गई। चेतना के उस अजस्र स्रोत से मानव कल्याण की जलधारा फूट पड़ी। धीरे-धीरे वह पतली जलधारा शिवालिक की उच्च पर्वत श्रृंखलाओं से उतर कर हरिद्वार के विस्तीर्ण प्रान्तर में ठहर गई और उसने चारों ओर रम्य वातावरण की सृष्टि की। यहां पर न रुक कर यह उद्दाम प्रवाह धारा राष्ट्रीय क्षितिज पर उभर कर, सभी को एक दृष्टि से देखने तथा सभी का कल्याण करने के लिए अग्रसर हो उठी- "जिस दिन पवित्र सन्यासाश्रम में प्रवेश किया, उसी दिन सारे संसार को एक परिवार समझने, सारे संसार

के धन को एक आँख से देखने और लोक लज्जा को छोड़कर लोक सेवा में दत्तचित्त होने का व्रत धारण कर लिया था।" मायापुरी की वह वाटिका धन्य है, जहाँ से यह सुव्रती जन-जन के उद्धार के लिए राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली की ओर बढ़ चला।

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन में अनेक मोड़ आये। वे पौराणिक जगत से निकल कर आर्य जगत् के सिरमौर बने। यहां पर उन्होंने राष्ट्रीय विचारधारा को नई ऊर्जा तथा देश की रक्षा में तत्पर नागरिक देने के लिए अपनी प्राचीन गौरवमयी शिक्षा पद्धति पर गुरुकुल की स्थापना की। अब उनका क्षेत्र बढ़ गया और वे सामाजिक तथा राजनैतिक क्षितिज पर छाते गए। उनके जीवन में कहीं पर भी ठहराव न था। वे तो तीर की भांति आगे बढ़ जाते थे। जब राजनैतिक जीवन की छुद्रताएं सामनें आईं और उन्हें अपना अभीष्ट प्राप्त न होता दिखा तो हिन्दू महासभा, हिन्दू संगठन, आर्यसंगठन, दलितोद्धार, अछूतोद्धार तथा धर्म परावर्तन की दिशा में आगे बढ़ चले।

उनके जीवन में विभिन्न सोपान और परिवर्तनों और उनके द्वारा प्रवर्तित एकता के सूत्रों को समझने के लिए उनके लेखों और ग्रन्थों का अनुशीलन अनिवार्य है। स्वामी जी ने पत्रकारिता की महत्ता को अपने जीवन के प्रारंभिक चरणों में ही पहचान लिया था। वे शब्द की शक्ति से परिचित थे। इसलिए उन्होंने १८ फरवरी १८८९ को जालंधर से "सद्धर्म साप्ताहिक" प्रारंभ किया। इस पत्र की रीति नीति को देखकर लाला सांईदास ने कहा था- "यह पत्र समाज में नया युग लाएगा। यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह युग हितकर होगा या अहितकर।" ये शब्द ठीक वैसे ही, जैसे कि उन्होंने मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के आर्यसमाज लाहौर में प्रविष्ट होने पर, पहले दिन उनके भाषण के बाद कहे थे - "आर्यसमाज में यह नई स्पिरिट आई है, देखें, यह आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।" लाला सांईदास की विलक्षण परीक्षण शक्ति की उद्‌भावना को स्वामी श्रद्धानन्द ने सकारात्मक दिशा में प्रवृत्त होकर गौरव ही प्रदान किया। इस "सद्धर्म प्रचारक" को पढ़कर एक सज्जन ने आक्षेप करने पर कि- "दयानन्द के इतने कट्टर शिष्य बनते हो, पर महर्षि ने तो अपना सारा साहित्य हिन्दी में लिखा है, आप सद्धर्म प्रचारक उर्दू में क्यों निकालते हैं? उन्होंने प्रचारक को हिन्दी में निकालने का निश्चय कर लिया और मार्च १९०७ में "सद्धर्म प्रचारक" गुरुकुल कांगड़ी से हिन्दी में प्रकाशित होने लगा। १९११ में उन्होंने "प्रचारक" को दैनिक कर दिया। इसे उन्होंने दिल्ली से प्रकाशित किया तथा इसमें राजनीति की गतिविधियों को प्रमुखता दी गई। उनके बड़े पुत्र "हरिश्चन्द्र" प्रचारक के संपादक थे। ३० जनवरी

१६१५ को यह पत्र पुनः हरिद्वार से प्रकाशित होने लगा। यह पत्र आर्य समाज की सार्वभौम नीतियों का नियामक था। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के भावों और विचारों का संपूर्ण प्रतिफलन उसमें होता था। १६०४ में "सत्यवादी" नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया गया। इसके प्रथम संपादक पं. पद्म सिंह शर्मा थे। स्वामी श्रद्धानन्द के संपादन में १६२० में गुरुकुल कांगड़ी से "श्रद्धा" नाम की साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। दक्षिण भारत के अंग्रेजी शिक्षित समुदाय तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने १ अप्रैल १६२६ से अंग्रेजी साप्ताहिक "दि लिबरेटर" निकाला। स्वामी जी के दौहित्र श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने "नवयुग" नामक एक दैनिक का संपादन किया। १६२६ में स्वामी जी की हत्या हो जाने पर वीर सावरकर ने अपने छोटे भाई डॉ० नारायण सावरकर को रत्नगिरि बुलाया और उन्हें दो पत्र निकालने की प्रेरणा दी। इसमें एक पत्र "श्रद्धानन्द" था। यह पत्र स्वामी श्रद्धानन्द जी की पावन स्मृति में प्रारंभ किया गया था। इसके प्रथम अंक में उनका अपना लेख "श्रद्धानन्द जी की हत्या" भी प्रकाशित हुआ था।

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षधर थे। वास्तव में वे यह मानते थे कि एक ही भाषा होने से एकता का सूत्रपात किया जा सकता है। छः दिसम्बर १६१३ को भागलपुर में हुए चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर भाषण करते हुए स्वामी जी ने उस समय कहा था- "बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र का संगठित होना ऐसा ही दुष्कर है जैसा बिना जल के मीन का जीवन। जिस समाज के सभासदों के पास एक दूसरे के हार्दिक भावों को समझने का कोई एक साधन नहीं, उनका संगठन दृढ़ कैसे हो सकता है। भारत वर्ष के नेताओं ने यह तो मान लिया है कि एक राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता, परन्तु इस विषय में अभी तक मतभेद है कि कौन सी राष्ट्रभाषा बन सकती है। मेरी सम्मति यह है कि आर्यभाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती हैं। इस भाषा को हम केवल हिन्दुओं की ही भाषा नहीं प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं।" स्वामी श्रद्धानन्द भाषायी एकता को भी राष्ट्रीय एकता का एक प्रमुख सूत्र मानते थे।

स्वामी श्रद्धानन्द जात पाँत के भेदभाव को दूर करना चाहते थे। उनके विचार से इससे "एकता" के मार्ग में बाधा पड़ती है। उनके गुरुकुल में मेहतरों के बच्चे भी सवर्णों के बच्चों के साथ-साथ रहते, पढ़ते, खेलते और खाते थे। २६ दिसम्बर १६१६ को अमृतसर कांग्रेस के अपने स्वागताध्यक्ष भाषण में उन्होंने अछूतोद्धार को कांग्रेस कार्यक्रम का आवश्यक अंग बनाने का प्रस्ताव रखा था। "पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के पवित्र जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि साढ़े छः करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे भाई-बहन हैं। उनकी पुत्रियाँ और पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे, उनके नर-नारी हमारी सभाओं में शामिल होंगे और स्वतंत्रता प्राप्ति के युद्ध में हमारे कंधे से कंधा जोड़ेंगे।"

वे एकता स्थापना के सूत्रों के अनतर्गत ही "अछूतोद्धार" को मानते थे। उनका दिल उस समय रो उठा था, जब पं० मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में आयोजित हिन्दू संगठन की सभा में एक अछूत को अपने विचार प्रकट करने से रोक दिया गया था। स्वामी श्रद्धानन्द ने ३१ मार्च १६१६ की घटनाओं का विवरण इस प्रकार दिया था- "३१ को पचास हजार मातमदारों के साथ मैं कब्रिस्तान की ओर चला, मुसलमान शहीद का जनाजा हिन्दू बराबर कन्धा दे रहे थे। शहीद की कब्र पर उसके खून के पैबन्द से बरसों के बिछुड़े हुए दिल एक दूसरे से जुड़ गए थे। फिर शाम को दो और जनाजे कब्रिस्तान की ओर चलते करके मैं तीन अर्थियों के साथ श्मशान भूमि में पहुंचा और दाहकर्म के पीछे परमेश्वर के दरबार में शान्ति के लिए प्रार्थना की और हिन्दू मुसलमानों को ईश्वर दत्त एकता को स्थिर रखने के लिए अपील की तो एक सिक्ख भाई ने कहा- "हम पर क्यों जुल्म करते हो ? सिक्ख भी कौम के साथ हैं।" उन हजारों की भीड़ में उस समय सैंकड़ों की आँखों से प्रेम की जलधारा बह रही थी और जब मैं श्मशान भूमि से चल दिया, तो प्रिंसिपल सुशील कुमार रुद्र आकर गले मिले और कहा- "मातृभूमि के निरपराध पुत्रों पर अत्याचार नहीं देख सकता, मेरा हृदय जाति के साथ है और प्रत्येक सच्चा ईसाई आपके साथ है।"

स्वामी जी के इन शब्दों को सुनकर कौन होगा, जो उन्हें संकुचित दायरों में बांधने का प्रयत्न करे। वह सारे मानव समाज के थे, पूरा राष्ट्र उनका अपना था। उनकी शहादत सूर्य का वह प्रकाश है जो सब पर समान रूप से पड़ता है और जीवन का संचार करता है।

४ अप्रैल १६१६ की घटना हिन्दू मुस्लिम एकता का एक विशिष्ट उदाहरण है। स्वामी जी महाराज ने दिल्ली की शाही जामा मस्जिद से वेदमंत्र **"त्वं हि नः पिता वसो, त्वं माता शतक्रतो"** के साथ अपना संदेश आरंभ किया था। इसके बाद उन्होंने फतहपुरी मस्जिद में भी जनता को संबोधित किया था। "हिन्दू मुसलमानों को और अधिक संगठित होकर देश की परतंत्रता की बेड़ियां काटनी है। "उनकी मान्यता थी कि हिन्दूओं और मुसलमानों की एकता के द्वारा ही राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता को प्राप्त किया जा सकता है।

सन् १६२२ में पंजाब में अजनाला के पास "गुरु का बाग" को लेकर सिक्खों ने मोर्चा लगाया हुआ था। उसमें भाग लेने के लिए स्वामी जी अमृतसर पहुंचे और अकालतख्त से अपना सुप्रसिद्ध व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान ने हिन्दू-सिक्ख एकता को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

जिस समय अब्दुल रशीद अपनी मूर्खताभरी चेष्टा से इस्लाम के माथे पर कलंक का टीका लगा रहा था, उधर गोहाटी में अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन की तैयारियाँ हो रही थीं। स्वागताध्यक्ष महोदय ने स्वामी जी को उसमें आमंत्रित किया। वे स्वयं तो रुग्णावस्था के कारण उसमें सम्मिलित न हो सकते थे, परन्तु उस समय उन्होंने जो तार द्वारा संदेश भिजवाया, वह एकता का यज्ञ है-

"On Hindu-Muslim unity depends future well being of India"
"अर्थात्! भारत का भावी सुख हिन्दू मुस्लिम एकता पर आश्रित है।"

स्वामी जी महाराज एकता पर कितना बल देते थे, यह उनके इन कथनों से सर्वथा स्पष्ट है : "मैं धमकियों से पूर्ण संदेश भेजने वालों को ऐसा पतित नहीं समझता जैसा कि वे स्वयं अपने आपको समझते हैं। जो मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं, उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे मुसलमान भाइयों के प्रति सहिष्णुता दिखाएं और मुझे अपने माने हुए सिद्धान्तों की रक्षा में सहायता दें।"

निस्संदेह राजनीतिज्ञों और योद्धाओं का किसी जाति के निर्माण करने में बड़ा हाथ होता है। परन्तु उनके नाम सहज में ही भूल जाते हैं, ज़बकि उन महात्माओं के नाम जो किसी जाति के नवीन जीवन को बनाते हैं, आगामी नस्लों की स्मृति में सदा बने रहते हैं। उन्हीं में स्वामी श्रद्धानन्द जी थे। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। इसके लिए उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

जो सोचते हैं कि वे किसी एक साम्प्रदायिक भावना से परिपूर्ण थे, वे गलती पर हैं, स्वामी जी महाराज तो इन छुद्र सीमाओं से ऊपर उठ चुके थे। वे कर्म, अकर्म और विकर्म का भेद जानते थे। उनके विचार उदार थे। उनका हृदय विशाल था। उनका कर्तृत्व सहिष्णु था। उनकी विनम्रता, निर्भीकता, बलिदान का भाव और अटल विश्वास ही उनके जीवन का श्रृंगार थे। वे मनुजता का मान थे। वे शूरता की शान थे। वे ऋषियों की आर्ष आन थे। वे भारत भू का अभिमान थे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, सत्यनिष्ठ, कर्त्तव्यपरायण, ईश्वर विश्वासी, स्वाभिमानी, निर्भीक, आदर्श आचार्य, छात्र वत्सल, दृढ़ सिद्धान्तवादी, सभी कार्यों में अग्रणी, सर्वस्व समर्पण कर्ता, एकता के सूत्रधार राष्ट्रनायक स्वामी श्रद्धानन्द को हमारी विनत श्रद्धाञ्जलि।

-कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४६४०४

उन्नति के शिखर पर क्रमिक आरोहण

डॉ० भवानीलाल भारतीय
8/423, रत्नाकर, नन्दनवन, जोधपुर (राज०)

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन अधः पतन के गहरे गर्त से निकलकर सार्थकता के सर्वोच्च सोपान पर चढ़ जाने की एक गौरवमयी कथा है। अपनी किशोर और युवा अवस्था में चारित्रिक पतनों की विभीषिकाओं उन्हें समय-समय पर त्रस्त और भयभीत तो किया किन्तु उन पर विजय प्राप्त करने की उनकी चेष्टायें भी निरन्तर चलती रहीं और अन्ततः पर्याप्त प्रयास के पश्चात् ही सही, वे अपनी इन क्षुद्र इन्द्रियजन्य दुर्बलताओं को नियन्त्रित कर सकें। उनके जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन तब आया जब बरेली में उन्हें ऋषि दयानन्द के तेजः पूत, ब्रह्मचर्य की गरिमा से उद्दीप्त, लोकहित के प्रति पूर्णतया समर्पित, सत्य और धर्म के लिए सर्वथा संकल्पित व्यक्तित्व को जानने का अवसर मिला।

यूरोप के प्रखर चिन्तकों और तार्किक दार्शनिकों के विचारों के रंग में रंग मुंशीराम को प्रथम बार ज्ञात हुआ कि भारत का यह साधु जो सर्वथा निरासक्त जीवन व्यतीत करते हुए भी समाज और राष्ट्र की कल्याण कामना करता है तथा लोगों के बौद्धिक क्षितिज के विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है, कोई काम की बात कह सकता है। अन्यथा दयानन्द की वक्तृता सुनने से पहले तक तो उसे विश्वास ही नहीं था कि भारत का भिक्षोपजीवी सन्यासी वर्ग भी कोई अक्ल की बात करता है।

दयानन्द का यह सम्पर्क ही मुंशीराम के जीवन की पतन को कारा से मुक्त करा सका और उसके पश्चात् उनकी जीवनधारा जिस दिशा की ओर उन्मुख हुई उससे वे निरन्तर श्रेय साधना में ही लगे रहे। श्रद्धानन्द का जीवन श्रद्धा और विश्वास के दो सूत्रों से सतत ओतप्रोत रहा। जिन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में उनकी आस्था रही, उनको स्वयं में लाने तथा अन्यों में प्रचारित करने में वे सदा तत्पर रहे इसी प्रकार जिन विचारों और कार्यक्रम के प्रति उनकी आस्था समाप्त होती गई उनको त्यागने में भी उन्हें संकोच नहीं हुआ। लाहौर में रहते समय वे ब्रह्मसमाज तथा आर्य समाज के प्रति समान रूप से आकर्षण का अनुभव करते थे, किन्तु जब अपनी पुनर्जन्म विषयक जिज्ञासा का समाधान उन्हें सत्यार्थप्रकाश में मिला तो वे दयानन्दीय विचारधारा के प्रति पूर्णतया अनुरक्त और समर्पित हो गये तथा अपने शेष जीवन को आर्य समाज के प्रचार प्रसार में ही लगा दिया।

सार्वजनिक जीवन

श्रद्धानन्द का सार्वजनिक जीवन निरन्तर विवेकशील रहा किन्तु उनका केन्द्र बिन्दु आर्य समाज ही था जो धर्म समाज और राष्ट्र के कल्याण के साथ विराट् मानवहित जैसे लोकोत्तर आदर्श को लक्ष्य बनाकर जनमानस को आन्दोलित और प्रभावित करता था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में वे अपने जन्म प्रान्त पंजाब की आर्यसामाजिक गतिविधियों के सूत्राधार बने रहे। जालन्धर के प्रधान पद पर रहकर उन्होंने धर्म प्रचार की मस्ती को अनुभव किया तथा अपने आचार्य देव के स्वप्नों को सार्थक बनाने हेतु अधिकतम त्याग, परिश्रम अध्यवसाय और पुरुषार्थ का जीवन जिया। लाहौर के उनके सामाजिक जीवन ने उन्हें आर्यसमाज के एक दल के गौरवशाली नेता के पद पर प्रतिष्ठित किया, जो उतना ही अधिक चुनौती भरा भी सिद्ध हुआ।

जब मांसाहार के विरोध तथा पाश्चात्य शिक्षा की प्रधानता न देकर गुरुकुलीय शिक्षा के प्रवर्तन जैसे मुद्दों पर उनका विपक्षी दल से टकराव हुआ, तो मुन्शीराम की चारित्रिक दृढ़ता, सिद्धान्त निष्ठा तथा वैदिक धर्म के प्रति उनके अनन्य प्रेम के ही परीक्षा हुई। दलीय संघर्ष की इस अग्नि ने तपाकर मुन्शीराम को कुन्दन बना दिया और अब वे मात्र आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के ही प्रधान नहीं रहें, किन्तु सम्पूर्ण आर्य जगत् के बेताज बादशाह बन गये। उनके समक्ष विरोध पक्ष के साधारण नेता तो बौने ही लगते थे। महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय की ख्याति तथा प्रसिद्धि के तो कुछ कारण भी थे।

लाला मुंशीराम के आर्य समाज में प्रविष्ट होते समय लाहौर आर्य समाज के पितामह तुल्य लाला सांईदास ने कहा था कि आज एक नई शक्ति का आर्य समाज में प्रवेश हो रहा है, पता नहीं, यह आर्य समाज को तारेगी या डुबायेगी। श्रद्धानन्द चरित का पूर्ण अवगाहन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मुन्शीराम नाम का जो व्यक्ति उस दिन आर्यसमाज लाहौर का सभासद बना था, उसने ऋषि दयानन्द की इसी दिव्य संस्था के गौरव को चार चांद ही लगाये हैं। आज आर्य समाज के १२३ वर्ष के इतिहास में दयानन्द के पश्चात् श्रद्धानन्द से भिन्न हमें कोई ऐसी हस्ती दिखाई नहीं देती, जिसने धर्म, समाज राष्ट्र तथा अखिल मानव जाति के हितचिंतन में अपने आपको इस प्रकार सर्वथा समर्पित किया हो।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

भारतीय शिक्षा प्रणाली में पुरातन तत्वों को पुनः प्रविष्ट कराना तथा उसे नैतिकता, चरित्र, धर्म, त्याग और बलिदान की सिद्धि में नियोजित करना महात्मा मुन्शीराम का एक अन्य ऐतिहासिक कार्य था। जो लोग श्रद्धानन्द का एक आर्यसमाजी

नेता के रूप में मूल्यांकन नहीं करते, वे भी मानते हैं कि भारत की शिक्षा में नैतिक मूल्यों का प्रवेश उनके द्वारा ही सम्भव हुआ। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय तो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की प्रतिद्वन्द्विता में स्थापित पाश्चात्य प्रणाली की एक शिक्षण संस्था ही बनकर रह गई, किन्तु गुरुकुल कांगड़ी तो भारत की पुरातन शिक्षा व्यवस्था को ही पुनरुज्जीवित करने का एक सार्थक प्रयास था, जिसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत साहित्य तथा आर्ष ग्रन्थों में तो उपलब्ध होता है, किन्तु विगत अनेक शताब्दियों तक उसके अनुरूप कोई संस्था सचमुच भारत में पनप सकी है, यह कहना कठिन है। गुरुकुल की शिक्षा पद्धति को देखकर यदि देश भक्त एण्ड्रज तथा इंग्लैंड के रैमजे मैकडानल्ड जेसे राजनीतिज्ञों को आश्चर्य मिश्रित प्रसन्नता हुई तो महात्मा गांधी जैसे भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने भी उसकी प्रशंसा करने में कंजूसी नहीं दिखाई यह दूसरी बात है कि कालान्तर में वही गुरुकुल कांगड़ी अपने संस्थापक के आदर्शों से च्युत होकर पश्चिम की प्रणाली पर संचालित भारत की उन सैंकड़ों यूनिवर्सिटियों में एक बनकर रह गया और उसकी सारी विशिष्टतायें उसके संचालकों की अक्षमता, दृष्टिहीनता तथा गुरुकुलीय आदर्शों के प्रति आस्था के अभाव के कारण एक-एक कर नष्ट होती गई।

गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य पद पर अपने जीवन के लगभग दो दशक व्यतीत करने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द को लगा कि अब उन्हें गुरुकुल की प्राचीरों से बाहर निकलकर देश की स्वाधीनता के यज्ञ में भी अपनी आहुति देनी है। दक्षिण अफ्रीका में कुछ ठोस सेवा करके लौटने वाले जिस कर्मवीर गांधी का उन्होंने गुरुकुल में उस समय स्वागत किया था जबकि देश के अधिकांश लोग उसे भलीभांति जानते भी नहीं थे; और जिसे उन्होंने 'महात्मा' कहकर पुकारा था, सौराष्ट्र का वही "बैरिस्टर मोहनदास गांधी" अब भारत के जन मन की आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक बन देश में सर्वत्र देवता की भांति पूजा और आराधना का पात्र बना हुआ था। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अनुभव किया कि देश के लिए भी कुछ करने का समय आ गया है। १६१७ से १६२२ तक के पाँच वर्ष राष्ट्रदेव की सेवा में उन्होंने सिपाहियों की संगीनों के प्रहार के लिए अपनी छाती खोल दी। जामा मस्जिद की प्रवचन वेदी से परम पिता की पुनीत महिमा का आख्यान करते हुए हिन्दू और मुसलमानों को देश के लिए सर्वस्व निछावर करने की प्रेरणा की। कांग्रेस की उच्चकमान के एक महत्वपूर्ण अंग बन कर इस राष्ट्रीय संस्था की नीतियों का संचालन किया और समकालीन राष्ट्र नेताओं के आदरास्पद बने।

राजनीति में धर्म, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के पावन मूल्यों को समाविष्ट

कराने का श्रेय महात्मा गांधी को बेशक मिला, किन्तु इसके लिए इतिहासकार स्वामी श्रद्धानन्द को भी विस्मृत नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उन्होंने ही सत्याग्रह को धर्मयुद्ध की संज्ञा दी तथा जिन्हें अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पद को स्वीकार करने का अनुरोध करते समय महात्मा गांधी जी ने लिखा था "यदि आप स्वागत समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे।"

कांग्रेस को देन

कांग्रेस के कार्यक्रम में स्वदेशी के महत्व, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार तथा अछूतोद्धार जैसे रचनात्मक मुद्दों को स्थान दिलाने के लिए स्वामी जी का कर्तत्व सदा याद किया जाता रहेगा। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में उनकी कितनी जबरदस्त आस्था थी, यह उनके उस पत्र में देखते हैं, जो उन्होंने २५ सितम्बर १६२० को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी को लिखा था। इसमें उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि "इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि का भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। जाति के जीवन व मृत्यु का प्रश्न हो गया है।" राष्ट्र की लड़ाई के सैनिक बनने में यदि उन्हें गुरुकुल या आर्य समाज का काम थोड़े समय के लिए छोड़ना भी पड़ा तो उसका उन्हें कोई खेद नहीं था, क्योंकि उन्हें देश की स्वतन्त्रता का यह युद्ध सर्वोपरि दीखता था।

किन्तु जब उन्होंने देखा कि आजादी की लड़ाई का यह कर्णधार (महात्मा गांधी) खुद कभी कभी सनक में आकर ऐसे फैसले कर जाता है जिससे सारे देश को परेशानी का सामना करना पड़ता है और देशवासियों की संघर्ष करने की शक्ति और वृत्ति को आघात पहुंचता है, तो उन्होंने गांधी जी के समक्ष भावना और आवेश में लिए उनके इन फैसलों का प्रतिवाद भी किया। गांधी जी ने तो स्वयं अपने कतिपय निर्णयों को हिमालय जैसी भूल माना ही था। गांधी जी की मुस्लिमतोषिणी नीति से भी वे सहमत नहीं थे। यदि महात्मा गांधी हिन्दुओं और मुसलमानों को समान स्तर पर रखकर उनकी किसी आपत्तिजनक बात की आलोचना या टीका करते तो वह समझ में आने वाली बात थी। किन्तु मुसलमानों की साम्प्रदायिक विद्वेशयुक्त बातों को सहन करना एवं उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति के प्रति अकारण उदारता दिखाना स्वामी श्रद्धानन्द को कदापि पसन्द नहीं था।

कांग्रेस छोड़ी

अन्ततः वे कांग्रेस से भी दूर हट गये। उनके विचार में देश में हिन्दू समाज का

बहुमत है। देश के हित भी तभी तक सुरक्षित हैं जब तक हिन्दू यहाँ रहकर सम्मान और गौरव का जीवन बिताते रहें। किन्तु सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से असंगठित हिन्दुओं को जब तक एकता के सूत्र में आबद्ध नहीं किया जाता, तब तक वे देश की स्वाधीनता, उन्नति और प्रगति के लिए अपना समुचित योगदान करने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दुओं को संगठित होने की प्रेरणा दी।

संगठन अपने आप में तो एक निराकार विचार-सा ही है। जातियों को संगठन का लाभ तभी मिलता है जब वे अपनी सामाजिक दुर्बलताओं को दूर करती हैं तथा भाव,भाषा विचार, संस्कृति और जीवन दर्शन में समरसता रखती हैं। हिन्दू जाति का संगठन तभी संभव था यदि उसके नेता दलित वर्गों की समस्याओं और कठिनाइयों का तत्काल समाधान ढूंढ़ते और शताब्दियों से पीड़ित तथा ठुकराये गए इन लोगों को उनके अधिकार प्रदान करते।

शुद्धि आन्दोलन

इसी प्रकार कारणवश अन्य मतों में चले गए लोगों को अपने धर्म में प्रविष्ट करने के लिए चलाये गये शुद्धि आन्दोलन की सफलता भी संगठन का एक साधन बन सकती थी। अतः अब स्वामी श्रद्धानन्द का समस्त ध्यान, शुद्धि, अछूतोद्धार तथा सामाजिक कुरीतियों के निवारण जैसे कार्यक्रमों पर ही लगा। उनके प्रयासों को तब धक्का लगा, जब उन्होंने देखा कि संकीर्ण बुद्धि वाले सनातनी समाज को न तो अछूतों को उनका प्राप्य देना ही पसन्द है और न वे शुद्ध होकर हिन्दू धर्म में प्रविष्ट लोगों को ही दिल खोल कर अपनाने के लिए तैयार हैं। यद्यपि पं० मदनमोहन मालवीय जैसे उदार नेताओं के प्रभाव में आकर अधिकांश हिन्दुओं ने अछूतोद्धार तथा शुद्धि के कार्यक्रम को माना तो अवश्य, किन्तु श्री भारती कृष्णतीर्थ तथा अन्य पौराणिक नेताओं ने आर्यसमाज के प्रति अपनी मात्सर्य वृत्ति का ही परिचय दिया। उन्हें आशंका थी कि इन कार्यक्रमों को सफल बना कर आर्यसमाज अपने प्रभाव की वृद्धि कर रहा है। स्वामी श्रद्धानन्द के लिये यह सर्वथा अनपेक्षित था और अब वे हिन्दू महासभा से भी निराश हो गये।

अन्ततः उन्होंने कवि गुरु की 'एकला चलो' की नीति ही अपनानी पड़ी। अब वे अपने कार्यक्रमों के लिये आर्यसमाज के लोगों पर ही निर्भर हो चले और सभी के सहयोग से उन्होंने शुद्धि और संगठन का शंखनाद किया। इन कार्यक्रमों में महात्मा हंसराज के नेतृत्व में कालेज दल ने भी उन्हें पूरा-पूरा सहयोग दिया कि ऋषि दयानन्द के अनुयायी धर्म और समाज के व्यापक हित में कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ सकते हैं। ऐसे कर्मयोगी श्रद्धानन्द का जीवन जितना शानदार था, उनकी मृत्यु भी उतनी ही गौरवशालिनी थी, जिस पर महात्मा गांधी को भी ईर्ष्या करनी पड़ी।

स्वामी श्रद्धानन्द : एक अनुपम व्यक्तित्व

लेखक : स्व. क्षितीश वेदालंकार

पाश्चात्य सभ्यता ने हमें यह सिखाया है कि यदि आदमी का बाहरी रूप, रंग वेष-विन्यास, बोल-चाल और रहन-सहन देखने में ठीक-ठाक हो, तो वह आदमी सभ्य कहलाने के योग्य है। उसके मानसिक विचार कैसे हैं और उसका आन्तरिक तथा घरेलू जीवन कैसा है, इससे किसी को क्या वास्ता ! इसी से आधुनिक सभ्य समाज में यह परम्परा चल पड़ी है कि किसी व्यक्तिं के "प्राइवेट लाईफ" की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, केवल उसका सामाजिक जीवन ही हमारी चर्चा का विषय हो सकता है। खोजी पत्र-कारिता के आजकल के युग में जब राजनेताओं के निजी जीवन के सम्बन्ध में नित्य नये विस्फोट होते हैं। तब सभ्यता के उक्तं आधुनिक सूत्र की ओट ही सबसे अधिक ली जाती है। परन्तु भारतीय सभ्यता इस .... के पक्ष में नहीं है। उसने तो सज्जनता की कसौटी यही निर्धारित की है। कि जो मन वचन और कर्म में एक जैसा हो, जिसकी कथनी और करनी में कोई अन्तर न हो, जिसका अन्दर और बाहर परस्पर विरोधी न हो, जिसके सामाजिक और घरेलू जीवन में विरोध दिखाई न दे, वही सज्जन है। नीतिकारों ने कहा है-

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

आधुनिक राजनैतिक नेताओं को 'दुरात्मा' कहने की हिम्मत तो नहीं होती, भले ही मन-वचन और कर्म में असामंजस्य को ही वे अपनी राजनीति-निपुणता समझते हैं। कभी-कभी तो वे अपने मन में इस बात पर गर्व करते हुए प्रतीत होते हैं कि हमने जनता को कैसा बेवकूफ बनाया है। परन्तु ऋषि दयानन्द और उनके शिष्यों की लम्बी श्रेणी पाश्चात्य सभ्यता के उक्त उद्घोष को सबसे अधिक अनर्थकारी मानती है। इस दृष्टि से यदि ऋषि दयानन्द अनुपम और अद्वितीय थे, तो अपने आपको ऋषि का शिष्य कहने में गर्व अनुभव करने वाले और उनकी प्रेरणा से ही कुपथ से निकल कर सुपथ पर चलने वाले स्वामी श्रद्धानंद भी अनुपम और अद्वितीय थे। देव दयानन्द ने कितनी पतित आत्माओं का उद्धार किया और उन्हें इतिहास में स्मरणीय बनाया, इसकी गिनती करना कठिन है। स्वामी श्रद्धानंद ने अपनी आत्मकथा में, जो कल्याण मार्ग के पथिक

के नाम से जीवनी साहित्य का अद्भुत ग्रन्थ है अपने मद्यपान के त्याग के एक प्रसंग का वर्णन करते हुए अपने गुरु के आध्यात्मिक प्रभाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं -

"पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिये उसके प्रलोभन से मुक्त हो जाऊँ। इस विचार से पूरा बड़ा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने से एक पर्दा उठा और यतिवर दयानन्द की विशाल मूर्ति कौपीन लगाए, शरीर में भभूत रमाए और हाथ में मोटा लट्ठ लिये सामने आ खड़ी हुई। ऐसा लगा मानो महात्मा कह रहे हैं- "क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा ?" मैंने आँखें मलीं, मूर्ति कहीं सामने न थी। परन्तु हृदय काँप गया। गिलास उठाकर जो फेंका तो सामने की दीवार में लगकर चूर-चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर जोर से फेंकीं वह भी दीवार से टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गई।

योगिराज दयानंद की इसी छवि ने मुंशीराम को अनेक स्थानों पर पतन के मार्ग से बचाया इसीलिए अपने गुरु को श्रद्धा सहित स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा था-

"ऋषिवर, तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे अब (सन् १९२५ में) ४२ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय पटल पर अब तक ज्यों की त्यों अंकित हैं। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौनमरण धर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी ही बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी ही आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है। परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि से संसार में प्रचालित कितने पापों को दग्ध कर दिया, परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूं कि तुम्हारे सहवास ने मुझे किसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन-लाभ करने योग्य बनाया। भगवन्, मैं तुम्हारा ऋणी हूं मुझे अपना सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करें।"

स्वामी दयानन्द की कथनी और करनी में कैसी एकरूपता थी, इसके अनेक उदाहरण उनके जीवन से दिये जा सकते हैं। वे अपनी मान्यताओं के कितने पक्के थे और उसके लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहते थे, इसके उदाहरण भी उनके जीवन में भरे पड़े हैं। परन्तु जिस अनुपमता की ओर हम पाठकों का ध्यान

खींचना चाहते हैं। वह और हैं।

महात्मा गांधी और स्वामी श्रद्धानन्द में परस्पर कितना स्नेह था इसकी कल्पना संभवतया आज की पीढ़ी को नहीं होगी। महात्मा गांधी को "महात्मा" के पद से सुशोभित करने वाले सबसे पहले महात्मा मुंशीराम ही थे। उसके बाद तो महात्मा गांधी के साथ "महात्मा" शब्द ऐसे चस्पां हो गया जैसे वह गाँधी का पर्यायवाची ही हो। महात्मा गाँधी उनको हमेशा अपने बड़े भाई का सा आदर देते थे। जब गाँधी जी पहली बार दक्षिण अफ्रीका से भारत आये थे तो अपने आश्रमवासी छात्रों के साथ सीधे गुरुकुल कांगड़ी ही पहुंचे थे और वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा मुंशीराम का चरण स्पर्श किया था। उसके बाद कई महीने तक गाँधी जी के फोनिक्स आश्रम के वे विद्यार्थी गुरुकुल कांगड़ी में ही रहे और गुरुकुल के वातावरण से तथा महात्मा मुंशीराम जी के स्नेह से वे इतने ओतप्रोत हो गये थे कि गांधी जब भी स्वामी जी को पत्र लिखते तो वे हमेशा यही कहते कि मेरे आश्रम में कब आयेंगे। गांधी जी का यह प्रेम ही स्वामी श्रद्धानन्द को राजनीति में खींच लाया था और वे सत्याग्रह आन्दोलन के प्रमुख नेता और महान् स्वतन्त्रता सेनानी बने थे।

सन् १६१६ में जब अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन करने का निश्चय हुआ तब यह समस्या खड़ी हुई कि स्वागताध्यक्ष कौन बने। जालियांवाला बाग में जैसा भीषण हत्याकाण्ड हो चुका था उसके कारण जनता बहुत क्षुब्ध और त्रस्त थी और ऐसे वातावरण में अन्य कोई भी नेता स्वागताध्यक्ष बनने को तैयार नहीं था। अन्ततः स्वामी जी से अनुरोध किया गया तो उन्होंने स्वीकृति देने से पूर्व गांधी जी की स्वीकृति प्राप्त करना उचित समझा और उन्हें पत्र लिखा गांधी जी ने उसका उत्तर इस प्रकार दिया-

"यदि आप स्वागत समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिए आपको स्वागत समिति का सभापति होना ही चाहिए। यही सलाह मैं आपको दे सकता हूं।"

कहना नहीं होगा कि कांग्रेस के अधिवेशन में पहली बार हिन्दी में भाषण देने वाला और अछूतोद्धार की चर्चा करने वाला यदि कोई राजनेता हुआ तो वह केवल स्वामी श्रद्धानंद थे। उसके बाद जब गाँधी जी ने खिलाफत आन्दोलन के नाम से सत्याग्रह

चलाया तो स्वामी श्रद्धानन्द उसमें सहर्ष शामिल हो गये और खिलाफत कमेटी के अध्यक्ष भी बने। उसी दौरान जामा मस्जिद के मेम्बर से वेदोपदेश देने का सौभाग्य भी आज तक यदि किसी गैर मुसलमान को मिला तो वे केवल स्वामी श्रद्धानंद थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के वे इतने प्रबल पक्षधर थे कि 'हम' शब्द की व्याख्या में वे 'ह' से हिन्दू और 'म' से मुसलमान अर्थ करते थे।

पाठकों को आश्चर्य होगा जब टर्की में कमालपाशा विजयी हुआ यहां मस्जिदों में दीवाली मनाई गई। स्वामी श्रद्धानंद ने भी अपने निवास स्थान पर खुशी के मारे दीपकों की पंक्ति प्रज्ज्वलित की। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने उनसे पूछा- स्वामी जी आपने यह क्या कर रखा है ? स्वामी जी ने गम्भीरता से जबाब दिया 'हमें मुसलमानों से या उनके धर्म से जरा भी द्वेष नहीं होना चाहिए। कमालपाशा की विजय न्याय की विजय है। अतः यह हमारी भी विजय है। परन्तु उसी स्वामी श्रद्धानंद ने जब मौलाना मौहम्मद अली और शौकत अली के बयान पढ़े और उनको यह लगा कि खिलाफत के नाम से ये लोग भारत में पुनः इस्लामिक सल्तनत का स्वप्न देखते हैं तो उन्होंने खिलाफत कमेटी से इस्तीफा देने में भी देर नहीं लगाई।

उसके बाद जब स्वामी जी ने अछूतोद्धार का प्रोग्राम कांग्रेस के प्रोग्राम में प्रयत्नपूर्वक शामिल करवाया परन्तु कांग्रेसी नेताओं की इन प्रोग्रामों के प्रति उपेक्षा देखी, तो उन्हें कांग्रेस की कार्यसमिति से इस्तीफा देने में भी देर नहीं लगी। तदन्तर वे हिन्दू महासभा में शामिल हुए। परन्तु जब अछूतोद्धार के प्रति हिन्दू नेताओं को भी उन्होंने ईमानदार नहीं पाया तो स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दू महासभा भी छोड़ दी।

कथनी और करनी की ऐसी एक रूपता किसी अन्य राजनेता में तो दिखाई नहीं देती। अनुपम गुरु का यह अनुपम शिष्य भावी पीढ़ी के लिए सही और सच्चा मार्ग दिखा गया है।

-२५ दिसम्बर १६८८ के साप्ताहिक
'आर्यजगत्' से साभार।

दो संतों की प्रगाढ़ता : पत्रों के झरोखों से

डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार
पंतनगर-263145

फरवरी १६११, गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक महात्मा मुंशीराम को दिल्ली के एक महाविद्यालय में "ब्रह्मचर्य का महत्व" विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। उसी महाविद्यालय में श्री सी.एफ.एण्डूज भी पढ़ाते थे। व्याख्यान की समाप्ति पर श्री एण्डूज महात्मा जी से मिलने आये। प्रथम भेंट में ही वे दोनों एक दूसरे के विचारों से प्रभावित हुए। इसके बाद श्री एण्डूज इंग्लैण्ड चले गये। जब वे पुनः भारत आये तो उन्होंने २१ जनवरी १६१३ को महत्मा मुंशीराम को एक पत्र लिख कर उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की :

"मेरे प्यारे महात्मा जी, जब से हम दिल्ली में मिले हैं तब से मैं आपसे मिलने के लिए अत्यन्त लालायित हूँ। हालांकि मैं इस समय अस्वस्थ हूं, पर मुझे विश्वास है कि आपके साथ मैं पूर्ण स्वस्थ एवं प्रसन्न रहूंगा।"

इस पत्र को पाते ही महात्मा मुंशीराम ने श्री एण्डूज को गुरुकुल आने का औपचारिक निमंत्रण भेज दिया। तदुपरांत श्री एण्डूज सेंट स्टीफेन्सन कॉलेज दिल्ली के प्रिंसिपल श्री सुशीलकुमार रुद्र के सुपुत्र सुधीर रुद्र के साथ गुरुकुल पधारे और कुछ दिन वहां निवास किया। इस निवास-काल में श्री एण्डूज महात्मा मुंशीराम और गुरुकुल से इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे महात्मा जी को अपने संपर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट और उनके दृष्टिकोण को असाधारणरूप से कहीं अधिक व्यापक मानने लगे थे। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर को लिखे एक पत्र में उन्होंने एतद्विषयक अपने उद्‌गारों को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया : "मैं कुछ सप्ताह से हरिद्वार गुरुकुल में रह रहा हूँ। महात्मा मुंशीराम अब तक मेरे संपर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट हैं और उनका दृष्टिकोण आर्यसमाज के सामान्य आदर्श की अपेक्षा असाधारण रूप से कहीं अधिक व्यापक है। यही कारण है कि उनके साथ रहने की मेरी उत्कण्ठा अधिक प्रबल हो गयी है। दूसरी एक सामान्य सी बात यह हुई है कि मैं अब विशुद्ध शाकाहारी हो गया हूँ और इससे मुझे बहुत अधिक लाभ भी हुआ है। शाकाहारी न होने के कारण स्वास्थ्य

खराब रहने की जो समस्या उग्र रूप में आ खड़ी होती थी, वह संभवतः अब समाप्त हो गयी है। मैंने यह सब महात्मा जी, आप और श्री बिल्ली पीयर्सन के अलावा अन्य किसी को नहीं बतायी है, हालांकि श्री रुद्र इस बारे में थोड़ा-बहुत जानते हैं।"

यही नहीं, महात्मा मुंशीराम जी के प्रेमपूर्ण व्यवहार और गुरुकुल के वातावरण ने श्री एण्डूज के मानस-पटल पर ऐसा घर कर लिया कि गुरुकुल से लौटने के बाद भी वे उसे याद करते रहे। यह तथ्य उनके द्वारा २० अप्रैल १६१३ को महात्मा मुंशीराम जी को लिखे गये पत्र की निम्न पंक्तियों से स्वतः पुष्ट होता है :

"मैं आज सारे दिन आपको याद करता रहा और अब शाम के समय आपको विशेष रूप से स्मरण कर रहा हूँ। प्रिय महात्मा जी, मैं बता नहीं सकता कि मैं आपको कितना अधिक प्यार करता हूँ, परन्तु आप इसे बिना कहे ही समझ सकते हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि यह महान् प्रेम कहां से उत्पन्न हुआ है, वस्तुतः यह परमात्मा की देन है और इसके लिए मैं उसका धन्यवाद करता हूँ, क्योंकि यह उसके हाथों से अब तक प्राप्त उपहारों में सर्वश्रेष्ठ है।"

प्रिंसिपल रुद्र के पुत्र सुधीर पर भी गुरुकुल के रहन-सहन आदि का अमिट प्रभाव पड़ा था। श्री एण्डूज के शब्दों में :

"सुधीर ने मुझे बताया है कि गुरुकुल - निवास के दौरान वहां के वातावरण ने उसके मन पर जो अमिट छाप छोड़ी हैं, वैसी उसके संपूर्ण जीवन में किसी अन्य चीज से नहीं पड़ी। उसके हृदय में मातृभूमि भारत के लिए प्रेम की जो चिनगारियां अस्फुट रूप से निकल रही थीं, गुरुकुल जाकर वे ज्वाला रूप में प्रकट हो गईं। गुरुकुल के आदर्शों तथा आपके प्रति श्रद्धा का जो ज्वार उसके हृदय में उमड़ पड़ा है, वह वर्णनातीत है। अभी तक उसके मन की यह अवस्था है, यद्यपि परीक्षाएं निकट हैं, तथापि उसका हृदय उन्हीं दिव्य अनुभूतियों में ऐसा ओतप्रोत है कि वह उनके अतिरिक्त अन्य किसी बात में अभीरुचि नहीं दिखाता। सुधीर को आपके शिष्यों से जो स्नेह और पवित्र संवेदन मिला, वह उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता। (श्री एण्डूज द्वारा महात्मा जी को २१ अप्रैल १६१३ को लिखे पत्र का अंश)

इस पत्र को पाकर महात्मा मुंशीराम जी गदगद हो गये और उन्होंने २५ अप्रैल,

१९१३ के पत्र द्वारा अपने जीवन-निर्माण का सार श्री एण्डूज के समक्ष प्रकट करने में तनिक भी संकोच नहीं किया :

"आपका २१ अप्रैल का पत्र पाकर मुझे वह प्रसन्नता हुई जो पिछले २८ वर्ष के कार्यकाल में कदाचित् ही हुई होगी। शायद आपको नहीं मालूम कि मैं होश संभालने के बाद ६ वर्ष तक नास्तिक था। तब ईश्वरीय कृपा से एक दिन अकस्मात् महर्षि दयानन्द के दिव्य दर्शन ने मेरी अंधकारपूर्ण अंतरात्मा को नया प्रकाश दिया। मैंने अपने संशय ऋषि दयानन्द के सामने प्रकट किए। जब मैंने कहा- "मेरा मन अब भी संशयालु है", तो ऋषि ने उत्तर दिया- "तुमने प्रश्न पूछे थे, मैंने प्रश्न का उत्तर दे दिया। मैंने यह नहीं कहा था कि तुम्हारे हृदय में विश्वास पैदा कर दूंगा। विश्वास की ज्योति जगाना तो प्रभु का ही कार्य है। उसकी ही कृपा होगी तो वह तुम्हारे हृदय में श्रद्धा की ज्योति जगायेगा। और सचमुच अब वह समय आ गया कि मेरे मन में प्रभु के प्रति जो असीम श्रद्धा है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती। संघर्ष मेरे जीवन का अंग बन चुका है। आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में मेरा जीवन पूर्णतया संघर्षमय हो गया है। दिव्य जगन्माता को ही मालूम है कि पिछले २८ वर्षों में मुझे कितने कठोर प्रहारों से जूझना पड़ा। आपके पवित्र हृदय से निकले शब्दों ने भी मेरे २८ साल के संतप्त हृदय पर मरहम का काम किया है। मेरी आत्मा को आपके निश्छल स्नेह से असीम सात्विक आनन्द प्राप्त हुआ है। यह भी जगन्माता का आशीर्वाद है। आज मैं फिर यह मानता हूँ, कि मेरी २९ वर्ष की तपस्या सार्थक हुई है।"

महात्मा जी के इस पत्र के उत्तर में श्री एण्डूज ने "मेरे प्रियतम मित्र" संबोधन के साथ अपने स्नेहोद्गारों की अभिव्यक्ति कुछ यों की :

"आशा है आप मुझे इस संबोधन का अधिकार देंगे। इन शब्दों को संबोधित करते हुए मेरा हृदय अपार आनन्द प्राप्त करता हैं सुधीर को आपकी निकटता से जो नवीन दृष्टि मिली है, उसे पाकर वह बहुत प्रसन्न है और स्वयं को सौभाग्यशाली मानता है। कितनी ही बार उसने मेरे सामने उस अनुभव को दोहराया है। उसने यह भी कहा- "गुरुकुल-यात्रा की वह स्मृति, मेरे लिए इतनी आल्हादकारी बन गई है कि यदि मैं परीक्षा में हजार बार भी फेल हो जाऊँ, तो भी उस स्मृति का सुखद प्रकाश धुंधला नहीं होगा।"

मेरा विश्वास है कि आपके हृदय में प्रभु की ज्योति का जागरण उन नन्हें बालकों के प्रेम से ही हुआ है जिन्हें आप पिता बनकर पाल रहे हैं। मैंने देखा है कि अपने आश्रम के नन्हें बच्चों के साथ आपका कितना प्रगाढ़ प्रेम है। मुझे भी अपने हृदय में कई बार बड़े रूखेपन का आभास होता है। किन्तु आपके निकट आते ही मुझे हृदय में नयी ताजगी और नए प्राण-संचार की अनुभूति होती है। जीवन में आनन्द का परम वही है, जब साक्षात् प्रेममूर्ति प्रभु का संकेत पाकर आप मुझे मुग्ध हृदय से अपनी स्नेह भुजाओं में आबद्ध करते हैं, और पूरे विश्वास के साथ मुझे अपने आनन्द का भागी बनाते हैं। उस समय भी आपकी समीपता से प्रभु-दर्शन का आनन्द मिलता है। जबसे आपके पास रहकर वापस आया हूँ, तब से कई बार कई प्रकार की परेशानियों ने दु:खित किया है। पर वह दु:ख मन में ही दब जाता है। मेरा अंतर्मन आज भी आपकी पवित्र स्नेहस्मृति से खिल उठता है। इस दिव्य अनुभूति के लिय धन्यवाद का कोई भी शब्द पर्याप्त नहीं है । यही कह सकता हूँ कि मैं जब भी, जैसे भी हो, सभंव हो , गुरुकुल की योग्य सेवा करने में अपने को धन्य मानूंगा इस पत्र के शब्दों में मैंने जो भाव व्यक्त किए हैं, वे केवल हृदय के क्षणिक उद्गार नहीं है, बल्कि गहरे और स्थायी विचार हैं। समय उसका साक्षी होगा। ....उन दिनों की सुखद स्मृति आज भी मेरे हृदय को नयी ताजगी से भर देती है।"

महात्मा मुंशीराम और श्री एण्डूज का यह पत्राचार यहीं समाप्त नहीं हो गया, वरन् इसके बाद भी निरन्तर चलता रहा। स्नेह घनिष्ठता में बदलता गया। इसी का परिणाम था कि एण्डूज दुनियाँ के चाहे किसी भी कोने में रहे, महात्मा जी को वे बराबर याद करते रहे। उनके पत्र पूर्ण अपनत्व भरे होते थे। महात्मा जी पत्र की शुरुआत "माई डियर चार्ली" से और समाप्ति "युअर डियर राम" से करते थे। जबकि श्री एण्डूज "माई डियर राम" से शुरू करके "युअर डियर चार्ली" से समाप्त करते थे।

महात्मा मुंशीराम के पत्र को पाकर श्री एण्डूज कितने अधिक आनन्दविभोर हो जाते थे, यह उनके निम्न पत्रों से ज्ञात होता है।

"ओह! आपका वह पत्र मेरे लिए कितना अधिक बहुमूल्य था। इसका शब्द-शब्द आपके प्रेम से अनुप्राणित था। आपके प्रेमपूर्ण भाव इससे झलक रहे थे और मेरे भावों के साथ मिल गये थे। मैंने बार-बार प्रार्थना की कि मैं स्वयं को आपके महान् प्रेम के योग्य बना सकूँ।"

श्री एण्डूज कुछ सप्ताह के लिए शांति निकेतन गये थे। वहाँ भी दीनबंधु अपने "राम" के प्रेम को नही भूले : "मैं आपको अपना बड़ा भाई मानता हूँ और अनुभव करता हूँ कि आप भी मुझे उसी तरह प्यार करते हैं जिस तरह एक बड़ा भाई छोटे भाई को प्यार करता है। आपका यह प्यार वस्तुतः माँ के प्रेम की तरह अनमोल है।.....उस रात जब मुझे बुखार था। आपकी सेवा सुश्रूषा से मुझे ऐसा महसूस हो रहा था कि मानो मेरे कष्ट-निवारण और सान्त्वना देने के लिए मेरी अपनी माँ मेरे बिस्तर के पास खड़ी हुई हो।"

सन १६१३-१४ मे दक्षिणी अफ्रीका में महात्मा गांधी के नेतृत्व में वहाँ रहने वाले भारतीयों को अधिकार दिलवाने के लिए एक सत्याग्रह-आन्दोलन छेड़ा गया था। यह सत्याग्रह गोरे दक्षिण अफ्रीका-निवासियों द्वारा बरती जाने वाली नृशंस भेदभाव की नीति के विरोध में चलाया गया था। भारत मे जब इस आन्दोलन का समाचार पहुँचा तो श्री गोपालकृष्ण गोखले ने धन सग्रंह के लिए एक अपील निकाली। इस अपील ने जहाँ भारतीय जनता के दिलों को झकझोर दिया, वहीं भारत में रहने वाले अनेक विदेशी भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उनमें से एक दीनबंधु एण्डूज भी थे, जो इस अपील को पढ़कर घोर व्यथा अनुभव करने लगे थे। उन्होंने २८ अक्टूबर १६१३ को अपने मित्र मुंशीराम को एक पत्र लिख कर अपनी मनोव्यथा का चित्रण किया था:

"मैं आपको बता नहीं सकता कि कैसे दिन-रात वह अपराध-बोध मेरी अंतरात्मा को प्रताड़ित कर रहा है। पिछली रात मैं उसके भयावह परिणामों पर सोच-सोच कर जागता रहा। मै ट्रांसवाल-कारावास की भयावहता का बहादुरी से सामना कर रही उन हिन्दू वीरांगनाओं के बारे में सोचता रहा......पहले-पहल मेरी समस्या नव-अर्जित शांति आक्रोश के तूफान मे लुप्त होती प्रतीत हुई.....और तदुपरान्त इस सबके आश्चर्य परिणाम मेरे सामने आये। अंशतः ये श्री गोखले के उच्च प्रेरणादायी विचारों के माध्यम से मुझ तक पहुँचे। जिन्होंने उन भुक्तभोगियों के शौर्य की ऐसी सुसंतुलित तस्वीर सामने रखी कि मैंने सच्चे भारत की,.आर्य भारत की, उपनिषदों और गीता के भारत की उस चेतना के सामने आभार के साथ अपना सिर झुका लिया.....वह चेतना जो आज भी जीवित है और कमजोर, तिरस्कृत गिरमिटिया कुलियों तक में सांस ले रही है। केवल धार्मिक और परम्परागत ईसाइयत की परतें एक-एक करके गिरती जा रही

हैं और मैं ईसा से पहले से कहीं अधिक निकट होता जा रहा हूँ, और यह भावना मेरे अन्दर आदर्श हिन्दू भारत के दिनों दिन होने के फलस्वरुप आई है जिसे मैं जब कभी इसके वास्तविक रूप में प्रदर्शित हुआ देखता हूँ......और वही चेतना है जिसने रवीन्द्रनाथ और उनके सरल और उदार आदर्श जीवन को मेरे लिए इतना मूल्यवान् बना दिया....और जिसने मुझे भारत के लोगों को एक नई दृष्टि से देखने का अवसर दिया.... मैं हृदय से इच्छा करता हूँ अपने वर्तमान देशवासियों के समस्त रुढ़ियों से मुक्त होने की, ताकि मैं ऐसे एक सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के मार्ग का अनुसरण कर सकूँ जहाँ केवल सत्य ही अग्रणी रहे।"

२ जनवरी १९१४ को श्री एण्डूज डरबन पहुंचे। बंदरगाह पर उनके स्वागत के लिए श्री हेनरी पोलक, महात्मा गांधी आदि अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। श्री एण्डूज ने गांधी जी को पहले कभी नहीं देखा था, अतः उन्होंने श्री पोलक से पूछा कि क्या गांधी जी भी आये हैं। इस पर श्री पोलक ने उनका गांधी जी से परिचय कराया। महात्मा गांधी से हुई इस भेंट का वृत्तांत श्री एण्डूज ने श्री मुंशीराम को इस प्रकार लिखाः

"उन्होंने (श्री पोलक ने) तपस्वियों की तरह की एक ऐसी आकृति की ओर इशारा करके बतलाया कि "गांधी जी ये हैं" जिसका सिर मुंडा हुआ था, जो ऐसे मोटे कपड़े का सफेद धोती-कुर्ता पहने थे, जैसा कि कोई गिरमिटिया श्रमिक पहनता है और जो ऐसी दिखलाई पड़ रही थी मानो शोक में हो। मैं तत्काल सहज भाव से झुक गया और उनके (गांधी जी के) चरण-स्पर्श कर लिये। इस पर उन्होंने मन्द स्वर में कहा कि "कृपया ऐसा न करें, यह मेरे लिए अपमानजनक है।"

इस प्रथम भेंट के साथ ही श्री एण्डूज और गांधी जी में एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया और मैत्री स्थापित हो गई यही नहीं, महात्मा गांधी जी ने तो उन्हें अपना परामर्शदाता भी मान लिया और अफ्रीकी सत्याग्रह के बारे में भावी रणनीति का निर्धारण उन्हीं की सलाह से करने लगे। यद्यपि श्री एण्डूज अफ्रीका में गांधी जी के निकट संपर्क में आते जा रहे थे। और उनके मन में अपने इस नये मित्र के प्रति श्रद्धा और प्रेम भी उत्पन्न होता जा रहा था, पर वह अभी उस सीमा तक नहीं पहुंच पाया था जितना कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, सुशील व रुद्र और महात्मा मुंशीराम के प्रति था। यही कारण था कि वे सशरीर अफ्रीका में रहते हुए भी चिन्तन एवं कल्पनालोक में वे हर

पल अपने से हजारों मील बैठे अपने मित्रों टैगोर तथा "राम" के साथ ही विचरण किया करते थे। उन्हीं के शब्दों में "मुझे इतनी अधिक घर की याद इससे पूर्व कभी भी नहीं आई....मैं प्रतिदिन प्रातःकाल ३.३० बजे से ६ बजे तक का समय आपके साथ व्यतीत करता हूँ।" यह है उस पत्र का एक अंश जिसे उन्होंने १५ जनवरी १९१५ को महात्मा मुंशीराम जी को लिखा था। इसी पत्र में आगे श्री एण्डूज ने गांधी जी द्वारा अफ्रीका में चलाये जा रहे सत्याग्रह के उद्देश्य तथा गांधी जी के प्रति अपने मनोभावों को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया था :

श्री गांधी वस्तुतः (अपने लिए) कोई विशेष सुविधा प्राप्त करने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे इस अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे हैं कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि गुलामों के रूप में। मैं बता नहीं सकता कि मैं उनके प्रति कितनी श्रद्धा रखता हूं। अभी तक मैं यह नहीं कह सकता कि मैं उनसे उतना ही प्रेम करता हूं जितना की आपसे, गुरुदेव से और सुशील (रुद्र) से करता हूं, हालांकि यह उत्पन्न हो सकता है। परन्तु मैं उसका अब तक ज्ञात व्यक्तियों में सर्वाधिक वीर पुरुष के रूप में समादर करता हूं।"

श्री एण्डूज डरबन में ही थे। वे गांधी जी और अफ्रीकी सरकार के मध्य समझौता करवाने का प्रयास कर रहे थे। उनकी मां इंग्लैण्ड में बीमार थीं और उन्होंने उनसे वायदा किया था कि वे हर हालत में अप्रैल से पूर्व ही उनके पास पहुंच जाएंगे। अतः वे चाहते थे कि जल्दी से जल्दी समझौता हो जाये ताकि वे अपने वायदे के अनुसार मां के पास पहुंच सकें। समझौता हो गया और वे प्रिटोरिया से समझौते का सुखद समाचार लेकर डरबन पहुंचे। वे स्टेशन पर भारतीय जनसमुदाय से घिरे खड़े थे कि उन्हें किसी व्यक्ति ने उनके भाई का एक पत्र दिया जिसमें यह सूचित किया गया था कि मृत्युशय्या पर पड़ी उनकी मां जीवन की अन्तिम घड़ियां गिन रही हैं। इस आकस्मिक सूचना से श्री एण्डूज हतप्रभ से हो गये और उन्हें सारा स्टेशन घूमता-सा नजर आने लगा। पर वे अपनी पूज्य मां के दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान करने से पूर्व ही उन्हें उनके स्वर्गवास का समाचार मिल चुका था, जिससे उन्होंने २६ जनवरी १९१४ को "केबल" द्वारा भारत में अपने अभिन्न मित्र मुंशीराम जी को भी अवगत करा दिया था।

श्री एण्डूज को भारत से इतना अधिक प्रेम हो गया था कि वे भारत-भूमि को अपनी मातृभूमि मानते थे और उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन भारत और भारतवासियों के लिए समर्पित करने का निश्चय कर लिया था। इपनी इस भावना से महात्मा मुंशीराम को अवगत कराते हुए उन्होंने अपने ७ अगस्त १९१३ के पत्र में लिखा :

"........ आपके माध्यम से मुझे इस अपनी प्यारी मातृ-भूमि के प्रति अत्यधिक गहन प्यार उत्पन्न हो सके. क्योकि अब वास्तव में यह मेरी है और जीवन-मृत्यु पर्यन्त इसके प्रति समर्पित हूँ। मैं कभी-कभी सोचता हूँ परम दयालु परमात्मा ने मेरे अन्दर कभी भी विवाह करने की इच्छा उत्पन्न नही की और मैं अपना संपूर्ण प्यार इस प्यारी मातृभूमि को दे सकता हूँ।"

यही नहीं, वे अपनी पूज्या मां की मृत्यु के बाद उनकी आत्मा का वास भी भारत मे ही माननें लगे थे :

" मै पूज्या मां के चरणों में अपना दुःख प्रकट कर सका तथा उस ईश्वर-प्रदत्त शांति को जान सका जिससे ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रियतम, उस समय आप अपने अकथनीय बहुमूल्य प्यार के साथ मेरे पास आये और मुझे सान्त्वना दी। तभी से शांति बनी हुई है........मुझे आनन्द की प्राप्ति हुई है।.....मुझे इलहाम हुआ है कि भारत पहिले से भी अधिक गहरे अर्थों में मेरी मातृभूमि है और भारतमाता के प्रति अपने प्रेम के द्वारा ही मैं अपनी स्वर्गीया माता की आत्मा को सन्तुष्ट कर सकूंगा। मैं पिता जी से मिलने के लिए इंग्लैण्ड जा रहा हूँ और वहाँ अपनी माता की कब्र पर फूल चढ़ाऊँगा। परन्तु उसकी आत्मा तो वहां न होगी। वह भारत में है, जो भारत लौटने पर बड़े प्रेम के साथ मेरा स्वागत करेगी।" (महात्मा मुंशीराम को संबोधित पत्र दिनांक २८ जनवरी १९१४ का एक अंश)

श्री एण्डूज इंग्लैण्ड जाकर बर्मिंघम में अपने पिता से मिले, जो पत्नी-वियोग के दुःख से अभिभूत होने के कारण अत्यधिक वृद्ध लगने लगे थे। तत्पश्चात् इस विश्वास के साथ उन्होंने भारत वापस लौटने का निश्चय कर लिया कि वे मातृभूमि (भारत) में अपनी स्वर्गीया माँ का अनवरत सान्निध्य प्राप्त कर सकेंगे। अप्रैल १९१४ के मध्य में उन्होंने भारत-भूमि में पदार्पण कर लिया। भारत आने पर वे अत्यधिक अस्वस्थ हो गये, जिस कारण चिकित्सा हेतु उन्हें मई के प्रथम सप्ताह में शिमला जाना पड़ा। वहां

पहुंचने पर उन्होंने पाया कि वायसराय हार्डिंग और निजी सचिव सर जेम्स बॉले के अलावा शेष इसाई-समाज में उन्हें उपेक्षा की नजर से देखा जा रहा है। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें जाति-बहिष्कृत भी कर दिया गया। इस सबका कारण उनका इसाई-पादरी बने न रहना था। इससे श्री एण्ड्रूज को कुछ खिन्नता तो हुई, पर किसी प्रकार का पछतावा नहीं हुआ है। अपने १८ मई १६१४ के महात्मा मुंशीराम जी को एक पत्र के माध्यम से इस स्थिति से अवगत कराते हुए लिखा थाः "उन्होंने मुझे जाति से बहिष्कृत कर दिया है और अस्पृश्य व्यक्ति बना दिया है, परन्तु मैं इस "सम्मान" के लिए उनका अत्यधिक आभारी हूँ।"

इसके बाद जब श्री एण्ड्रूज पंजाब विश्वविद्यालय की फैलोशिप से त्यागपत्र देने तथा विश्वविद्यालय के परीक्षकत्व का अंतिम कार्य सम्पन्न करने लाहौर गये तो वहां भी इसाई-धर्मावलम्बियों ने उनके साथ यही व्यवहार किया। उन्हीं के शब्दों में, "मैंने लाहौर के कैथीड्रल में एक धर्मोपदेश दिया, परन्तु इससे स्थिति और बिगड़ गई। उन्होंने कहा कि 'यह कोई घोषणा नहीं है, हम इससे भी अधिक कुछ चाहते हैं'। मुझे निश्चय है कि इस बारे में कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि मौन रहना चाहिए।......यदि मेरे कार्य इसाईयों जैसे नहीं हैं तो केवल शब्दों से स्वयं को इसाई कह कर मैं कभी भी इसाई नहीं बन सकता।"

सितम्बर १६१४ में श्री एण्ड्रूज पुनः गम्भीर रुप से अस्वस्थ हो गये और उन्हें शिमला के वाकर हॉस्पिटल मे प्रवेश लेने का परामर्श दिया गया। अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में वे शिमला पहुँच गये। इस बार भी उनके पुराने मित्र लार्ड हार्डिंग तथा बिशप लिफ्रॉय आदि तो उनसे मिलने आये, पर अन्य लोगों ने--- यहां तक कि कुछ घनिष्ठ मित्रों ने भी--- उनके प्रति पूर्ण विमुखता प्रदर्शित की। इसके साथ ही उन्हें इंग्लैण्ड से अपने पिता का भी दुःख एवं नाराजगी से भरा पत्र मिला, जो एण्ड्रूज के पादरी न रहने से अत्यन्त क्षुब्ध थे। अपनी उस समय की मनःस्थिति का उल्लेख करते हुए श्री एण्ड्रूज ने ६ अक्टूबर के आसपास महात्मा मुंशीराम जी को एक पत्र लिखा, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"यहां आने से मुझे मालूम हुआ कि जब से मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की है, तब से बिशप और दूसरे लोग मुझसे बहुत असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि मैंने ईसाइयत को त्याग दिया है। मैंने उनको कह दिया है कि मैं पहिले की अपेक्षा अधिक सच्चा इसाई

बन गया हूँ। यही मैं बनना चाहता था। इंग्लैण्ड से भी इस संबंध में बहुत पत्र आये हैं। उनमें मेरे पिता जी का पत्र सबसे अधिक दुःखपूर्ण है। यह जान कर कि मैं पादरी नहीं रहा, उनका हृदय टूट गया है। वे बहुत वृद्ध हैं। इन बातों को वे नहीं समझ सकते। मैंने उनको बहुत दुःख पहुँचाया है। मैं स्वयं इसके लिए दुःखी हूँ। परन्तु मैं जानता था कि यह सब तो होगा ही और उसको सहन भी करना होगा। मुझे आपके अत्यन्त प्रेम का पूरा भरोसा है।"

इसी बीच श्री एण्डूज को पता चला कि मुंशीराम जी अस्वस्थ हैं। उन्होंने तत्काल अपने मित्र को भावुकता एवं विषाद से भरा एक पत्र (९ नवम्बर १९१४) लिखकर अपनी सहानुभूति व्यक्त की:

"यह सब बहुत ही आश्चर्यजनक है, परन्तु कभी-कभी...... मुझे यह सोच कर सान्त्वना मिलती है कि ये वही कष्ट हैं जो जननी (मातृभूमि) को अपनी सन्तान के उद्धार और अपनी पावन भूमि के उत्थान के लिए उठाने पड़ते हैं। यह वही है सभी दुःखों को झेलने वाली मां जो विभिन्न देशों में कष्ट उठाती है और हमें भी---जो कि उसकी सन्तान हैं--- इसी रुप में उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करना चाहिए। इस समय मेरी मेज पर श्री मोहनदास गांधी, श्री गोपालकृष्ण गोखले, श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर और आपके पत्र रखे हुए हैं, और वे सभी कष्टों से भरे हुए हैं (इस समय सभी बीमार थे)। इस सबका क्या मतलब है ? इसका मतलब यह होना चाहिए कि यह सब आवश्यक है तथा दिव्य मां ने स्वयं हमें यह पवित्र अवसर प्रदान किया है।"

एक बार जब श्री एण्डूज को पता चला कि मुंशीराम जी को कतिपय कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है तो उन्होनें पत्र लिख कर उनसे यह आग्रह किया कि, "क्योंकि हम दोनों (चार्ली और मुंशीराम जी) भाई हैं इसलिए हमें एक दूसरे के कष्ट में भागीदार बनना चाहिए। मेरे प्रियतम भाई, इस सतत विपत्ति के समय मेरी सहानुभूति आपके साथ है, जिसका कि आपको सामना करना पड़ रहा है--- यह जननी (मातृभूमि) का भार है जिसे वह स्वंय वंहन कर रही है और जिसमें भागीदार बनने के लिए उसने आपसे कहा है।...... यह मृत्यु से अमरता तक, अंधकार से प्रकाश तक हर समय आपके साथ हैं।"

इस प्रकार श्री एण्डूज और महात्मा मुंशीराम व्यक्तिगत संपर्क एवं पत्रों के माध्यम से एक दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार बनते रहे, परस्पर अमित स्नेह बरसाते रहे, विचारों का आदान - प्रदान करते रहे तथा उनमें प्रगाढ़ता निरन्तर बढ़ती रही।

सद्धर्म प्रचारक में शिक्षा–विषयक चिन्तन

मुम्बई मे आर्यसमाज की स्थापना के तीन वर्ष पश्चात् ही आर्यसमाज शाहजहाँपुर से आर्य विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला एक द्विभाषी (हिन्दी-उर्दू) साप्ताहिक **'आर्यदर्पण'** प्रकाशित हुआ। स्वामी दयानन्द ने आर्यदर्पण की प्रशंसा मे एक विज्ञप्ति भी प्रकाशित करवाई थी। जुलाई १८७६ में फर्रुखाबाद मे आर्यसमाज की स्थापना के साथ ही यहाँ से हिन्दी मासिक पत्र "भारत सुदशा प्रवर्तक" भी निकलना आंरभ हुआ। जुलाई १६१२ में यह साप्ताहिक होने के पश्चात् अप्रैल १६१५ के बाद यह गौरवशाली पत्र बन्द हो गया। यह पत्र राष्ट्रभाषा हिन्दी का कट्टर समर्थक था। इसकी प्रतियाँ आर्यसमाज लन्दन को भी भेजी जाती थीं। इसके पश्चात् आर्यसमाज से संबंधित संस्थाओं द्वारा अनेक पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द ने जो पत्र, पत्रिकायें संपादित या प्रकाशित की हैं, उनमें- सद्धर्म प्रचारक, श्रद्धा, सत्यवादी, दि गुरुकुल मैगजीन, वैदिक मैगजीन एंड गुरुकुल समाचार तथा अर्जुन प्रमुख हैं। "अर्जुन" का प्रकाशन ३० अप्रैल १६२३ को दिल्ली से दैनिक पत्र के रुप में हुआ था। इसके संपादक पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति थे। इसका प्रतिज्ञा वाक्य था -"अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्"। "सद्धर्म प्रचारक" का प्रकाशन १८ फरवरी १८८६ में एक उर्दू साप्ताहिक के रूप में जालन्धर से हुआ। इसका संपादन मुंशीराम एवं लाला देवराज संयुक्त रूप से कर रहे थे। एक मार्च १६०७ में यह जालन्धर से ही हिन्दी साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित होने लगा। अप्रैल १६०८ से यह पत्र गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित होने लगा। इसका संपादन पं० ब्रहमानन्द, पं० हरिश्चन्द्र एवं पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने भी किया। यह पत्र १६२१-२२ तक निकलने के पश्चात् बन्द हो गया।

सद्धर्मप्रचारक के शिक्षा विषयक लेखों का हम-गुरुकुल शिक्षा, पाश्चात्य शिक्षा एवं स्त्री शिक्षा के अन्तर्गत चिन्तन कर सकते हैं। साथ ही इसमें शिक्षा क्यों और कैसे दी जाए? इस विषय पर भी चिन्तन किया गया है।

गुरुकुलीय शिक्षा का अर्थ है-आर्ष[1] ग्रन्थों की शिक्षा। सामान्यतया इसके अन्तर्गत

१- ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स ऋषि। मन्त्रार्थद्रष्टा वा। ऋषिभिः प्रणीताः ग्रन्थाः आर्षग्रन्थाः।

वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद, कल्पसूत्र, वेदांग, भारतीय दर्शन, स्मृति ग्रन्थ आते हैं। इन आर्ष ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थों को छात्रों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था। प्रारंभ में छात्रों को संस्कृत भाषा एंव पाणिनीय अष्टाध्यायी पर आधारित संस्कृत व्याकरण का समुचित अध्ययन कराया जाता था जिससे वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के शब्दों का यथार्थ अभिप्राय समझने और साहित्य का अनुशीलन करने में कोई कठिनाई न रहे। स्वामी जी ने संस्कृत व्याकरण को संस्कृत साहित्य की कुंजी माना है-

"अष्टाध्यायी संस्कृत लिटरेचर की कुंजी मानी जाती है उसके कंठ होने के पश्चात् तमाम आर्ष ग्रन्थों की छानबीन एक साधारण कार्य रह जाता है।"

(सद्धर्मप्रचारक १२ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०८)

वैदिक काल में वैदिक साहित्य का पठन-पाठन प्रभूत मात्रा में होता था। इसीलिए उस समय सामाजिक, भौतिक, आध्यात्मिक और सभी तरह से समाज समृद्ध था। मध्यकाल में वैदिक साहित्य का पठन-पाठन लगभग पूर्णरुपेण बन्द हो गया। वैदिक आदर्श एवं साहित्य की पुनः स्थापना करने का आह्वान करते हुए स्वामी जी लिखते हैं-

"वैदिक आदर्शों को पुनरपि जीवित करने का समय आ गया है और उसके लिए काम करने वालों की परमातमा स्वयं सहायता करते हैं।"

(सद्धर्म प्रचारक २२ जुलाई १६०८ पृष्ठ-०४)

स्वामी जी ने आर्ष ग्रन्थों के साथ पाश्चात्य शिक्षा का भी समर्थन किया है। पाश्चात्य शिक्षा से हम उन विषयों का ग्रहण करते हैं जो विषय यूरोप आदि पश्चिमी देशों से आये हैं, इनमें -अंग्रेजी, विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषय प्रमुख हैं। स्वामी दयानन्द ने इन विषयों को पश्चिमी देशों की देन नहीं माना है। अपितु उनका मानना है कि ये सभी विषय हमारे यहां पहले से विद्यमान हैं। वेद, वेदांग, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थ आध्यात्मिक ज्ञान के अथाह सागर होने के साथ-साथ भौतिक ज्ञान, विज्ञान के भी मूल श्रोत हैं। अर्थवेद शिल्प-विद्या का भण्डार है। पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में इतिहास का विशद् वर्णन मिलता है। विज्ञान, भूगोल, मनोविज्ञान आदि के मूल बीज वेदों मे विद्यमान हैं। लेकिन अधिकांश विद्वान् इन विषयों को पाश्चात्य देशों की देन मानते हैं। अतः इनको पाश्चात्य विषय स्वीकार करके चर्चा करेंगें। स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी में परम्परागत आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन की

समुचित व्यवस्था की थी। स्वामी दयानन्द ने देवनागरी अक्षरों के अभ्यास के साथ बालकों के अन्य भाषाओं के अक्षरों का अभ्यास कराने पर भी बल दिया है -

"जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का लड़की हों तो तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।"

(सत्यार्थप्रकाश-द्वितीय समुल्लास-स्वामी दयानन्द)

स्वामी श्रद्धानन्द ने अंग्रेजी की महत्ता को स्वीकार करते हुए अंग्रेजी को भी गुरुकुल के पाठ्यक्रम में समुचित स्थान दिया था।

दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद का भाष्य करते हुए लिखा है- 'जो पहले समय में आर्य लोगों ने अश्व विद्या के नाम से शीघ्र गमन का हेतु शिल्पविद्या उत्पन्न की थी, वह अग्निविद्या की ही उन्नति थी। जिन पुरुषों को विमानादि सवारियों की सिद्धि की इच्छा होवे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें। दयानन्द सरस्वती ने अपने शिष्यों को विज्ञान के अध्यापन हेतु जर्मनी के एक शिक्षक डा० जी० वाइज से पत्र व्यवहार किया था। किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के कारण उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका। स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा है-

"पदार्थ विज्ञान की प्राप्ति पर ऋषि दयानन्द ने बड़ा बल दिया है क्योंकि उसी की प्राप्ति को वह उन्नति की पहली सीढ़ी समझते थे।"

(सद्धर्म प्रचारक-१२ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०५)

विज्ञान को उन्नति की पहली सीढ़ी मानकर स्वामी श्रद्धानन्द विज्ञान की शिक्षा को और अधिक समय देने के पक्ष में थे-

"यद्यपि इस समय साइंस का तीसरा दर्जा है तथापि हम सब वह दिन शीघ्र लाना चाहते हैं जब सांइस को संस्कृत के नीचे दूसरा दर्जा मिल सके।"

(सद्धर्मप्रचारक ०५ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०४)

स्वामी श्रद्धानन्द ने इतिहास, भूगोल आदि विषयों के अध्यापन की भी व्यवस्था की थी किन्तु वे संशोधित इतिहास ही पढ़ाने के पक्षधर थे। उनका विचार था कि हमारे इतिहास में विदेशियों और अन्य धर्मावलम्बियों ने अनेक प्रकार की मिलावट करके उसे विकृत कर दिया है। वे इतिहास और भूगोल में गहरा संबन्ध मानते हैं -

"यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो इतिहास का आरंभ ही भूगोल विद्या से होता है।"

(सद्धर्म प्रचारक -०५ अगस्त १६०८ पृष्ठ -०३)

पाश्चात्य विषयों को ऋषिप्रणाली के अनुरूप मानकर स्वामी श्रद्धानन्द ने उनके अध्ययन-अध्यापन पर समुचित ध्यान दिया था।

वैदिक काल में स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं। कई महिलाएं मन्त्रद्रष्टा ऋषि रही हैं। वेदों में स्त्री को शिक्षिका,न्यायकारी, यज्ञों में पति का साथ देने वाली, क्षत्राणी, उपदेशिका, वीरप्रसवा, ब्रहम-क्षत्र की जननी, विद्यालंकृता, पतिंवरा, अन्नपूर्णा, सद्गृहिणी आदि अनेक नाम दिए गये हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों की अति उत्तम स्थिति थी। मध्यकाल में स्त्रियाँ अशिक्षित होकर दयनीय स्थिति को प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में महर्षि दयानन्द ने स्त्रियों को बच्चों का सबसे बड़ा गुरु मानते हुए उनकी शिक्षा पर बल दिया। दयानन्द ने तीनों शिक्षकों में माता को सबसे बड़ा शिक्षक माना है। जब भारत में स्त्रियाँ शिक्षित थीं उस समय देश विश्व का गुरु था। किन्तु मध्यकाल में स्त्रियों की अशिक्षा से देश का अधःपतन हुआ। जब तक स्त्रियाँ शिक्षित नहीं हो जातीं तब तक इस देश की उन्नति होना अत्यन्त कठिन है-

"अब केवल इनकी ही अधोगति से इतना गिर गया है कि इसका पुनः उच्च शिखर पर पहुँचना बहुत कठिन हो गया है। जब तक भारत ललनायें पुनः पठन-पाठन की ओर ध्यान नहीं देखेंगी, तब तक भारत का उद्धार होना असंभव है।"

(सद्धर्म प्रचारक २७ अक्टूबर १६०६ पृष्ठ-११)

सन्तान पर सर्वाधिक प्रभाव माँ का ही पड़ता है। अतः उसका सुशिक्षित होना परमावश्यक है। महर्षि दयानन्द ने पाँच वर्ष की अवस्था होने पर बच्चों को प्रयत्न एवं उच्चारण स्थान सहित वर्ण ज्ञान कराने का विधान माँ के लिए किया है। उनका मानना था कि जितना उपकार स्त्रियों की शिक्षा से हो सकता है उतना पुरुष की शिक्षा से नही। माँ का सन्तान पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है- "यदि माता सुशीला तथा पढ़ी-लिखी हो तो बालक पर सुशीलता तथा परिश्रम के साथ विद्या ग्रहण करने का अच्छा प्रभाव और माता मूर्ख वा ऐहलौकिक वा पारलौकिक सद्व्यवहारों में सर्वथा अनभिज्ञ व अशिक्षित होवे तो बुरा प्रभाव पड़ेगा।"

(सद्धर्म प्रचारक २७ अक्टूबर १६०६ पृष्ठ-१०)

स्वामी दयानन्द के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द ने भी बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा की व्यवस्था पृथक्-पृथक् करने का विधान किया है। उन्होने कहा है कि जिस

प्रकार आप आपने पुत्रों की शिक्षा की तरफ ध्यान देते हैं, उसी तरह कन्याओं की शिक्षा पर भी ध्यान दें। केवल पुरुषों के ही शिक्षित होने से कोई समाज, राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में स्त्रियों का योगदान पुरुषों से किसी हालत में कम नहीं आँका जाना चाहिए। बच्चों को संस्कार, प्रारंभिक शिक्षा एवं सद्व्यवहार ज्ञान माँ से प्राप्त होते हैं। इसलिये यदि बच्चों की शिक्षा के प्रति रुचि जगाना चाहते हैं, उनमें प्रेम और सौहार्द देखना चाहते हैं, तो पहले स्त्रियों को शिक्षित करने का कार्य करो, उनमें राष्ट्रप्रेम एवं सौहार्द की भावना भरो। स्त्रियों के शिक्षित होने से उनकी होने वाली सन्तान को उनके गुण विरासत में प्राप्त हो जायेंगे। इसलिये महिलाओं की शिक्षा परमावश्यक है। आर्यसमाज के प्रयासों के फलस्वरूप ही आज महिलाओं में अधिकाधिक शिक्षा दिखाई पड़ती है।

शिक्षा क्यों आवश्यक है ? इसका उत्तर देते हुए स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं- "शिक्षा से रहित राष्ट्र उन्नति कर सके यह अश्रुतपूर्व तथा असंभव बात है। उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र का बहुत बड़ा अंश शिक्षित होवे। बिना शिक्षा के देश के बड़े भारी भाग की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का सुधारना नहीं बन सकता।

(सद्धर्म प्रचारक २७ सितं० १९११ पृष्ठ-०५)

शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त विस्तृत है। समानता, विकास, सौहार्द, राष्ट्रीय उन्नति, ज्ञान-विज्ञान का अर्जन, चारित्रिक उत्थान, धार्मिक जीवन, समाज सेवा की भावना आदि गुणों को देने वाली शिक्षा ही है। शिक्षा वह रत्न है जिसके स्पर्श मात्र से मनुष्य को आत्मबोध और स्वकर्त्तव्य बोध होता है। जिसके प्रभाव से वह समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में सहायता करने को तत्पर होता है। समाज या राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास के लिए सभी व्यक्तियों का शिक्षित होना आवश्यक है। स्वामी श्रद्धानन्द अनिच्छुकों को जबर्दस्ती शिक्षित करने पर बल देते हैं -

"सबको शिक्षित करने के लिए आवश्यक है कि अनिच्छुकों को जबर्दस्ती शिक्षित किया जाये।"

(सद्धर्मप्रचारक ०१ अक्टू० १९११ पृष्ठ-०६)

स्वामी श्रद्धानन्द नें पुस्तकीय शिक्षा के साथ आत्मिक उन्नति के लिए प्रयास करने पर भी बल दिया है। आत्मिक उन्नति के लिए उन्होंने धार्मिक शिक्षा को आवश्यक माना है।

रमेशचन्द्र, प्रवक्ता-हिन्दी
राजकीय इण्टरमीडिएट कालेज,
चाकीसैंण, पौड़ी-गढ़वाल (उ०प्र०)

स्वामी श्रद्धानन्द : हिन्दी साहित्यकार के रूप में

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। उन्होंने आर्यसमाज, राष्ट्र तथा शिक्षण के क्षेत्र में देश की महनीय सेवा की। उनके व्यक्तित्व में कर्मठता तथा बौद्धिकता का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। स्वामी जी कर्मक्षेत्र के निर्भीक योद्धा होने के साथ ही एक सफल लेखक तथा साहित्यकार भी थे। उन्होंने उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की।

स्वामीजी के लेखकीय जीवन का आरम्भ एक पत्रकार के रूप में हुआ। उन्होंने १८८६ ई० में 'सद्धर्म प्रचारक' नाम से एक उर्दू साप्ताहिक पत्र निकाला। पर कुछ मित्रों के सुझाव पर कुछ वर्ष बाद इसे हिन्दी में निकालना आरम्भ कर दिया। पुस्तक रूप में प्रकाशित उनकी प्रथम रचना 'वर्णाश्रम व्यवस्था' है जो १८६१ ई० में प्रकाशित हुई।

हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में स्वामी जी का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। 'आर्यपथिक पं० लेखराम' का जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया। 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' तथा 'गोपाल कृष्ण गोखले' नामक सुन्दर संस्मरण भी लिखे। इस तरह स्वामीजी ने 'आत्मकथा', 'जीवनी' तथा 'संस्मरण' जैसी गद्य की नवीन विधाओं पर अपनी लेखनी चलाकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा स्वामी जी ने उस समय लिखी थी जब हिन्दी में आत्मकथा साहित्य का पूर्ण विकास भी नहीं हुआ था। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस आत्मकथा का हिन्दी आत्मकथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रकाशन संवत् १६८१ में ज्ञानमंडल, वाराणसी से हुआ। इसमें स्वामी जी ने अपने जीवन के ३५ वर्षों के क्रिया-कलापों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। स्वामी जी का प्रारम्भिक जीवन बड़ा उतार-चढ़ाव भरा रहा। कई बार वे पतन के गर्त में भी गिरे। एक सच्चे आत्मकथा लेखक की तरह स्वामी जी ने अपने जीवन के इन कालिमा भरे पक्षों का बड़ा बेबाक चित्रण किया। वास्तव में यह आत्मकथा उनके श्रेय मार्ग की ओर कदम बढ़ाने की अद्‌भुत, रोमांचक और शिक्षाप्रद कहानी है। इसीलिए उन्होंने

इसका नाम 'कल्याण मार्ग का पथिक' रखा। स्वामी जी की यह आत्मकथा पथ से भटके लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। स्वामी जी की यह आत्मकथा नाना प्रकार के जीवनानुभवों से परिपूर्ण है।

इसमें अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद संस्मरण भरे पड़े हैं। आर्य समाज के उन दिनों की गतिविधियों को जानने के लिए यह आत्मकथा एक प्रामाणिक दस्तावेज है।

स्वामी जी की इस आत्मकथा में उनका व्यक्तित्व ही पाठक के आकर्षण का केन्द्र बन गया है। आत्मोद्घाटन के साथ-साथ उनका आत्मनिरीक्षण, आत्मविवेचन और आत्मविश्लेषण भी चलता रहा है। पर अपने भोगे हुए जीवन का चित्रण करने में स्वामी जी बराबर सचेत रहे हैं। इससे पाठक पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। 'कल्याण मार्ग का पथिक' स्वामी श्रद्धानन्द जी की आत्मकथा है। इसमें हम उन्हें पतन के मार्ग से क्रमशः ऊँचे उठते देखते हैं। और ग्रंथ के अंत में तो वे हमें साधना के उच्च शिखर पर खड़े दिखाई देते हैं। आत्मकथा को सजीव बनाने के लिए स्वामीजी ने सामाजिक एवं बाह्य परिस्थितियों का चित्रण किया है। इस परिवेश के ताने-बाने के बीच उनका चरित्र आत्मकथा में उभरता जाता है और पाठक के आकर्षण का केन्द्र बनता जाता है। आत्मकथा की भाषा तद्‌युगीन खड़ी बोली हिन्दी है जिसमें कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। लेखक की सरल, विवरणात्मक शैली ने आत्मकथा को रोचक बना दिया है। इस आत्मकथा का उद्देश्य पाठक को पतन के मार्ग से बचाना है। इसका उल्लेख स्वामी जी ने स्वयं आत्मकथा में कर दिया है- "आत्मकथा के पाठ से बहुत से युवकों को संसार यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।" (कल्याण मार्ग का पथिक, पृ० ४)

स्वामी जी ने अमर हुतात्मा पं० लेखराम का जीवन-चरित्र 'आर्य पथिक पं० लेखराम' नाम से लिखा। तब स्वामी श्रद्धानन्द 'मुंशीराम जिज्ञासु' के नाम से जाने जाते थे। पं० लेखराम के अनेक जीवन-चरित्र लिखे गए, पर उनका प्रथम सर्वांगीण मौलिक जीवन-चरित्र स्वामी श्रद्धानन्द (मुंशीराम जिज्ञासु) ने ही लिखा। इसका प्रथम संस्करण १६१४ ई० में गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित हुआ। पं० लेखराम बहुत थोड़े समय ही जीवित रहे। उन्होंने अपना पूरा जीवन वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में लगा दिया। स्वामी जी तथा पं० लेखराम जी में उत्कट मैत्री और सौहार्द भाव था।

दोनों ने अनेक स्थानों की प्रचार यात्राएं साथ-साथ कीं। दोनों ने एक दूसरे के व्यक्तित्व चरित्र, स्वभाव तथा विचारों को परख लिया था। दोनों की गणना आर्यसमाज के प्रमुख नेताओं में होती थी।

जीवनी साहित्य के रूप में 'आर्य पथिक पं० लेखराम' एक सफल रचना है। इसमें पं० लेखराम के सम्पूर्ण जीवन पर खुलकर प्रकाश डाला गया है। जीवनी लेखक ने उनके जीवन की प्रत्येक घटना को उजागर करने का भरसक प्रयास किया है। प्रारम्भ से लेकर अंत तक सम्पूर्ण जीवन चरित्र क्रमबद्ध रूप से लिखा गया है। एक सफल जीवनी लेखक की तरह स्वामी जी ने पं० लेखराम का जीवन चरित्र प्रस्तुत करते हुए निष्पक्षता तथा ईमानदारी का परिचय दिया है। जहाँ तक इस जीवनी की भाषा का सवाल है, जीवनी लेखक ने पुस्तक की प्रस्तावना में ही लिख दिया है- "आगे के पृष्ठों में भाषा के लालित्य तथा विचारों के पाण्डित्य को खोजना एक निष्फल परिश्रम होगा। पर इस रचना में उनकी भाषा का लालित्य दिखाई ही दे जाता है। दृष्टान्तों और लोकोक्तियों के प्रयोग ने इस रचना को और भी रोचक बना दिया है। कुल मिलाकर 'आर्य पथिक पं० लेखराम' हिन्दी की उच्चकोटि की जीवनी रचना है।

'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नामक संस्मरण स्वामी श्रद्धानन्द के कारावास की कहानी है। इसका प्रथम संस्करण १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ। अमृतसर में 'गुरु का बाग' नामक गुरुद्वारे के समीप की भूमि को लेकर अंग्रेजों तथा सिक्खों में परस्पर विवाद चल रहा था। अकालियों ने उस पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए सत्याग्रह का मार्ग अपनाया और समस्त देशवासियों को उसमें सम्मिलित होने का आह्वान किया। इस अहिंसक सत्याग्रह के समर्थन के लिए स्वामी जी अपने साथियों के साथ अमृतसर गये। वहां उन्होंने उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित किया और सत्याग्रह में भाग लेने वालों को अपना आशीर्वाद दिया। परिणाम स्वरूप अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन पर मुकदमा चलाकर कारावास का दण्ड दिया गया। कुछ दिन उन्हें अमृतसर जेल में रखा गया, तत्पश्चात् उन्हें मियाँवाली (अब पाकिस्तान में) जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया। यद्यपि उन्हें एक वर्ष चार मास की सजा सुनाई गयी थी, पर २६ दिसम्बर १९२२ को उन्हें अचानक मियाँवली जेल से मुक्त कर दिया गया। अपने इसी जेल जीवन के अनुभव को स्वामी जी ने 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नाम से लेखनी बद्ध किया है।

इस संस्मरण के नायक वे स्वयं हैं। सम्पूर्ण संस्मरण में उनका व्यक्तित्व साफ-साफ झलकता है। वे लिखते हैं- "प्रातः काल दो बजे नियम से उठता था। तीक्ष्ण वायु युक्त सर्दी में भी यह नियम शिथिल नहीं हुआ। लघुशंका कर और हाथ-मुँह पोंछकर ध्यान में बैठ जाता।

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग-४, पृ०-१४१)

इस रचना में देशकाल का भी सफल चित्रण किया गया है। इसकी भाषा सरल किन्तु सरस है। अंग्रेजी तथा उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इसकी शैली आत्मकथात्मक है। स्वामी जी का यह संस्मरण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

स्वामी जी ने अपना दूसरा महत्वपूर्ण संस्मरण गोपाल कृष्ण गोखले पर लिखा। गोखले से स्वामी जी की प्रथम भेंट दिसम्बर १६०० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में हुई। इसके बाद तो दोनों में मैत्रीभाव कायम हो गया। गोखले से अपने सम्बन्धों का जिक्र करते हुए स्वामी जी लिखते हैं- "परिस्थितियां ही कुछ ऐसी रहीं कि मैं दिसम्बर १६०० ई० में श्री गोखले की कुछ अधिक सहायता नहीं कर सका। इसके कुछ अपरिहार्य कारण भी थे, किन्तु उस समय हम दोनों में जो मैत्री भाव बना वह निरन्तर बढ़ता ही गया और एक समय आया जबकि मातृभूमि की सेवा के समान कर्तव्य पालन में हम एक हो गये।

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग-६, पृ० १७२)

गोखले जी और स्वामी जी के बीच पत्राचार चलता रहा। इस संस्मरण में स्वामी जी ने पाँच पत्र गोखले जी के तथा चार पत्र अपने ज्यों के त्यों रखे हैं। वस्तुतः इन पत्रों के माध्यम से ही स्वामी जी ने गोखले का स्मरण किया है। पत्रों की भाषा बड़ी सजीव है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वामी जी ने अपनी इन रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि तो की ही है, साथ ही हिन्दी जगत् में अपना महत्वपूर्ण स्थान भी बना लिया है।

डा० सन्तराम वैश्य
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार - २४६४०४

पूज्य स्वामी श्री श्रद्धानन्द से सम्बन्धित मेरी बाल्यावस्था की धुंधली स्मृतियाँ

(इन्द्रदेव खोसला एडवोकेट)

गुरुदेव के पूर्वज और मेरे पूर्वज गाँव तलवन (तहसील-फिल्लौर, जनपद-जालन्धर) के निवासी थे और उस समय वह गाँव अपनी चरम सीमा पर था- क्षत्री परिवारों का गढ़ था। स्वामी जी के पूर्वज विज़ क्षत्री कहाते थे और मेरे खोसला। दोनों कुटुम्बों के पृथक्-पृथक् मुहल्ले थे सबकी बड़ी-बड़ी हवेलियाँ थी - मेरे परदादा और स्वामी जी महाराज के दादा समकालीन-समान आयु के थे। इकट्ठे खेले, इकट्ठे पढ़े और फिर युवक होकर एक ही रियासत (कपूरथला) में नौकर हो गए। स्वामी जी के दादा जी का नाम था गुलाबराय और मेरे परदादा जी का नाम था श्रीगनपतराय। श्री गुलाबराय जी ड्योढी (रानियों के रहने का स्थान) के प्रबन्धक थे और मेरे परदादा जी खजाने में कार्य करते थे। दोनों परिवारों में बहुत प्रेम था।

जिस समय पूज्य स्वामी जी जालन्धर में वकालत करते थे उन्हीं दिनों मेरे पूज्य पिताजी को साईंदास हाईस्कूल में मैट्रिक करने के लिए भेजा गया था। स्वामी जी महाराज को मेरे पूज्य पितामह ने पिताजी का स्थानीय संरक्षक नियुक्त कर दिया था। उन दिनों पारिवारिक सम्बन्धों के कारण कुछ ऐसी ही प्रथा थी। इसलिए पिताजी को स्वामी जी महाराज के पास उनके आदेशानुसार मास में एक-दो बार जाना होता था। पिताजी पढ़ाई में मेधावी छात्र थे इसलिए स्वामी जी के प्रेम के पात्र बन गए। स्वामी जी उन्हें बड़े प्रेम से सुन्दर नाम से पुकारते थे और उस नाम से अन्त तक पुकारते रहे (पुरा नाम सुन्दरलाल था) उन दिनों पिताजी पर स्वामी जी का बहुत प्रभाव पड़ा और स्वामी जी की आज्ञानुसार आर्य समाज अड्डा होशियारपुर में जाने लगे और धीरे-धीरे पुराने काल के आर्यों की भांति लग्नशील आर्य समाज के सेवक हो गये। वैसे तो हमारे पूर्वज खालसा पन्थ के अनुयायी थे, विशेषकर जब से मेरी पूज्य दादी जी श्रीमती ईश्वरकौर घर में आई। वह किसी एक गुरु की वंशज की थी। सब रीति-रिवाज खालसा पन्थ के होते थे, परन्तु स्वामी जी के प्रभाव से और पिताजी के कारण सारा परिवार आर्य समाज (वैदिक-धर्मी) का अनुयायी हो गया। हमारा परिवार पूज्य स्वामी जी का बहुत आभारी है, क्योंकि वे ही हमारे विचारों को बदलने के मूल स्रोत हैं। मुझ पर तो स्वामी जी महाराज की और भी अनुकम्पा है। क्योंकि मेरा नामकरण संस्कार उन्होंने कराया था वे मेरे God Father हैं। मेरा जन्म हिसार में १६११ में हुआ था। वहाँ पर आर्य समाज के उत्सव पर स्वामी जी आये थे।

एक बार स्वामी जी महाराज हमारे निवास स्थान पर आये थे, उस समय मैं घर के बाहर खेल रहा था। दादी जी ने पूछा कौन आये हैं तो मैंने बचपन की मूढ़ पंजाबी जुबान में उत्तर

दिया "बाबा रोड़ा मोढ़ा आये हैं" इस पर मेरी माताजी ने ताड़ना की, चपत भी लगाए, तो उस दया के सागर देवता ने मुझे प्यार किया, गोद में बैठने का सुअवसर भी प्रदान किया। मेरे पिताजी रेलवे विभाग में इंजीनियर थे और जोधपुर में नियुक्त थे उस समय स्वामी जी को आर्य समाज के उत्सव पर बुलाया गया था और पिताजी ने मेरे छोटे भाई नरेन्द्र देव का मुण्डन संस्कार (चूड़ाकर्म) भी करवाया था। स्वामी जी महाराज हमारे ही बंगले में जो जोधपुर के एक Sub Station राईकाबाग में था, ठहरे थे। जो आर्य समाज से बहुत दूर था, इस कारण पिताजी ने उन्हें ले जाने, लाने के लिए राजकीय बग्घी का प्रबन्ध कर रखा था। एक दिन बग्घी वाला ठीक समय पर आ गया। परन्तु पिताजी तैयार नहीं हुए थे स्वामी जी अन्दर आंगन में आये।... माता जी से पूछा सुन्दर कहाँ है ? तो माता जी ने कहा सन्ध्या कर रहे हैं, तुरन्त स्वामी जी पिताजी के छोटे से कार्यालय में गए एक कागज लिया और उस पर यह लिखकर "सुन्दर" Action is the only prayer that is ever heard, बग्घी पर सवार होकर स्वामी जी समाज चले गए और पिताजी जो समाज के अधिकारी भी थे उन्हें वहीं छोड़ गए।

यदि उदंडता न समझी जाय तो प्रोफेसर इन्द्रजी के विचार मेरे अपने शब्दों में उनसे मिलते जुलते लिख रहा हूँ। "पिताजी बहुत भावुक थे उनके मस्तिष्क में जो विचार आता तुरन्त पूरा करने में लग जाते, मैं (इन्द्र) सब काम सोच विचार करके करने वाला था और जब पिताजी को कहता कि मुझे इस विषय पर सोच लेने दो तो स्वामी जी कहते नहीं मेरा आदेश है इस कारण हमें वह कार्य करना ही पड़ता था"।

इस संदर्भ में ठीक शब्दों के प्रयोग के लिये श्री इन्द्र जी द्वारा लिखा आर्य समाज का इतिहास देखें। स्वामी जी महाराज और हमारे परिवार की घनिष्ठता का एक कारण यह भी था कि मेरे पूज्य फूफा स्वर्गीय डा० चिरञ्जीव भारद्वाज M.B.B.S. F.R.C.S. लाहौर के प्रसिद्ध व कुशल चिकित्सक थे और आर्य समाज के वरिष्ठ नेताओं में से थे। सत्यार्थ प्रकाश का सबसे पहली बार उन्होंने ही अंग्रेजी में अनुवाद किया था- फूफा जी स्वामी जी की गुरुकुल प्रणाली के समर्थक थे और उनके साथ मिल कर इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया था। स्वामी जी के right hand कहाते थे। उन्होंने भी स्वामी जी की भान्ति गुरुकुल के प्रारम्भिक काल में अपने दोनों सुपुत्रों श्री सत्यव्रत और सत्यकाम को प्रवेश करवाया था।

नोट I :- जब मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं मेरी आखों के सामने गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी का भव्य स्वरूप, विशाल ललाट और वह तेजस्वी चमकते नैन बार-बार घूम रहे हैं और मैं उनको अपने श्रद्धा के सुमन भेंट कर रहा हूं।

नोट II :- ऊपर कह आया हूँ कि यह मेरे बाल्यावस्था के धुंधले से विचार हैं इस कारण त्रुटियां भी हो सकती हैं।

इन्द्रदेव खोसला
२२५, आर्य वानप्रस्थ आश्रम,
ज्वालापुर - हरिद्वार

स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरणों में.....कुछ पद्य-प्रसून

महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.

यह धन्य-धन्य भारत-माता, यह पुण्य-भूमि, यह देव-धरा।
प्रभु की इस अनुपम रचना को, शतबार सखे, वन्दन मेरा।।

इसके वन-उपवन सरितायें, गुण-गान सदा करती इसका।
हिमगिरि के ऊँचे शुभ्र-शिखर, यश-गान सदा करते इसका।।

सागर लहरा कर चरणों का, निशिवासर वन्दन करते हैं।
चन्दा-सूरज निज आभा से, इसका अभिनन्दन करते हैं।।

ऋतुओं की छटा सुहानी यहाँ, सबका मन भी मोह लेती है।
यह शस्य श्यामला धरती माँ, जन-जन का मंगल करती है।

यह ऋषियों की है दिव्य-धरा, ज्ञानी-ध्यानी जन्में यहाँ पर।
यह तपस्वियों की भू-माता, सिंहों से खेले थे यहाँ पर।।

इसकी गोदी में पल कर के, बलवान बने, विद्वान बने।
महापुरुष अनेकों जन्में यहां, जो भारत-भू की शान बनें।।

ऐसी इस भारत-भूमि में, जब 'फिरंगियों' का शासन था।
सन् ५७ का गदर मचा, भारत का कण-कण घायल था।।

पंजाब प्रान्त के एक घर में, नन्हें बालक ने जन्म लिया।
'श्रद्धानन्द स्वामी' बन कर के, भारत का ऊँचा नाम किया।।

उस वीर अमर बलिदानी की, गाथा लिखने की ठानी है।
जीवन के रूप अनेकों हैं, अद्भुत् एवं लासानी है।।

कभी बने 'राष्ट्र' के नायक तो, कभी 'जिज्ञासु' बन जाते हैं।
'महात्मा' की पदवी ग्रहण करी 'श्रद्धानन्द' भी बन जाते हैं।।

'गुरुकुल' के संस्थापक बन कर, 'कुलपिता' कभी कहलाते हैं।
'तप-त्याग-मूर्ति' श्रद्धानन्द, 'शहीदों' में नाम लिखाते हैं।।

हिन्दी-भाषा के पोषक बन, दिल्ली में धूम मचाते हैं।
कभी 'कांग्रेस' के नेताबन, एक नयी भावना लाते हैं।।

अमृतसर के अधिवेशन में 'स्वागत-सिरमौर' बने स्वामी।
'घर-घर' में प्रतिनिधि ठहराये, जन-जन के प्यारे थे स्वामी।।

कभी 'संगीनों' के आगे आ, 'बेताज' बादशाह कहलाये।
'जामा मस्जिद' से जब बोले, 'आला-फकीर' थे कहलाये।।

आर्यों की जीवन-नैय्या के नाविक स्वामी जी बनते हैं।
'ऋषि-दयानन्द' के सैनिक बन, नहीं कभी कष्ट से डरते हैं।।

'शुद्धि-प्रचार' किया ऐसा 'मलकाने-मुस्लिम शुद्ध किये।
उद्धार दलितों का करने, जन-जन के मन तैयार किये।।

वे 'सत्' के धारण करने से 'श्रद्धानन्द स्वामी' कहलाये।
निज 'आत्म-कथा' लिख दी ऐसी, गुण अवगुण सारे बतलाये।।

बहु आयामी जीवन वाले, वे श्रद्धानन्द अलबेले थे।
सबके प्राणों के प्राण अरे, वें 'राष्ट्र भक्त अलबेले थे।।

'स्वातन्त्रय-समर' के योद्धा थे, वे वीर अमर बलिदानी थे।
'भारत माता' के वरद् पुत्र, वें जीवन में लासानी थे।।

ऐसे अद्भूत् जीवन वाले, मानव बिरले ही होते हैं।
अपना जीवन देकर जग को, वे जीना यहाँ सिखाते हैं।।

'नानकचन्द' के कुल में जन्मे, फागुन का दिन अलबेला था।
सम्बत्, १६१३ कृष्ण-पक्ष, खुशियों का घर में मेला था।।

'वृहस्पति' नाम था बचपन का, पर उल्टे कर्म किया करते।
गन्दी संगत में पड़कर के, जीवन बरबाद किया करते।।

नियमित शिक्षा मिल सकी नहीं, व्यवधान पठन में बहुत पड़े।
पर 'क्वीन्स कॉलेज' काशी जी में, आगे की शिक्षा आप पढ़ें।।

वहां पर भी बुरी आदतों ने, नहीं उनका पीछा छोड़ा था।
अपने चरित्र् की ओर अभी, उनका ध्यान कुछ थोड़ा था।।

वे कोट पैंट नकटाई लगा, फिर इतर-फुलैल लगाते थे।
रण्डी-भड्डुवों की महफिल में, जीवन का लुत्फ उठाते थे।।

युवक थे मुंशीराम सुनो, वे मांस-मद्य भी खाते थे।
थे पिता शहर के कोतवाल, मस्ती वे खूब उड़ाते थे।।

सन् अठारह सौ सतहत्तर में, फिर विवाह रचाया जाता है।
उपन्यासों में जो पढ़ते थे, नहीं पत्नी में वह मिलता है।।

वह सती-साध्वी सरलचित्त, धार्मिक महिला पर्दे वाली।
थी जमींदार की बेटी पर, एक स्नेहपूर्ण हृदय वाली।।

अंग्रेजी-शिक्षा के रंग में, वे यों भरमाये जाते थे।
अच्छे और बुरे का भी, नहीं भेद समझ कुछ पाते थे।।

सब गन्दी आदत छूट चली, पर गम को भूला रहीं मदिरा।
एक रोज बहुत पीकर आए, अब देखो ईश्वर की महिमा।।

पतिव्रता-साध्वी 'शिवदेवी, भोजन ले खड़ी बेचारी है।
उस 'मुंशीराम' अलबेले को, मदिरा की चढ़ी खुमारी है।।

फिर धुत्त नशे में थाली पर, एक लात घुमा कर मारी है।
ईश्वर की अद्भुत बातों को, कब समझ सके संसारी हैं।।

सब भोजन-बर्तन बिखर गया, सहमी-सहमी 'शिव देवी' थी।
आँसू टप-टप कर गिरते थे, डरती-डरती कुछ कहती थी।।

थी चढ़ी मद्य की मादकता, वे गन्दी गाली बकते थे।
था होश नहीं उनको अपना, औंधे बिस्तर पर गिरते थे।।

'शिवदेवी' उनको देख-देख, आँखों से अश्रु बहाती हैं।
'जूते-जुराब' उतारे फिर, उनके दो चरण दबाती है।।

धन्य-धन्य 'शिवदेवी' तुम,
तुम जैसी भारत की देवी।
पतितों को अरे! उठाती है,
देकर अपनी ममता सारी।।

फिर आँख खुली तो 'मुंशीराम' देवी के तप को देख-देख।
पछताये अपनी करनी पर, अपने को इतना गिरा 'देख'।।

वह उतर गया सब रंग-ढंग, पत्नी का स्नेह समझ आया।
उस भोली-भाली बाला का, उनको सब रूप समझ आया।।

फिर, बोतल तोड़ फेंक डाली, क्षण में जीवन कुछ ओर बना।
बरसों का मद्यप मुंशीराम 'कल्याण-मार्ग का पथिक' बना।।

एक रोज धमाका हुआ गजब, वह नगर बरेली जाग उठा।
'ऋषि दयानन्द' आगमन देख, सोता समाज भी जाग उठा।।

जब जीवन में कुछ घटता है, संकेत स्वयं मिल जाते हैं।
हम जैसे अल्प बुद्धि प्राणी, यह बात समझ नहीं पाते हैं।।

अपने बेटे को भटका सा, जब देखा पिता 'नानक चन्द' ने।
चिन्ता की रेख उभर आयी, दी उन्हें प्रेरणा निज मन ने।।

फिर बोले युवक बेटे से, एक 'दण्डी' स्वामी आये हैं।
तुम भाषण उनके सुनो अरे, वे अद्भुत स्वामी आये हैं।।

जो मन में शंका रखते हो, शायद उनका उत्तर पाओ।
कुछ दिन को ठहरे हैं यहाँ पर, 'टाऊन हाल' में तुम जाओ।।

वह 'प्रथम दरस ही युवक को, ऐसा आकर्षित कर बैठा।
जैसे 'चुम्बक' के मिलने पर, लोहा खिंचाता ही है जाता।।

'स्कॉट' आदि अंग्रेजों को जब देखा ऋषि-भाषण- सुनते।
तब 'मुंशीराम' के दिल में भी 'श्रद्धा' के भाव लगे जगने।।

ऋषि दयानन्द का दिव्य तेज, उनको आकर्षित करता है।
माधुर्य-भरा वाणी का स्वर उनपर जादू सा करता है।।

मुंशीराम यह देख-देख, विस्मित से होते जाते हैं।
'संस्कृत' के केवल ज्ञाता यें, अदभुत बातें बतलाते हैं।

ऋषि दयानन्द निज तर्कों से, उनको समझाते जाते हैं।
पर मुंशीराम तो ईश्वर पर, विश्वास नहीं ला पाते हैं।।

ऋषि बोले जैसे प्रश्न किए, वैसे ही उत्तर दिए तुम्हें।
जिस दिन उसकी कृपा होगी, वह अपनाएंगे वत्स तुम्हें।।

फिर बोले, जिस दिन आत्मा में 'श्रद्धा' का भाव वपन होगा।
उस ईश्वर की सत्ता पर भी, तुमको विश्वास स्वयं होगा।

वह कुछ घण्टों की जिज्ञासा,
जीवन की स्वर्णिम याद रही।
'निर्भीक दयानन्द' स्वामी की
'ओजस्वी छवि' भी याद रही।।

फिर जीवन में कुछ बनने की, इच्छा ने जोर लगाया है।
'कानून-परीक्षा' देने हित, 'लाहौर' दाखिला पाया है।।

जीवन की कुछ ऐसी बातें, जो अकाल काल घट जाती है।
जीवन को कुछ का कुछ करती, बुद्धि भी ठगी रह जाती है।।

वह चिर-वियोग प्रिय-पत्नी का, जीवन में परिवर्तन लाया।
नन्हें-नन्हें थे 'इन्द्र-हरीश', उन पर सब स्नेह उमड़ आया।।

फिर 'तायी' जी उन चारों का, पालन ममता से करती हैं।
अब 'मुंशीराम' के जीवन में, अद्भुत घटनायें घटती हैं।।

एब ठाट-बाट से उदासीन, निज कर्मों में लग जाते हैं।
वे 'जिज्ञासु' मुंशीराम सुनो, जीवन-पथ में बढ़ जाते हैं।

एक दिन ऐसा भी आया था, जो परिवर्तन जीवन में लाया।
ऋषि दयानन्द का दिव्य ग्रन्थ, 'सत्यार्थ-प्रकाश' जब मिल पाया।।

फिर बदल गयी जीवन-सारिणी, अंधियारा भगने लगा स्वयं।
ज्यों-ज्यों पढ़ते वे जाते थे, 'सत्यार्थ-प्रकट हो गए स्वयं'।।

आर्य समाज में दीक्षित हो, 'आचार-विचार' बदल डाले।
'श्री गुरुदत्त' पथ दर्शक थे, जीवन आयाम बदल डाले।।

फिर आर्य समाज में नया जोश, व नयी उमंग भर देते हैं।
यों ग्राम-ग्राम और नगर-नगर, धर्मप्रचार हित फिरते हैं।।

ऋषि दयानन्द के नामों से, डी.ए.वी. कॉलेज खुलते हैं।
संस्थापक 'लाला हंसराज' तन-मन-धन अर्पित करते हैं।।

यों इधर 'महात्मा मुंशीराम' गुरुकुल का स्वप्न देखाते हैं।
'वेदों' की शिक्षा फिर फैले, वे मन में निश्चय करते हैं।

पंजाब सभा में गुरुकुल का, प्रस्ताव एक वें रखते हैं।
गुरुकुल के लिए 'तीस-सहस्र' धन-राशि अर्जित करते हैं।।

हम उनके गुण कहाँ तक गायें, उपकार कहां तक गिनवायें।
उस श्रद्धा के अमर पुजारी ने, कितने गुरुकुल फिर खुलवाये।।

मुल्तान, मटिण्डू, इन्द्रप्रस्थ, गुरुकुल कुरुक्षेत्र भी खुलवाया।
'लाला देवराज' से मिल करके, 'कन्या गुरुकुल' भी खुलवाया।।

यह देश जगे, जन-जन जागे, यों पत्र निकाले स्वामी ने।
'जाति-बंधन' के बन्धन से यों हमें निकाला स्वामी ने।।

यों राजनीति के साथ-साथ, सामाजिक हल-चल कर डाली।
'शिक्षा-क्षेत्र' में गुरुकुल की एक नींव यहां फिर से डाली।।

'गुजरावालां' पञ्जाब-प्रान्त, 'गुरुकुल' का वहां श्री गणेश हुआ।
भारत के भाग्य-दिवाकर का, मानों उस दिन अभिषेक हुआ।।

पर 'मुंशीराम' के मन में जो, चिन्तन की धारा चलती थी।
दिनरात उन्हें उस ओर सदा, मन-ही मन व्याकुल करती थी।।

ऋषियों की वह पावन-वाणी, 'गिरीणां गहरे..... गूंज रही।
वन-उपवन में गुरुकुल होबस, यह तड़प उन्हें थी साल रही।।

अन्तस में उठते जो विचार, 'प्रभु' पूर्ण सदा कर देते हैं।
वह बना किसी को कर्ता फिर, सब काम पूर्ण कर देते हैं।

बिजनौर-निवासी अमन सिंह, युग-युग तक यश के भागी हैं।
तन-मन व धन अर्पित करते, ऐसे कहां मिलते त्यागी हैं।।

थे 'अमन सिंह जी' जमींदार, धन-वैभव सब था भरा हुआ।
'पुत्र-विहीन' थे मुंशी जी, जीवन में यही अभाव रहा।।

पर देकर अपना 'धन-वैभव' वे उस सुख को पा जाते हैं।
जिस सुख को इस जगती-तल पर, बिरले ही मानव पाते हैं।।

वे धन्य हुए, हम धन्य हुए, भारत-माता भी धन्य हुई।
'कांगड़ी ग्राम की भूमि भी, उस 'पुण्य-दान' से धन्य हुई।।

'तेरह सौ बीघा' वन्य-भुमि, वे गुरुकुल हित दे देते हैं।
'श्रद्धानन्द-स्वामी' धन्य-भाग, गुण मुंशी जी के गाते हैं।।

गुरुकुल में अब भी -अमन-चौक', उनकी याद दिलाता है।
यह 'कुल' तो सबका ऋणि सखे, जो पुण्य-दान के दाता हैं।।

'चण्डी' के बीहड़-जंगल में,फिर कुटियों का निर्माण हुआ।
एक सच्चे निर्भय साधु का, यह स्वप्न वहाँ साकार हुआ।।

उस 'नीलगिरि' के जंगल में, झरबेरी, बिल्व व खैर खड़े।
हिंस्रक पशुओं की गर्जन से, तन-मन में भय-संताप बढ़े।।

गंगा का तट निर्मल-पावन, 'चण्डी' की रम्य उपत्यका में।
गुरुकुल' का शुभ श्री गणेश हुआ, १६०२ की पावन बेला में।।

'हरिद्वार क्षेत्र' यह 'पुण्यक्षेत्र', गुरुकुल से शोभित सदा हुआ।
फिरदेश और विदेशों में, यश द्विगुणित इसका ओर हुआ।।

कल-कल करती गंगा-धारा, गुरुकुल का स्पर्श किया करती।
मानो ऐसा करने के मिस, वह अपना स्नेह दिया करती।।

'आचार्य महात्मा-मुंशीराम' निज पौधे का रक्षण करते।
इस तरह अनेकों वर्षों तक, एक 'लक्ष्य-साधना' थे करते।।

अंग्रेजी शासन सत्ता का, भास्कर तब 'अस्ताचल' पर था।
स्वाधीन बनाने भारत को, वीरों का रक्त 'उदयाचल' पर था।।

इस युग में 'स्वामी' जी ने, यह 'अद्भूत-ज्योति' जलायी थी।
जिससे उदीप्त चिरागों ने, एक अनुपम क्रान्ति मचायी थी।।

आर्यभाषा के माध्यम से, शिक्षा सब गुरुकुल देता था।
'पाश्चात्य-पूर्व' के मिश्रण से, एक 'पूर्ण-स्नातक' बनता था।।

जहाँ-जहाँ पर पहुँ 'अलंकार' इस कुला माँ का यश-गान किया।
वेदों की पुण्य-पताका ले, निज लक्ष्य सदा संधान किया।।

'निर्भय व त्यागी' बनने की, शिक्षा गुरुकुल में मिलती थी।
निज 'मातृ-भूमि' पर मिटने की, एक 'क्रान्ति ज्वाल' भी जलती थी।।

नैतिकता और वीरता के, भावों का 'कुल' में नर्तन था।
वेदों की शिक्षा से शिक्षित, गुरुकुल माता का कण-कण था।।

वे 'मात-पिता' बन कर सबके, इस कुल को शोभित करते हैं।
'आचार्य मुंशीराम' सदा इस कुल को पोषित करते हैं।।

'गंगा' के तट पर 'खटुआ' था, वहां पर कुटिया बनवाई थी।
जीवन को समस्त भावनायें, गुरुकुल में सदा समाई थी।

एक दिन ऐसा भी आ पहुँचा, गुरुकुल से विदा हुए स्वामी।
'कनखल-मायापुर' बगिया में, 'सन्यास-ग्रहण' करते स्वामी।।

सत्यानन्द जी महाराज उन्हें, 'सन्यास-ग्रहण' करवाते हैं।
सत् का जीवन में 'व्रत' पाला, 'श्रद्धानन्द वे कहलाते हैं।।

भिगी पलकों से 'कुलवासी', उनको विदाई भी देते हैं।
ब्रह्मचारी उनके जाने से, बस ठगे-ठगे रह जाते हैं।।

वह भव्य रूप स्वामी जी का, सबको आकर्षित करता था।
'आजान बाहु' ऊँचा मस्तक, 'कद' वीर पुरुष सा लगता था।।

वह शुभ्र-श्वेत दाढ़ी उनकी, आँखों में प्रेम-भरी ज्योति।
होठों से मधु-रस टपक रहा, दिल में श्रद्धा का था मोती।।

दृढ़ता की भव्य-मूर्ति थे, 'साहस' की अमर कहानी थे।
अपने युग के वे सिंह पुरुष, श्रद्धानन्द जग में नामी थे।।

हे तपः पूत, हे वीतराग,
तुमने जग को दी नयी दृष्टि।
हे पुण्य लोक, हे पुण्य श्लोक,
तुमने गुरुकुल सी करी सृष्टि।।

गुरुकुल का नाम सुना जिसने, आकर्षित वह हो जाता था।
गुरुकुल में आने को उसका, मन सदा तड़पता रहता था।।

महात्मा गांधी, राजेन्द्र, 'अणे' आये यहां भारत के नेता।
था कौन नहीं यहां पर ऐसा, जिसका दिल 'कुल' ने नहीं जीता।।

अंग्रेजी-शासन-सत्ता भी, चिन्तित थी गुरुकुल-शिक्षा' से।
'अनुदान' नहीं लेता फिर भी, चल रहा 'दान' की 'भिक्षा' से।।

इसलिए एक दिन दिल्ली में, 'वायसराय' उन्हें बुलवाते हैं।
स्वामी जी उनसे बोले यों, हम वेदों की शिक्षा देते हैं।।

पर अंग्रेजी शासन सत्ता को, यहां गंध बगावत की आयी।
इसलिए निरीक्षण करने फिर, एक 'टीम' यहां पर भिजवायी।।

गुरुकुल की बातें देख-देख, वें 'अभिभूत' हो जाते हैं।
अपनी रिपोर्ट मे गुरुकुल को, एक 'साधना-स्थल बतलाते हैं।।

जिन विस्फोटों की चर्चा वें, अपनी रिपोर्ट में कर न सके।
गुरुकुल में निर्मित 'क्रान्तिबम', ब्रह्मचारी उनको दिख न सके।।

चेम्सफोर्ड, आए गुरुकुल, अभिनन्दन उनका होता है।
अपनत्व भावना देख-रेख, दिल उनका गद-गद होता है।।

गुरुकुल के आंतरिक शासन में, 'परिवार-भावना' पलती थी।
सुख-दुःख तो सबका साझा था, नहीं द्वेष-भावना पलती थी।।

सब 'जीवन-यापन' की वस्तु, गुरुकुल उपलब्ध कराता था।
गुरुकुल का पैसा गुरुकुल में, अपना ही 'चक्र' चलाता था।।

देकर गुरुकुल का भार सभी,
निज 'धर्मपुत्र के हाथों में।
'बर्मा' की यात्रा करते हैं,
'धनहेतु, गुरुकुल कार्यों में।।

फिर 'रामदेव जी' गुरुकुल का, सब भार ग्रहण कर लेते हैं।
'आचार्य' बनकर गुरुकुल के, संरक्षण इसका करते हैं।।

'गंगा के पार' बसा गुरुकुल, क्या अपनी गुरुता रखता था।
था चमन बना बीहड़ जंगल, जन-जन को सुरभित करता था।।

अच्छा ही अच्छा था गुरुकुल, नहीं लेश बुराई दिखती थी।
'उत्सव' पर भारत की जनता, 'दर्शन हित' सदा उमड़ती थी।।

दुनियादारी से दूर बसे, ब्रह्मचारी अजब-अनोखे थे।
ब्रह्म-बल में बढ़चढ़ कर वें तो, तन-बल में अजब अनोखे थे।।

कोई 'कार' रोकर भुजबल से, 'ब्रह्म-बल' का रूप दिखाते थे।
वे 'सत्यपाल' 'महेन्द्र' निडर, चीतों से भी भिड़ जाते थे।।

जंजीर तोड़कर, छाती पर, 'भारी पत्थर' कुटवाते थे।
लाठी-भाले, तलवार चला, 'तन-बल' के खेल दिखाते थे।।

उनकी बातों को देख-रेख, 'दर्शक' खुशियाँ में भरते थे।
वे नाम कमा कर गुरुकुल का, 'यश' द्विगुणित इसका करते थे।।

संस्कृत, अंग्रेजी हिन्दी की, 'त्रिवेणी' कुल में बहती थी।
अद्‌भुत, अद्‌भुत वह गुरुकुल था, यहां दिव्य-भावना रमती थी।।

एक रोज विकट संकट आया,
गंगा में 'भीषण-तरंग' उठी।
सन् २४ का वह दुर्दिन था,
'कुलभूमि' जल से पूर हुई।।

कच्चे झोंपड़ बह गए सभी, कुछ भवन-दीवारें टूट गयी।
आचार्यराम के माथे पर, चिन्ता-चिन्तन की रेख पड़ी।।

उस भव्य-भारती-मन्दिर के, अवशेष आज भी बोल रहे।
थे कभी हमारे दिन स्वर्णिम, कुछ खंडहर अब भी सोच रहे।।

फिर 'वर्तमान इस गुरुकुल' का,
'शाहपुराधीश' ने न्यास किया।
'श्री रामदेव' ने दान-मांग
इसका फिर से उद्धार किया।।

यों उजड़े गुरुकुल में फिर से, एक नूतन जीवन आया था।
ईश्वर की महिमा अदभुत है, फिर से यह पुष्प खिलाया था।।

'कुलपिता' देखकर गुरुकुल को, मन ही मन खुशी मनाते हैं।
'दिल्ली' को 'कार्य-क्षेत्र' बना, सोता यह देश जगाते हैं।।

स्वामी जी सामाजिक कार्यों में, फिर अपना समय लगाते हैं।
अच्छूतों के उद्धारक बनकर, 'शुद्धि' का बिगुल बजाते हैं।।

'गांधी जी' का सहयोग किया, सत्याग्रहों में भी भाग लिया।
'मियाँवाली, जेल में बन्द रहे, हिन्दुओं का भी उद्धार किया।।

उपकार-भावना जीवन में, जिसको बेचैन किया करती।
वह सुख से कभी न सोता है, एक लगन उसे प्रेरित करती।।

'बेताज बादशाह' दिल्ली के, स्वामी जी तब कहलाते थे।
उनके विचार सुनने को सब, आकुल-ब्याकुल से रहते थे।।

वह 'तांगेवाला' धन्य-भाग, जो स्वामी जी को लाया था।
मुस्लिम जनता ने जय-जय से, धरती-आकाश गुंजाया था।।

'जामा-मस्जिद' के मिम्बर से, 'विश्वानि देव..' की गूंज हुई।
सुनकर वह अनुपम वाणी वहां, जनता भी भाव-विमोर हुई।।

भारत की नहीं, विश्व की भी, यह एक 'अनोखी घटना' है।
'कट्टर-मजहबी' इस्लाम कहां, कभी अन्य धर्म को गिनता है।।

पर भावनायें मानव को वहाँ, पहुँचा देती है क्षण भर में।
जहाँ केवल मानव, मानव है, नहीं होता कोई फिर मन में।।

पर भेद-भाव की नीति पर, 'अंग्रेजी-शासन' चलता था।
भारत की जनता एक न हो, यह उनका मकसद रहता था।।

'ब्रिटिश-सत्ता की आँखों में, स्वामी जी खटका करते थे।
'हिन्दू-मूस्लिम' सब एक बने, वें यही प्रचारा करते थे।।

'श्रद्धानन्द-स्वामी' की जय-जय, सब ओर सुनाई पड़ती थी।
उनके बस एक ईशारे पर, लाखों की भीड़ उमड़ती थी।।

'रोलेट-एक्ट' का था विरोध, भारत-माता हुंकार उठी।
जन-जन में था आक्रोश-रोष, स्वाधीन-भावना' जाग उठी।।

'श्रद्धानन्द-स्वामी' जनता को, निजभाषण से झकझोर रहे।
उस 'गर्म हवा पर थोड़ी सी, 'शान्ति फुहार' थे छोड़ रहे।।

फिर 'रानी-बाग' से चली वीर-सत्याग्रहियों की टोली थी।
आगे-आगे स्वामी जी थे, पीछे सहस्रों की टोली थी।।

वह 'चान्दनी चौक' वह घन्टाघर, अब तक साक्षी है बना हुआ।
उस वीर अमर बलिदानी का, साहस वहां अद्‌भुत प्रकट हुआ।।

चलते-चलते रूक गये सभी, आगे 'संगीने' तनी खड़ी।
स्वामी जी थे निर्भीक सिंह, किरचों के आगे देह अड़ी।।

बोले स्वामी जी किसने यहां, लोगों पर 'फायर' किया अरे।
यदि हिम्मत है मैं खड़ा यहाँ, मुझ पर फायर तुम करो अरे।।

यह घटना जब घट रही वहाँ, एक 'अफसर' घोड़े पर आया।
स्वामी जी का यह रूप देख, मन ही मन था वह घबराया।।

वह बोला- 'फायर गलत हुआ', पीछे 'पलटन' को हटा दिया।
जयघोषों से पट गयागगन, जनता ने फिर प्रयाण किया।।

यह पाँच मिनट, की घटना बस, जीवन की अद्‌भुत घटना है।
जग में कुछ करने वालों को, पड़ता जीवन में तपना है।।

श्रद्धानन्द स्वामी की गाथा
क्या अजब, अमोल, अनूठी है।
गिरने वालों उठकर देखो,
'हीरे' से 'जड़ी' अंगूठी है।।

स्वामी जी इतने व्यस्त हुए, सुध-बुध तन की भी भूल गए।
सन्यासी-धर्म निभाने को, मोह-ममता से भी दूर हुए।।

कभी 'काशी' में, कभी 'पूना' में हिन्दु महासंघ बनाते हैं।
कभी 'दिल्ली' में कभी 'आगरा' में, शुद्धि की धूम मचाते हैं।।

फिर 'कालीकट' में पहुँच गए, 'मद्रास' यात्रा कर डाली।
'गोखले-हॉल' में भाषण की, अद्‌भुत वह झड़ी लगा डाली।।

मथुरा में जाकर 'ऋषिवर' की वे जन्मशती मनवाते हैं।
पंजाब प्रान्त में जा पहुंचे, 'आर्यों' को पुनः जगाते हैं।।

'गुजरात राज्य' नवसारी में, ऋषिवर की शती मनाते हैं।
'भागलपुर' बिहार में हिन्दी की, महिमा सबको समझाते हैं।।

कभी 'बेलगाँव' में गांधी जी, उनको सादर बुलवाते हैं।
कभी 'उत्तर में, कभी 'दक्षिण' में, निज धर्म-ध्वजा फहराते हैं।।

फिर बने 'शुद्धि' के सूत्रधार।
जनता के तुम थे हृदयहार।
करके 'मलकाने' शुद्ध-पूत,
लाये शद्धि का प्रबल-ज्वार।।

फिर ग्राम-ग्राम और नगर-नगर, शुद्धि का डंका बजता है।
यह 'ग्राम' हिन्दू बन गयाअरे! दूजा तैयारी करता है।।

शुद्धि-आन्दोलन के कारण, कितने ही उनसे रूष्ट हुए।
'महात्मा गांधी' स्वामी जी से, अन्तर्मन में नाराज हुए।।

पर रोके ना रूक पाती है, अग्नि-पानी की ज्वालायें।
जग में कुछ का कुछ कर देती, मानव की उद्दीप्त भावनायें।।

'शुद्धि' का यह था प्रचण्ड ज्वाल, वह रोके ना रूक पाया है।
जो बिछुड़ गए थे अपनों से, उनको अपना बनवाया है।।

शुद्धि का यह था 'महासमगर', 'विजय-अभियान' चलाया था।
'असगरी बेगम' को शुद्ध किया, 'शान्ति' यह नाम रखाया था।।

कट्टर इस्लामी मुल्ला तो, यह सहन नहीं कर पाते हैं।
'जामा मस्जिद' के 'श्रद्धानन्द', शैतान नजर अब आते हैं।।

धमकी पर धमकी भरे पत्र, स्वामी जी प्रतिदिन पाते हैं।
पर वीर-पुरुष, समरांगण से, पीछे कब पैर हटाते हैं।।

भारत के स्वर्णिम पृष्ठों पर, फिर रक्तिम छींटे पड़ते हैं।
श्रद्धानन्द स्वामी निज खूं से, इतिहास नया ही रचते हैं।।

सर्दी हो चाहे गर्मी हो, वे उसे झेलते जाते थे।
'सत्तर' की आयु पार हुई, फिर भी विश्राम न लेते थे।।

वे 'इन्द्रप्रस्थ' की यात्रा में, थक गए सख्त बीमार हुए।
'ज्वर-शीत' चढ़ा तन पर ऐसा, 'स्नेही जन अति उदास हुए।।

स्वामी जी रोगी-शैय्या पर, विश्राम कक्ष में करते थे।
'डा० अन्सारी' देख-रेख, पूरे तन-मन से करते थे।।

तब एक छली, कपटी, मदान्ध, उनसे मिलने को आता है।
पानी पीने के छल से वह, सेवक को दूर हटाता है।।

'पिस्तौल' निकाला कायर ने, 'फायर' भी फिर कर डाले हैं।
'बलिदान' धर्म-हित हुए 'पिता', प्रभु के सब काम निराले हैं।।

'बलिदान' भवन की दीवारें, चित्कार उठी, दुत्कार उठी।
उस 'अब्दुल रशीद' कसाई को, भारतमाता धिक्कार उठी।।

तेईस तारीख सनू छब्बीस का, वह दुर्दिन साल गया सबको।
'कुलवासी' आकुल-व्यांकुल थे, 'ब्रह्मचारी 'पिता' कहें किसको।।

ओ, बुझदिल कायर, हत्यारे,
धिक्कार तुझे, लानत तुझको।
ओ मानवता के महाकलंक,
'दोजख' भी नसीब न हो तुझको।।

फिर भगते-भगते कायर को, जब 'धर्म सिंह' ने पकड़ा है।
गोली 'सेवक' को भी मारी, फिर 'पण्डित जी' ने पकड़ा है।।

थे बलिष्ठ 'धर्मपाल'[1] जी तन से, अब्दुल रशीद को रगड़ा है।
फिर आयी पुलिस खबर पाकर, उस दुष्ट क्रूर को जकड़ा है।।

---

(१) पं० धर्मपाल जी विद्यालंकार भू.पू.स. मुख्याधिष्ठाता

अस्ताचल पर आसीन 'रवि'
सब दृश्य देखाते जाते थे।
लाखों लोगों की आँखों में
उस दिन आँसू ही आँसू थे।।

रंग लाल-लाल था चहुं ओर, हत्यारा खेल गया होली।
श्रद्धानन्द स्वामी अमर रहे, जन-जन की टोली थी बोली।।

थे धर्मवीर, थे 'अमरवीर'
थे कर्मवीर, थे 'धीर-वीर'।
श्रद्धानन्द स्वामी सचमुच ही
थे निर्मल गंगा से पवित्र 'नीर'।।

उत्थान-पतन, जीना-मरना, जीवन के साथ लगे रहते।
कभी खुशियों के मेले यहाँ पर, कभी आँसू बन पीड़ा कह देते।।

उस वीर अमर-बलिदानी के 'गुरुकुल' का भी उत्थान हुआ।
'सौ वर्षों' का इतिहास अमर, जग में इसका सम्मान हुआ।।

स्वामी जी ने जो पौधा, अन्तर्भावों से रौपा था।
'झंझावातों, से बचा इसे, 'श्री रामदेव' ने सींचा था।।

'श्री इन्द्र', 'विशम्भर नाथ' इसे, अपना संरक्षण देते हैं।
कभी नन्दलाल जी, सहायक बन प्रबन्ध कुशलता लाते हैं।।

श्री अमरनाथ सप्रूजी तो मन-धन दोनों ही देते हैं।
इस तरह अनेकों लोग यहां, निज जीवन अर्पित करते हैं।।

'बिरला जी' जैसे 'दानवीर', यहाँ 'मन्दिर वेद' बनाते हैं।
'श्री दीवानचन्द' व 'लब्भुराम' गुरुकुल हितदान जुटाते हैं।।

फिर अभयदेव जी, सत्यव्रत जी, सेवा वर्षों तक करते हैं।
श्री धर्मपाल जी निज मन से, इसका संरक्षण करते हैं।।

'प्रिय व्रत' पालित यह गुरुकुल तो, स्वर्णिम आभा प्रकटाता था।
था स्वर्ग तुल्य गुरुकुल जीवन, आने वाला सुख पाता था।

श्री विश्वनाथ, सत्यपाल यहां, इसका वर्चस्व बढ़ाते थे।
श्री बागीश्वर श्री रामनाथ, सुखदेव देव-समभाते थे।।

'श्री गोवर्द्धन बलभद्र' पुनः, वेदों की ध्वनि गुजाते हैं
'रघुवीर शास्त्री' शिषाविद् एक नयी प्रेरणा लाते हैं।।

उस ऊथल-पुथल के युग में भी, गुरुकुल नहीं डावाँ-डोल हुआ।
कभी 'महेन्द्र प्रताप, कभी गंगाराम, 'अग्नि' व 'इन्द्र' का जोर हुआ।।

फिर 'सत्यकाम', सत्यकेतु जी, इसका संरक्षण करते हैं।
श्री सूर्यदेव श्री महाविर सिंह, कुलाधिपति, विजिटर बनते हैं।।

दुर्दिन भी आते हैं जग में,
सुख दिन भी धूम मचा जाते।
संस्था के जीवन में भी तो
उत्थान-पतन आते-जाते।।

है समय-समय की बातें सब, यह समय बड़ा कातिल होता।
कभी हंसता है मानव-मन तो, कभी किसी बात से है रोता।।

अब नूतन युग के साथ-साथ, परिवर्द्धन गुरुकुल में आया।
'श्री धर्मपाल' कुलपति यहां, कर रहे पलट इसकी काया।।

संस्थान खोल कर नये-नये, वे इसका रूप निखार रहे।
श्रद्धा-नत हो, श्रद्धानन्द की, कुलवासी जय उच्चार रहे।।

आओ, श्रद्धा के अमर पुजारी के, जीवन की यह झांकी पढ़ लें।
यह गुरुकुल उनका स्मृति-चिन्ह आओ, इसका अभिनन्दन कर लें।

वे देश रत्न, वे राष्ट्र-रत्न,
उनका जीवन अद्भूत ललाम।
भारत के स्वर्णिम पृष्ठों पर
अंकित 'श्रद्धा' का अमर नाम।।

(स्वामी श्रद्धानन्द
की अमर कहानी के अंश)

हिंदी का पुट देकर पत्रकारिता को नई दिशा दी थी स्वामी श्रद्धानन्द ने

प्रो० विष्णुदत्त राकेश

आधुनिक भारत के शैक्षिक तथा राजनैतिक परिदृश्य के निर्माण में अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती की अहम भूमिका रही है। हरिद्वार की इस पावन धरती से ही आर्य जगत् की यह विभूति स्वतंत्र भारत की मान्य हस्ती बनी। स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना कर भारतीय शिक्षा प्रणाली को उद्घाटित किया।

२३ दिसंबर १६२६ को अंग्रेजी सरकार की कूटनीति के तहत एक धर्मान्ध व्यक्ति ने उन्हें गोलियों से छलनी कर डाला। उनके बलिदान ने महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरु, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं० मदन मोहन मानवीय, मौलाना मोहम्मद अली को भीतर तक हिला दिया। भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास सदैव स्वामी श्रद्धानन्द का ऋणी रहेगा। उनके गुरुकुल से निकल कर कितने रणबाकुरों ने राष्ट्र की वेदी पर जीवन होम किया। श्रद्धानंद के गुरुकुल को उस समय स्वातंत्र्य वीरों की कर्म भूमि कहा जाता था।

हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के हिंदी आचार्य डॉ० विष्णुदत्त राकेश की स्वामी श्रद्धानंद पर एक पुस्तक साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत है स्वामी श्रद्धानन्द के बारे में कुछ अछूते विषयों पर डॉ० राकेश से लंबी वार्ता के महत्वपूर्ण अंश-

स्वामी श्रद्धानन्द धर्म और शिक्षा के सुधार के लिए कार्यरत रहे किंतु राजनीति के क्षेत्र में उनका पदार्पण क्यों हुआ ? इस पर उन्होंने कहा कि यह ठीक है कि स्वामी जी मूलतः आर्य समाज के नेता थे। १८८४ में सत्यार्थ प्रकाश से प्रभावित होकर धार्मिक रुढ़िवाद के विरुद्ध आर्य समाज के सभासद बने थे पर १८८८ में कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में स्वामी जी ने भाग लिया और नेशनल पोलिटिकल कांग्रेस के साथ जुड़कर पंजाब में राष्ट्रीय विचारों का प्रचार-प्रसार करने लगे। उन्होंने कांग्रेस के लक्ष्य पर ट्रिब्यून में लेख भी लिखा। इसके तुरंत बाद उन्होंने १६ फरवरी १८८६ को उर्दू में **सद्धर्म प्रचारक** नामक साप्ताहिक भी निकाला।

स्वामी जी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में मार्गदर्शक कार्य किया है पर हिंदी में पत्र न

निकालकर उन्होंने पहले उर्दू में पत्र क्यों निकाला ? इस पर राकेश जी ने कहा कि स्वामी जी का कार्य क्षेत्र पंजाब था। पंजाब उर्दू का गढ़ था। आर्य समाज तथा राष्ट्रीय आंदोलन के विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए स्वामी जी को उर्दू में पत्र निकालना पड़ा। उर्दू पत्रकारिता पर अरबी-फारसी का रंग था पर स्वामी जी ने संस्कृत तथा हिंदी का पुट देकर उर्दू पत्रकारिता को नई दिशा दी। सद्धर्म प्रचारक के प्रारंभिक अंकों में धर्म, दर्शन, उच्च शिक्षा तथा राजनीति पर जो टिप्पणियां स्वामी जी ने लिखी हैं वह उर्दू को विषम तथा प्रस्तुत दोनों ही दृष्टियों से समर्थ बनाती हैं।

स्वामी जी की पत्रकारिता पर जैसा कार्य होना चाहिए था, अभी तक नहीं हुआ है। आप तो विश्वविद्यालय में हिंदी पत्रकारिता का अध्यापन भी कर रहे हैं, अतः आपको इस दिशा में कार्य कराना चाहिए, इस पर उन्होंने कहा कि स्वामी जी की पत्रकारिता पर उन्होंने तथा विष्णु प्रभाकर ने साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती' में विचार रखे हैं।

सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा लिखित जीवनी 'स्वामी श्रद्धानन्द', इंद्र विद्या वाचसपति द्वारा लिखित पुस्तक 'श्रद्धानंद' में स्वामी जी की पत्रकारिता पर प्रकाश डाला गया है। एक छात्र सुभाष चंद्र भाटी ने शोध प्रबंध लिखकर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है।

स्वामी जी ने हिंदी पत्रकारिता को क्या दिशा दी ? इस पर राकेश जी ने कहा कि, स्वामी जी ने उर्दू, हिंदी तथा अंग्रेजी में पत्र निकाले। १६०७ में माधवराज सप्रे के संपादन में जब तिलक जी के मराठी केसरी का हिंदी संस्करण निकला तब स्वामी जी ने उसी वर्ष सद्धर्म प्रचारक को उर्दू से हिंदी में निकालना शुरु किया। यद्यपि यह घाटे का सौदा था, पर राष्ट्रभाषा हिंदी की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने यह चुनौती स्वीकार की। १६२० में स्वामी जी ने गुरुकुल से **श्रद्धा** नामक साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारंभ किया तथा गुरुकुल के स्थिर कोष के निर्माण के लिए वर्मा की यात्रा की। १६२६ में उन्होंने अंग्रेजी में **द लिबरेटर** नामक साप्ताहिक निकाला। अस्पृश्यता उन्मूलन तथा अछूतोद्धार को राजनीतिक मंच से विशाल कार्यक्रम का रूप देने में उन्होंने पहल की थी। श्रद्धा और लिबरेटर विघटनकारी शक्तियों को जनता के बीच नंगा करने के लिए निकाले गए थे।

स्वामी जी और अछूत समस्या पर उन्होंने कहा कि अछूत समस्या का दोहन

सर्वप्रथम अंग्रेजों ने बांटो और राज्य करो की नीति को अमली जामा पहनाने के लिए किया था। फिर डॉ० अंबेडकर ने इस दिशा में कार्य किया पर वह आक्रोश और घृणा का वातावरण ही तैयार कर सके। बाद के राजनीतिज्ञों ने वोट की सत्ता के लिए अपने हित में उनका दोहन किया। आज देश इसी कारण एक विस्फोटक स्थिति में पहुंच गया है। यह दुर्भाग्य ही है कि इस दिशा में पहल करने वाले स्वामी जी के इस पक्ष को राजनीतिज्ञों ने सामने नहीं आने दिया।

१६२० में स्वामी जी ने ही नागपुर कांग्रेस में अछूतोद्धार पर प्रकाश डाला। १६२४ में 'हिंदू संगठन' नामक पुस्तक लिखकर उन्होंने हिंदुओं की प्रगति में अस्पृश्यता को बाध ाक तत्व सिद्ध किया। चमार, घेड़, डोम तथा मेघों के उद्धार के लिए उन्होंने पंजाब में सक्रिय आंदोलन चलाए। उन्होंने कहा मेरे लिए अस्पृश्यता के अभिशाप को उखाड़ फेंकना भारतीय राष्ट्रीयता की सुरक्षा के लिए आवश्यक शर्त है। १६१६ में अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष पद से बोलते हुए स्वामी जी ने दो ही ज्वलंत बिंदु, अस्पृश्यता निवारण तथा राष्ट्रीय शिक्षण विचारार्थ प्रसतुत किए थे। गांधी जी ने इसलिए लिखा था- 'स्वामी जी ने अछूतों के लिए जो कुछ किया, उससे अधिक किसी और पुरुष ने भारत में नहीं किया। उनका अस्पृश्यों के प्रति गहरा प्रेम था।' गांधी जी के जेल जाने के बाद कांग्रेसी नेताओं ने इस कार्यक्रम को भुला दिया इससे रुष्ट होकर स्वामी जी ने सरदार पटेल को दो कड़े पत्र लिखे थे।

उन्होंने बताया कि १६११ में महात्मा मुंशीराम का परिचय दीनबंधु एन्ड्रज से हुआ। दीनबन्धु प्रवासी भारतीयों के लिए व्याकुल रहते थे। दीनबंधु ने ही पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी तथा पंडित तोताराम सनाढ्य को इस दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया। गांधी जी से महात्मा मुंशीराम का परिचय दीनबंधु ने ही कराया था। गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने मजदूरी करके चंदा भेजा था। गांधी जी जब भारत आए तो उनके फोनिक्स आश्रम के विद्यार्थी तब तक गुरुकुल में रहे, जब तक वर्धा में आश्रम नहीं बना। ८ अप्रैल १६१५ को गंगाप्रार गुरुकुल में गांधी जी पधारे। मुंशीराम जी ने वहां आयोजित समारोह में उन्हें मिस्टर गांधी न कहकर महात्मा गांधी कहकर संबोधित किया और और तब से मिस्टर गांधी को पूरे देश ने महात्मा गांधी कहना शुरु कर दिया।

गुरुकुल की स्थापना तथा शुद्धि आंदोलन को लेकर उन्हें अपने समकालीनों के बीच काफी विरोध झेलना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ ? इस पर उन्होंने कहा कि गुरुकुल पारंपरिक उर्दू, संस्कृत तथा अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं से भिन्न शिक्षण संस्था थी। समान वस्त्र, समान भोजन, समान आवास तथा समान शिक्षा का प्राचीन आदर्श लेकर उन्होंने राष्ट्रवादी, चरित्रवान् तथा देशोपयोगी छात्रों के निर्माण के लिए यह प्रयोग किया था फिर कट्टरपंथियों के विपरीत यहां वेद वेदांग के पठन-पाठन का अधिकार बिना किसी जाति-पांति के भेदभाव के सबके लिए सुरक्षित था, अतः विरोध होना स्वाभाविक था।

एक ओर उन्हें अपने अंदर से विरोध झेलना पड़ा और दूसरी ओर अंग्रेज सरकार गुरुकुल को राजद्रोह का केंद्र मानकर शंका और संदेह से देखती रही। शुद्धि आंदोलन भी इस्लाम और ईसाई मत के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए था। लिबरेटर में उन्होंने शुद्धि का पक्ष अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। १६२३ में आगरा में उन्होंने शुद्धि सभा की स्थापना की फिर काशी के महासम्मेलन में भाग लेकर देशव्यापी कार्य शुरु किया। कालीकट में दलित जातियों के आंदोलन का नेतृत्व किया तथा १६२५ में दक्षिण भारत की धर्मयात्रा संपन्न की।

अंग्रेज सरकार को यह सब अच्छा न लगा और एक कट्टर धर्मांध व्यक्ति ने किसी कूटनीति के तहत २३ दिसंबर १६२६ को उन्हें गोली मार दी। एक सन्यासी भारतमाता की बलिवेदी पर शहीद हो गया। उनका असीम साहस, निर्भीकता राष्ट्र प्रेम तथा स्वाधीनता का जज्बा अनुकरणीय था। स्वामी जी ने बलिदान से देश का नया इतिहास लिखा।

(प्रस्तुति - कौशल सिखौला)

(२३ दिसम्बर, ६७ के अमर उजाला से साभार)।

हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द : बहुमुखी प्रतिभा के धनी

डॉ रामेश्वर दयाल गुप्ता पी-एच.डी.
आर्य नगर, ज्वालापुर

प्रायः स्वामी जी की चर्चा पढ़कर उनकी एक ही प्रतिभा उजागर की जाती रही है, और वो है उनके द्वारा आर्ष शिक्षा प्रणाली को जागृत करने हेतु गुरुकुल कांगड़ी आदि की स्थापना और संचालन। निःसन्देह यह एक बात ही उन्हें सदा-सदा के लिए अमर रखने को पर्याप्त है पर देश के सामाजिक और राजनैतिक उत्थान की कहानी स्वामी जी महाराज के इन दो दिशाओं में किये गये प्रयत्नों के अभाव में अधूरी है। इनका संक्षिप्त परिचय यूँ है :-

(१). गांधी जी ने जब दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के विरुद्ध वहां की गोरी सरकार के अत्याचारों के विरोध स्वरूप संघर्ष छेड़ा तो स्वामी जी ने गुरुकुल के अध्यापकों तथा छात्रों के एक सप्ताह के भोजन भर के दाम उनके पास सत्याग्रह निधि हेतु भेजें। जब गांधी जी ने भारत आकर यहां की राजनीति में प्रवेश किया तो सबसे पहले गुरुकुल में आये और धन्यवाद दिया। तभी महात्मा मुंशीराम (अर्थात् स्वामी श्रद्धानन्द) ने उन्हें महात्मा कह कर सम्बोधित किया। एक महात्मा ने दूसरे महात्मा को जन्म दिया। यह दूसरी बात है कि एक मुसलमान द्वारा और दूसरा हिन्दु द्वारा मारा गया। इसी की खोज हेतु दोनों महात्माओं के दृष्टिकोण को देखना होगा।

(२.) सन् १६२१ में देश में पहला हिन्दु मुस्लिम समझौता हुआ क्योंकि गांधी जी ने उस समय के मुसलमानों की इस मांग हेतु आन्दोलन करना मान लिया कि तुर्कों ने जो खलीफा की संस्था खत्म कर दी है उसे पुनः वापिस लाने के लिए अंग्रेज सरकार तुर्की पर जोर डाले। महात्मा मुंशीराम भी इस आन्दोलन में शामिल हो गये। दिल्ली में हकीम अजमल खां उन्हें जामा मस्जिद में व्यख्यान देने ले गये। दुनियाँ के मुस्लिम इतिहास में यह पहला और अन्तिम उदाहरण था। जबकि एक गैर मुस्लिम ने इमाम के मैम्बर पर खड़े होकर भाषण दिया हो। और वह भी वेद मन्त्र पढ़ने के बाद। जो जुलूस दिल्ली में निकाला गया उसे रोकने को फौज खड़ी की गयी थी। जुलूस का नेतृत्व स्वामी जी कर रहे थे। टुकड़ी के कप्तान ने संगीन जुलूस पर चलाने का आदेश दे दिया। स्वामी जी ने छाती खोल दी और कहा कि पहले गोली मुझ पर चलाओ। तपाक से अंग्रेज अफसर घोड़ी पर चढ़ा। उधर आ गया और इस अद्भुत शौर्य को देखकर दंग रह गया और संगीने वापिस का उसने आर्डर दे दिया। यह घटना टाउन हाल के सामने की है। जहां कि चांदनी चौक में स्वामी जी की मूर्ति स्थापित है।

(३.) इस सम्मान की पूर्व पीठिका दो वर्ष पूर्व ढूंढ़ी जा सकती है। सन् १६१८ में जलियाँ बाला बाग अमृतसर में जनरल डायर ने कांग्रेस की जनसभा पर मशीनगनों से गोली चलवाकर ३७८ व्यक्तियों को मारा और १२०० लोगों को घायल किया था। विरोध स्वरूप सन् १६१६ में अमृतसर में ही कांग्रेसो का वार्षिक अधिवेशन आहूत किया गया। कोई डर के मारे प्रबन्ध करने को तैयार नहीं था। तब स्वामी जी ने अधिवेशन का बीड़ा उठाया। उन्हें ही स्वागताध्यक्ष बनाया गया। उन्होंने पहली बार कांग्रेस के महाधिवेशन में स्वागत भाषण हिन्दी में पढ़ा। वहीं पर अंग्रेजी राज्य के खिलाफ सत्याग्रह की डुगडुगी बजायी गयी थी।

(४.) प्रश्न यह है कि ऐसा गांधीवादी व्यक्ति हिन्दुवादी कैसे हो गया? इसे जानने हेतु हमें काकीनाड़ा में हुए कांग्रेस महाधिवेशन की ओर जाना होगा। उसके सभापति मौलाना मुहम्मद अली थे। रियासत रामपुर के एक कलवार वैश्य परिवार के मुसलमान हो जाने पर शायद वे चौथी पीढ़ी में थे, अपने अध्यक्षीय भाषण में मौलाना ने कहा कि देश के सात करोड़ अछूत मुसलमानों को दे दो। और तब तीस करोड़ की आबादी वाले इस देश में हिन्दु तथा मुसलमान बराबर हो जायेंगे और सच्ची हिन्दु मुस्लिम एकता स्थापित हो जायेगी। स्वामी जी ने खड़े होकर विरोध किया और वहां से उठकर चले आये।

(५.) और स्वामी जी ने इस अभागे देश में सबसे पहला अछूतोद्धार आन्दोलन प्रारम्भ किया। हिन्दुओं से अपील की कि अछूतों को न्याय दो वरना "ये गैरों के घर जायेंगे" सारे देश में और सारी आर्य सभाओं में अछूतोद्धार सभाएं बनीं। उनके एक शिष्य राज्यरत्न आत्माराम अमृतसरी ने जो उस समय बड़ौदा राज्य में शिक्षा निदेशक थे, राजकीय सहायता से अम्बेडकर को अमेरिका पढ़ने भेजा। फलस्वरूप अछूतों का मुसलमान बनना बंद हो गया यदि उन दिनों हिन्दुओं ने थोड़ी और उदारता दिखा दी होती तो इस दशाब्दी में यह समस्या नहीं होती।

(६.) अब प्रश्न रह गया उनका जो मुस्लिम राज्यकाल में बल के जोर से मुसलमान बनाये गये थे। स्वामी जी महाराज ने एक अद्भुत बात की। शताब्दियों से हिन्दु क्षेत्र का दरवाजा बन्द था। उसमें से निकलने का तो रास्ता था अन्दर आने का नहीं। उन्होंने मुसलमानों आदि के हिन्दु समुदाय में घुसने का दरवाजा खोल दिया। उसे शुद्धि आन्दोलन का नाम दिया आजकल हिन्दु संगठन उसे प्रत्यावर्तन कहते हैं। नव मुस्लिम (अर्ध मुस्लिम) धड़ाधड़ हिन्दु बनने लगे और असगरी बेगम को हिन्दु बनाने के कारण अब्दुल रसीद ने उन्हें गोली से मार दिया। यह भी दिल्ली में ही हुआ। गांधी जी ने शुद्धि आन्दोलन के खिलाफ लिखा। शुद्धि कार्य की गति धीमी पड़ गयी। यदि आन्दोलन चलता रहता तो १६४७ में पाकिस्तान नहीं बनता। ध्यान रहे कि १६४७ में बंगाल में मुसलमान ५२% तथा पंजाब में ५३% ही आबादी में थे। बीस वर्ष में ३% को हिन्दु बना लेना सम्भव था। क्योंकि उन पर धन-बल, जन-बल, शस्त्र-बल और शास्त्र बल सभी था। पर अब पछतावे क्या होत है जब चिड़ियां चुग गयीं खेत। काश! उस समय महात्मा मुंशीराम की बात मान ली गई होती।

स्वामी श्रद्धानन्द

(डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शान्तिनिकेतन)

हमारे देश में जो सत्य-व्रत के ग्रहण करने के अधिकारी हैं, एवं इस व्रत के लिये प्राण देकर जो पालन करने की शक्ति रखते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण हमारे देश की इतनी दुर्गति है। ऐसी अवस्था जहां पर है, वहां पर स्वामी श्रद्धानन्द से इतने बड़े वीर की इस प्रकार मृत्यु से कितनी हानि हुई होगी इसके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इसके मध्य एक बात अवश्य है कि उनकी मृत्यु कितनी ही शोचनीय हुई हो, किन्तु इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं उनके चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है। बार-बार इतिहास में देखा जाता है कि जिन्होंने अपना सब कुछ देकर कल्याण-व्रत को ग्रहण किया है, अपमान और अपमृत्यु ने उनके ललाट पर जय-तिलक की तरह अपना स्थान जमाया है। महापुरुष आते हैं प्राण की मृत्यु के ऊपर जय करने के लिये, सत्य को जीवन की सामग्री बनाने के लिये। हमारे खाद्य द्रव्य में प्राण देने का जो उपकरण है, वह वायु में भी है, एवं वैज्ञानिक परीक्षागार में भी है। परन्तु जब तक वह उद्‌भिज प्राणी में जीव आकार नहीं धारण करता तब तक प्राण की पुष्टि नहीं होती। सत्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। केवल वाक्यों के द्वारा आकर्षण कर उसे जीवन-गत करने की शक्ति कितनों में है? सत्य को जानते बहुत हैं, किन्तु उसको मानता वही है जो विशेष शक्तिमान् है। प्राणों की आहुति के द्वारा मान कर ही हम उस सत्य को सब मनुष्यों के लिये उपयोगी बना देते हैं। यह मानकर चलने की शक्ति ही एक सुन्दर वस्तु है। इस शक्ति की सम्पद् को जो समाज को अर्पित करते हैं उन्हीं के दान का महामूल्य है। सत्य के प्रति उसी निष्ठा का आदर्श श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये हैं। अपनी साधना-परिचय के उपयोगी जिस नाम को उन्होंने ग्रहण किया था वही सार्थक हुआ। सत्य की उन्होंने श्रद्धा की थी। इसी श्रद्धा के मध्य सृष्टि-शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा वे अपनी साधना को मूर्ति के रूप में सजीव कर गये हैं। इसी से उनकी मृत्यु भी प्रकाशमय हो उनकी श्रद्धा को उस भयहीन दोषहीन तथा क्रांतिहीन अमृतमय छवि को उज्वल कर प्रकाशित कराती है। सत्य के प्रति श्रद्धा के इस श्रद्धानन्द को उन के चरित्र के मध्य आज हम सार्थक आकार में देख रहे हैं। यह सार्थकता बाह्य फलस्वरूप नहीं है, अपितु निज की ही अकृत्रिम वास्तविकता में है।

विधाता जब दुःख को हमारे पास भेजता है तब वह अपने साथ एक प्रश्न लेकर आता है। वह हम से पूछता है कि तुम हम को किस भाव से ग्रहण करोगे? विपद् आवेगी

नहीं ऐसा नहीं हो सकता-संकट का समय उपस्थित होता है, उद्धार का कोई भी उपाय नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार विपद् का हम व्यवहार करते हैं इसी के ऊपर प्रश्न का सदुत्तर निर्भर है। किसी पाप के उपस्थित होने पर हम उससे डरें वा उसके सन्मुख अपना सिर झुकावें? अथवा उस पाप के विरुद्ध पाप ही को सन्मुखीन करें, मृत्यु के आघात दुःख के आघात के ऊपर रिपु की उन्मत्तता को जागृत करें? शिशु के आचरण में देखा जाता है कि जब वह गिरता है तब वह उल्टे जमीन ही को मारता है। वह जितना ही मारता है, फलस्वरूप उसको उलटा ही लगाती है। परन्तु यदि किसी वयस्क को ठोकर लगती है तो वह सोचता है कि वह किसी प्रकार दूर की जावे। परन्तु हम देखते हैं कि किसी समय बाहर के आकस्मिक आघात की चमक में मनुष्य भी शिशु की बुद्धि वाला हो जाता है। वह उस समय सोचता है कि धैर्य का अवलम्बन करना ही कापुरुषता है, क्रोध का प्रकाश करना ही पौरुष है। हम यह स्वीकार करते हैं कि आज दिन स्वभावतः ही क्रोध आवेगा, मानव धर्म तो बिल्कुल छोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु यदि क्रोध से अभिभूत हों तो वह भी मानव-धर्म नहीं है। आग के लग जाने पर यदि सब कुछ भस्म हो जावें तो आग की रुद्रता लेकर आलोचना करना वृथा है। विपद सभी पर आती है, जिनके पास उसके प्रतिकार के उपाय नहीं है वे भी दोषी हैं।

भारत वर्ष के अधिवासियों के मुख्यतया दो भाग हैं- हिन्दू और मुसलमान। यदि हम यह समझें कि मुसलमानों को एक ताक में रख देश की सभी मंगल चेष्टाओं में सफल होंगे तो यह भी एक बहुत भारी भूल है। हमारे लिये सब से ज्यादा अमंगल और दुर्गति का विषय यह है कि मनुष्य मनुष्य के पास रहता है किन्तु उनके मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राज्य में राजपुरुषों के साथ हमारा एक बाह्य योग-दल है, किन्तु आन्तरिक सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राजत्व में यही हमारे लिये सब से अधिक पीड़ाजनक है।

इसी से आज हमें देखना होगा कि हमारे हिन्दू समाज में कहां कौन सा छिद्र है, कौन सा पाप है, अति निर्भय भाव से उस पर हमें आक्रमण करना होगा। इसी उद्देश्य को लेकर आज हिन्दू समाज को आवाहन करना होगा, कहना होगा हम पीड़ित हुए हैं हम लज्जित हुए हैं, बाहर के आघात से नहीं किन्तु अपने भीतर के पापों के फलस्वरूप। आओ, आज हम सब मिलकर उस पाप को दूर करें। परन्तु हमारे लिये यह बहुत सहज बात नहीं है क्योंकि हमारे भीतर बहुत प्राचीन अभ्यस्त भेद-बुद्धि भरी हुई है। बाहर बहुत पुरानी भेद की प्राचीर है। मुसलमानों ने जिस समय किसी उद्देश्य को लेकर मुसलमान समाज को आवाहन किया है, उन्हें कोई भी बाधा नहीं पड़ी। एक ईश्वर के नाम पर 'अल्लाह हो अकबर' कह कर उन्हें बुलाया है। फिर आज हम सब बुलावेंगे

हिन्दू आओ, तब कौन आवेंगे? हमारे मध्य कितने छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं, कितनी प्रादेशिकता है, उनको पार कर कौन आवेगा? कितनी आफ़तें पड़ीं परन्तु कभी भी तो हम एकत्रित नहीं हुए। बाहर से जब पहला वार मुहम्मद गौरी का हुआ था, तब भी तो उस आसन्न विपद् के दिन हिन्दू एकत्र नहीं हुए थे। इसके बाद मन्दिर के बाद मन्दिर लुटने लगे, देव मूर्तियें झूठी होने लगीं, तब वे अच्छी तरह लड़े हैं, मारे गये हैं, खण्ड-खण्ड होकर युद्ध करके मरे हैं, किन्तु एकत्र नहीं हुए। अलग-अलग थे, इसीलिये मारे गये। युग-युग में हमारे इसके प्रमाण हैं। हां, सिक्खों ने अवश्य एक समय इस बाधा को दूर किया था। परन्तु सिक्खों ने जिसके द्वारा इस बाधा को दूर किया वह सिक्ख धर्म था। पंजाब में सिक्ख धर्म के आवाहन करने पर जाट-प्रकृति सभी जातियां एक झण्डे के नीचे एकत्रित हो सकीं थी। एवं, वे ही धर्म की रक्षा करने के लिये खड़ी हो सकी थीं। शिवाजी ने भी एक समय धर्मराज्य की स्थापना की नींव डाली थी। उनकी जो असाधारण शक्ति थी उसी के द्वारा वे समस्त मराठों को एकत्र कर सके थे। इसी सम्मिलित शक्ति ने भारत वर्ष को अपनाकर छोड़ा था। घोड़े के साथ जब घुड़सवार का सामञ्जस्य रहता है तभी वह घोड़ा किसी भी तरह नहीं रुकता। शिवाजी का ऐसा ही सामञ्जस्य था। बाद में ऐसा सम्बन्ध नहीं रहा। पेशवाओं के मन में आचरण में भेद-बुद्धि का उदय हुआ, और इसी के फलस्वरूप उनका पतन भी हुआ। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यह जो हमने भेद-बुद्धि के पाप को पाल रखा है, यह अत्यन्त भयंकर है। पाप का प्रधान आश्रय दुर्बल के मध्य है। अत एव यदि मुसलमान हमें मारते हैं और हम यदि उसे पड़े-पड़े सह रहे हैं, तो यह केवल सम्भव हुआ है हमारी दुर्बलता के कारण। हमारे लिये, एवं प्रतिवेशियों के लिये भी हमें अपनी दुर्बलता को दूर करना होगा। हम प्रतिवेशियों के निकट अपील करते हैं कि तुम इतने क्रूर मत बनो, अपनी उन्नति करो। नरहत्या के ऊपर किसी भी धर्म की भित्ति स्थापित नहीं की जा सकती। परन्तु यह अपील इसी दुर्बलता का रोना है। जिस प्रकार वायुमण्डल के धिर आने पर झड़ी आप ही आरम्भ हो जाती है, धर्म की दुहाई दे उसे कोई बाधा नहीं दे सकता, उसी प्रकार दुर्बलता के पाल रखने पर अत्याचार भी होने लगते हैं, उनमें कोई बाधा नहीं पहुंचा सकता। कुछ समय के लिये एक उपलक्ष्य को लेकर परस्पर में कृत्रिम बन्धुता हो सकती है, किन्तु चिरकाल के लिये नहीं हो सकती।

आज हमारे अनुताप का दिन है, आज अपराध का प्रायश्चित करना होगा। सत्यमय प्रायश्चित्त यदि हम करेंगे तभी शत्रु हमारा मित्र हो सकेगा, रुद्र हमारे प्रति प्रसन्न होंगे।

(अलंकार, वर्ष ३, अंक ६-१० से उद्धृत)

बलिदान दिवस पर-

"स्वामी श्रद्धानन्द"

प्रणेता-
सुशील कुमार त्यागी "अमित"
विद्याभास्कर, शास्त्री, एम.ए. (हिन्दी)
अध्यापक–गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, हरिद्वार

कूट-कूट कर भरी हुई थी,
त्याग, तपस्या की शुचि खान।
प्राण देश-हित किये न्यौछावर,
आर्यजनों की बन पहचान।।

जग में शुद्धि-चक्र चलाया,
देश-विदेश-उपदेश दिया।
कीर्ति-किरण फैलायी जग में,
गुरुकुल का विस्तार किया।।

अभय दयानन्द के अनुयायी,
क्रान्तिकारि, बलिदानी वीर।
स्वामी श्रद्धानन्द बिना है,
आर्य जगत् के उर में पीर।।

धृतिवर श्रद्धानंद स्वामी ने,
सीने पै गोली खायी।
देकर निज बलिदान, सुयश की-
धवल पताका फहरायी।।

बहुत याद आते आर्यों को,
स्वामी श्रद्धानन्द महाराज।
देता हूँ "बलिदान-दिवस" पर
'अमित' स्वीय श्रद्धाँजलि आज।।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और स्वामी श्रद्धानन्द

डॉ. वीनेश
एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच.डी., गुरुकुल कांगड़ी

उन्नीसवीं सदी के देशभक्त मनीषियों ने इस तथ्य को भली-भांति समझ लिया था कि देश की स्वतंत्रता एवं एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा का होना अत्यावश्यक है और वह हिन्दी ही हो सकती है अन्य कोई नहीं। इस सत्य को उन महानुभावों ने हृदय से स्वीकार किया जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, इन महामानवों में महर्षि दयानन्द का नाम सर्वोपरि है, जिनकी मातृभाषा गुजराती थी और प्रिय भाषा संस्कृत थी। स्वामी श्रद्धानन्द की मातृभाषा भी हिन्दी नहीं थी। पर उनके नेतृत्व में और उनकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए गुरुकुल कांगड़ी ने जो कुछ किया वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

स्वामी जी की प्रेरणा से ही आर्यसमाज ने सर्वप्रथम शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होने की आवाज उठाई थी। इस दिशा में गुरुकुल कांगड़ी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किए गए। यहां के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया। महात्मा मुंशीराम जी के आग्रह पर श्री महेश चरण सिन्हा और श्री गोवर्धन शास्त्री ने आज से ६० वर्ष पूर्व रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, विद्युत् शास्त्र, भौतिकी और रसायन जैसे विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार की थीं। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य की समृद्धि करने वाले विद्वानों में गुरुकुल के उपाध्यायों एवं स्नातकों का नाम प्रथम पंक्ति में रहा है। स्वामी जी ने यह प्रमाणित करके कि किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा हिन्दी के माध्यम से दी जा सकती है, सबको विस्मित कर दिया था। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने गुरुकुल की प्रशंसा करते हुए कहा था- "मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

गुरुकुल द्वारा हिन्दी की प्रतिष्ठा देखकर महात्मा गांधी ने महामना मदनमोहन मालवीय से कहा था "गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी में गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं।"

हिन्दी साहित्य की आत्मकथा, जीवनी, यात्रावृत्तान्त आदि की विविध विधाओं के साथ-साथ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने वन विहार की रोमांचक कथाएं हिन्दी में

लिखी हैं। हिन्दी पत्रकारिता और अनुसन्धान के क्षेत्र में गुरुकुल का प्रशंसनीय योगदान रहा है।

भारत वर्ष के विशुद्ध इतिहास के साथ वैदिक देवताओं और ऋषियों पर शोध परक लेखन का उत्कृष्ट कार्य गुरुकुल ने किया है। अनुसन्धान की तरह गुरुकुल के स्नातकों ने पत्रकारिता के क्षेत्र में अभूतपूर्व जागरुकता और विवेक बुद्धि का परिचय दिया है। आर्यसमाज के स्थापना काल से स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का जो क्रम प्रारम्भ हुआ था, वह अन्ततः व्यापक राष्ट्रीय चेतना में परिवर्तित हो गया। इस सन्दर्भ में हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार क्षेमचन्द्र सुमन ने कहा था-"आर्यसमाज के माध्यम से हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है।"

यदि महात्मा मुन्शीराम गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना न करते तो हिन्दी पत्रकारिता का जो रूप आज देश में प्रतिष्ठित है, वह दिखाई न देता। महात्मा मुन्शीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' नाम का एक साप्ताहिक उर्दू में निकाला था। इसका पहला अंक १९ फरवरी १८८९ को प्रकाशित हुआ था। अनेक वर्षों तक यह उर्दू में ही निकलता रहा पर एक दिन अचानक किसी ने उन पर व्यंग्य करते हुए कहा "स्वामी दयानन्द के शिष्य बनते हो और पत्रिका उर्दू में निकालते हो।"

इस व्यंग्य से महात्मा मुन्शीराम के अन्तर में हलचल हो गई और १ मार्च १९०७ से उन्होंने सद्धर्म प्रचारक की भाषा हिन्दी कर दी। पत्रिका पहले ही घाटे में चल रही थी। मित्रों ने बहुत समझाया कि हिन्दी की पत्रिका को कौन पढ़ेगा? पंजाब में तो हिन्दी केवल महिलाएं ही पढ़ती हैं। तब गर्जना करते हुए महात्माजी ने कहा था- 'देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है।' स्वामी दयानन्द जब गुजराती होते हुए हिन्दी में ग्रन्थ रचना कर सकते हैं तो उनके अनुयायी हम थोड़ा सा भी त्याग नहीं कर सकते। हमारे लिए तो हिन्दी का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य है। और सचमुच इस निश्चय का सुखद परिणाम हुआ। केवल उस पत्र को पढ़ने के लिए बहुत से लोगों ने हिन्दी सीखी।

महात्मा जी स्वयं ही आदर्श स्थापित करके नहीं रह गये अपितु अपने दोनों पुत्रों को इस मार्ग का पथिक बनाया। उन्होंने सन् १९१८ में 'श्रद्धा' नाम से एक और साप्ताहिक निकाला था। कुछ दिन तक सद्धर्म प्रचारक दैनिक के रूप में भी निकलता रहा। उन्हीं की प्रेरणा से प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने न केवल दैनिक 'विजय' प्रकाशित

किया अपितु अर्जुन, नवराष्ट्र और जनसत्ता जैसे सशक्त साप्ताहिक और दैनिक पत्र प्रकाशित कर हिन्दी पत्रकारिता की जो सुदृढ़ आधारशिला रखी आज उसी पर हिन्दी पत्रकारिता का भव्य प्रसाद खड़ा है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति महात्मा मुन्शीराम की ऐसी भक्ति को देखकर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें भागलपुर के चौथे वार्षिक अधिवेशन का सन् १६१३ में अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में आपने हृदयस्पर्शी भाषा में कहा था-"पर भाषा में विचार उठने से जहां सभ्यता विदेशी होगी वहां राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। भाषा ही तो जातियों के जीवन का साधन होती है। बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।"

उन्होंने उर्दू भाषी होते हुए भी अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' हिन्दी में लिखी। अपनी इस अमर आत्मकथा में उन्होंने अपनी जीवन गाथा का और उसमें आने वाले उतार चढ़ावों का जैसा स्पष्ट और सत्य चित्रण किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन में स्वामी श्रद्धानन्द का, उनके यशस्वी पुत्र प्रो० इन्द्रजी का एवं गुरुकुल के स्नातकों एवं उपाध्यायों का नाम हिन्दी भाषा के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

"इस कलियुग में मोक्ष की इच्छा नहीं रखता। मैं तो केवल इतना चाहता हूं कि चोला बदलकर दूसरा शरीर धारण करुं। इच्छा है कि फिर भारतवर्ष में उत्पन्न होकर देश की सेवा करुं"।

-स्वामी श्रद्धानन्द

(जन-ज्ञान, दिसम्बर 1995, पृ0 31)